

सत्यांजलि

सद्गुरु के कर कमलों में समर्पित

विनीत

राजन स्वामी

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

सरसावा

जनपद-सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)

वेबसाइट: WWW.SPJIN.ORG

यू-ट्यूब चैनल: [SPJIN](https://www.youtube.com/SPJIN)

श्री प्राणनाथाय नमः

बन्दौ सतगुरु चरण को, करूं सप्रेम प्रणाम ।
अशुभ हरण मंगल करण, धनी श्री देवचन्द्र जी नाम ॥
श्री प्राणनाथ निज मूलपति, श्री मेहेराज सुनाम ।
तेजकुंवरि श्यामा युगल, पल पल करूं प्रणाम ॥

संशोधित (प्रथम संस्करण)

बुद्ध जी शाका - 243

विक्रम संवत् - 2078

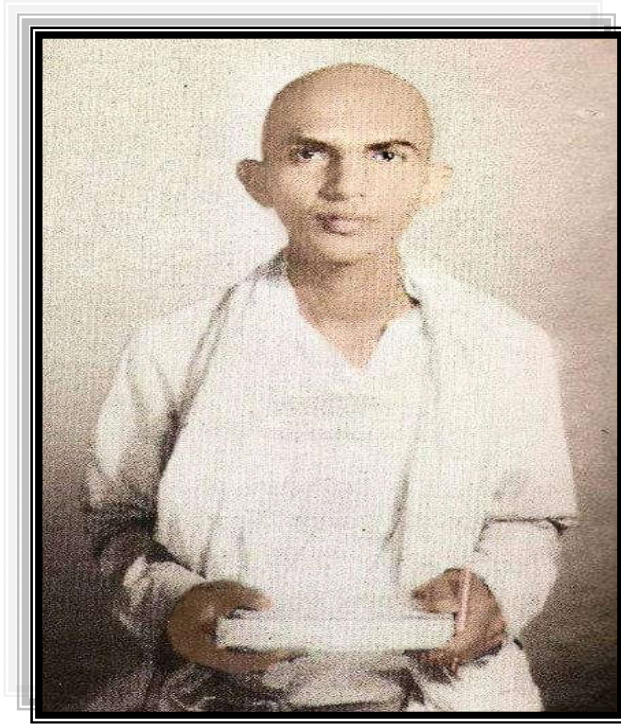
ईस्वी सन् - 2021

प्रथम आवृत्ति – 1000 प्रतियां

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक : ज्ञानपीठ मुद्रणालय,
श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ,
नकुड़ रोड़, सरसावा,
जिला-सहारनपुर, (उ.प्र.) - 247232
संपर्क सूत्र-7088120381

ISBN : 978-93-85094-38-5



अनादि अक्षरातीत, सच्चिदानन्द स्वरूप पूर्णब्रह्म की यथार्थ पहचान कराने वाली श्री प्राणनाथ जी की तारतम वाणी के शाश्वत सत्य मूल सिद्धान्तों को वेद तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा इस ग्रन्थ में दर्शाने का प्रयास किया गया है। यह ग्रन्थ परमहंस महाराज श्री रामरतन दास जी की कृपा की छाँव तले सरकार श्री जगदीश चन्द्र जी की अपार प्रेरणा से लिखा गया है। मैं तो मात्र एक माध्यम हूँ। उनका ग्रन्थ उन्हीं के कर कमलों में सप्रेम समर्पित है—

आपका
राजन स्वामी
श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ
नकुड़ रोड़, सरसावा
जनपद-सहारनपुर (उ० प्र०)

भूमिका

सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा की कृपा के फलस्वरूप यह ग्रन्थ विद्वज्जनों एवं मनीषियों के अवलोकन तथा विचार के लिए प्रस्तुत है।

ग्रन्थ का अध्ययन तमाम भ्रान्तियों, अज्ञान के अंधकार तथा संदेहों को समाप्त कर प्रकाश रूपी तत्त्वज्ञान देने में सक्षम होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। 'सत्य' को उजागर करने की इस ग्रन्थ में अलौकिक शक्ति है।

स्वाध्याय करने वाले पाठक निश्चय ही पूर्णब्रह्म के कृपा पात्र होंगे।

श्री जगदीश चन्द्र आहूजा जी
श्री निजानन्द आश्रम,
रतनपुरी,
जिला-मुजफ्फरनगर

दो शब्द

सद्गुरु की अनन्त एवं असीम अनुकम्पा से राजन स्वामी जी द्वारा लिखित पाण्डुलिपि के परिमार्जन की जो अपेक्षा की गयी थी, वह मेरी अल्पज्ञता के नाते संभव न हो पायी। इस ग्रन्थ का टंकण कार्य श्री दीपक पंवार जी ने किया है। मेरा अडिग विश्वास है कि वह श्री राज जी (परमात्मा) के कृपा पात्र होंगे। मनीषीजनों से प्रार्थना है कि वे त्रुटियों को सुधार कर इस प्रयत्न को अंगीकार करने का अनुग्रह करें।

एस. पी. आर्य
पूर्व आई. ए. एस.
पूर्व सचिव भारत सरकार
लखनऊ

विषयानुक्रमणिका

प्रथम समुल्लास-प्रकृति और सर्ग

सृष्टि से पूर्व की स्थिति	1
महत्तत्त्व को समुद्री जल के दृष्टांत के रूप में वर्णन	2
महत्तत्त्व का स्वरूप	4
ब्रह्म तथा प्रकृति का स्वरूप	8-9
प्रकृति की उत्पत्ति	12
प्रकृति मूल से अनादि नहीं	13
मूल तत्त्व-विचारधारा	21
मूल तत्त्व-श्री मुखवाणी	22
शास्त्र ६ ही क्यों ?	28
स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति	30

द्वितीय समुल्लास-जीव तथा प्रकृति की अनादिता

मन, बुद्धि, जीव, महत्तत्त्व और कारण प्रकृति से भी सूक्ष्म ब्रह्म	37
माया के अंधकार से पृथक् परब्रह्म	38
“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय” का आशय	38
ब्रह्म के मन का प्रतिबिम्बित होकर आदि नारायण के रूप में स्वयं को देखना	38
सृष्टि के वास्तविक रहस्य केवल परब्रह्म ही जानते हैं, मानवीय बुद्धि नहीं	40
ब्रह्मलोकेषु शब्द का अर्थ	43
कैवल्य का तात्पर्य	43
क्या प्रकृति अनादि नहीं है	44
ब्रह्म की दो प्रकृतियों का वर्णन	44
प्रतिबिम्ब का तात्पर्य	49-50
सृष्टि का मूल कहां है	50
तीन पुरुष और उनकी लीला	50
मुक्ति का स्वरूप	54

तृतीय समुल्लास-अक्षर ब्रह्म

महाप्रलय के पश्चात भी अविनाशीस्वरूप वाला ब्रह्म	58
मृत्यु से तारने वाला	59
प्रकृति से परे त्रिपाद अमृत	64-65
ब्रह्म के समान कोई नहीं	68

चतुर्थ समुल्लास-ब्रह्म का धाम

आनन्दमय धाम में ही ब्रह्म का स्वरूप	70
ब्रह्म जड़ जगत में क्यों नहीं ?	70
अक्षर ब्रह्म के चारों पादों का वर्णन	72-73
ब्रह्मपुरी का वर्णन	73-77
नश्वर शरीर के अंदर अष्टाचक्रा और नवद्वारा से मुक्त ब्रह्मपुरी है?	78
शरीर के अन्दर ब्रह्म का स्वरूप नहीं	78
प्राकृतिक जगत से सर्वथा परे ब्रह्म का स्वरूप	86-87
चेतन धाम का वर्णन	98-99
परम पद में विराजमान ब्रह्म	104

पंचम समुल्लास-अक्षरातीत पूर्णब्रह्म

अक्षर तथा अक्षरातीत में भेद	109
दो सूत्रों का विवरण	111
पूर्णकाम, नित्य तरुण परब्रह्म	112

षष्ठम समुल्लास-ब्रह्म का स्वरूप

कान्तिमान तथा अति मनोहर ब्रह्म का स्वरूप	115
वेद में कहीं भी निराकार शब्द नहीं	115
साकार तथा निराकार से परे ब्रह्म का स्वरूप	117-118
ब्रह्म का नूरमयी युवा स्वरूप	118-119
अक्षर तथा अक्षरातीत का समान स्वरूप	120
परब्रह्म के युगल स्वरूप का वर्णन	121
आश्चर्यजनक दीप्तियों से युक्त ब्रह्म	127
ब्रह्म की आकृति न होने की शंका का समाधान	127
आदित्य वर्ण वाला ब्रह्म	128
नूरमयी, सत्य तथा अद्भुत ज्योति वाला ब्रह्म	129
युवानम् का वास्तविक अर्थ	130-131
ब्रह्म के स्वरूप से प्रकाशमयी ज्वालाओं का उठना	143
विद्युत की कान्ति के दृष्टांत से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन	154

सप्तम समुल्लास-आत्म-तत्त्व

जीव को आत्मा कहना	160
जीव के लक्षण	161
अक्षर ब्रह्म को आत्मा कहना	162
पूर्णब्रह्म का 'आत्मा' शब्द से वर्णन	162

जीव तथा आत्मा में भेद	162-163
वस्तुतः आत्मा कौन ?	163
त्रिगुणातीत प्रजाओं का विवरण	163
उपासक के विभिन्न भावों के रूपों में अक्षर ब्रह्म	165
आत्माओं तथा परब्रह्म में प्रिया-प्रियतम भाव	165

अष्टम समुल्लास-वेदान्त समीक्षा

युक्ति से जीव ब्रह्म अलग-अलग हैं	171
वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धान्त के अनुसार भी जीव-ब्रह्म अलग-अलग	173-174
ब्रह्म का धाम	177
अविनाशी प्रकाशमय ब्रह्म-धाम का वर्णन	179
चन्दन में निहित अग्नि का दृष्टांत अनुचित	179
दिव्य ब्रह्मपुर में विराजमान ब्रह्म	182
ब्रह्म-धाम में सर्वत्र ब्रह्म का ही नूरमयी स्वरूप	183
ब्रह्म को रुक्म वर्ण कहा जाना	185
निराकार के समर्थन में नमकीन जल का दृष्टांत अनुचित	187

नवम समुल्लास-योग समीक्षा

योग-दर्शन का संक्षिप्त विवरण	190
योग-दर्शन के अनुसार अन्तिम उपलब्धि	192
योग की अन्तिम मंजिल-योगमाया तक	193-194
परम गुहा कहां है ?	196
शरीर के अन्दर ब्रह्मपुरी नहीं	197
महाशून्य को पार करने की यौगिक विधि विहंगम योग	199
योग-विद्या की ओट में फैली भ्रान्तियां	203-204

दशम समुल्लास-बहुवेदवाद की उपासना का निषेध

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि एक ही ब्रह्म के विभिन्न नाम हैं	205
अर्यमा, बृहस्पति आदि भी ब्रह्म के ही नाम हैं	206
वेद में सर्वत्र विभिन्न नामों में से एक ही ब्रह्म उपास्य है	207
ऋग्वेद के सभी मण्डलों में एक ब्रह्म ही उपास्य	208
वेद में पुराण प्रसिद्ध शिव तथा गणेश की वन्दना नहीं अपितु	
एक ब्रह्म की स्तुति है	211
गायत्री देवी	212

एकादश समुल्लास-वैदिक प्रश्नमाला

वेदों के कठिन पच्चीस प्रश्नों का उत्तर (वैदिक प्रश्नोत्तरी)	214
---	-----

प्रथम समुल्लास

प्रकृति और सर्ग

अब सुनियो मूल वचन प्रकार, जब नहीं उपज्यो मोह अहंकार ।

नाहीं निराकार नाहीं सुन्य, ना निरगुन ना निरंजन ॥

ना ईश्वर ना मूल प्रकृति, ता दिन की कहूं आपा बीती ।

निज लीला ब्रह्म बाल चरित्र, जाकी इच्छा मूल प्रकृत ॥

प्रकाश हिन्दुस्तानी प्र. ३७ चौ. १४-१५

सृष्टि के पूर्व न तो मूल प्रकृति थी और न प्रकृति, न महत्त्व था, और न अहंकार । उस समय 'नारायण' (विराट् पुरुष) भी नहीं थे । असंख्य ब्रह्माण्डों को अपने संकल्प मात्र से उत्पन्न करने वाले ब्रह्म के अन्दर अभी सृष्टि उत्पत्ति की कामना नहीं हुई थी ।

ऋग्वेद में इसका वर्णन इस प्रकार है :—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्लम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

ऋ. मण्डल १०/सूक्त १२९/मंत्र १

पदार्थ—(तदानीम्) उस समय सृष्टि रचना से पूर्व (न असत् आसीत्) न अव्यक्त प्रकृति थी (नो सद् आसीत्) न व्यक्त जगत था^१ । (न रजः आसीत्) उस समय नाना लोक भी नहीं थे । (नो व्योम) न आकाश था । (यत् परः) जो उससे भी सूक्ष्म है, वह भी न था । उस समय (किम् आ अवरीवः) क्या पदार्थ सबको चारों ओर से घेर सकता था ? (कुह) यह सब फिर कहां था और (कस्य शर्मन्) किसके आश्रय में था ? तो फिर (गहनं गभीरं लम्भः आसीत्) गहन और गम्भीर समुद्री जल ही (किम्) क्या था ? अर्थात् नहीं था ।

भावार्थ—जब सृष्टि की उपादान कारण नहीं था तो उसे सत् (व्यक्त) नहीं कहा जा सकता । असत् (अव्यक्त) इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अभी मूल प्रकृति से प्रकृति की उत्पत्ति नहीं हुई थी । आकाश वह है जिसमें गमन-आवागमन हो । किन्तु सृष्टि से पूर्व आकाश भी नहीं था, फिर उसमें गति करने वाले आकाश से स्थूल स्वरूप वाले पदार्थ का अस्तित्व असम्भव था । इस मन्त्र में मोहतत्व को ही गहन समुद्री जल कहा गया है ।

^१ लोका रंजास्युच्यन्ते ॥ (निरु. ९/१९)

सतः संसृतः सर्वत्र, सृतः सृधातोः 'अतच्' प्रत्ययः ॥ (उणादि ३/११०)

प्रश्न—सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महन् महतोऽहङ्कारः ।

सांख्य सूत्र अ. १/सू. ६१

अर्थात् सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं । प्रकृति से ही महत्त्व की उत्पत्ति होती है । पूर्वोक्त मन्त्र में वर्णित मोहतत्व को समुद्री जल मानना अनुचित है ।

उत्तर—मूल प्रकृति मोह अहं थे, उपजे तीनों गुण ।

किरंतन २१/२

प्रकृतेः मूलं इति मूल प्रकृतिः । अर्थात् प्रकृति का जो मूल है वह मूल प्रकृति है । सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था वाली जड़ प्रकृति का मूल अक्षर ब्रह्म का चौथा पाद अव्याकृत है जो कि स्वयं चेतन है । देखिए—

त्रिभिः पद्धिर्द्यमिरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः ।

अथर्ववेद काण्ड १९/सूक्त ६/मंत्र २

अर्थात् ब्रह्म के तीन पाद प्रकाशमय अखंड हैं और चौथे पाद के संकल्प से उत्पन्न प्रकृति ही बार-बार सृष्टि के रूप में प्रकट होती है । चौथे पाद अव्याकृत से सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था वाली कारण रूप जड़ प्रकृति उत्पन्न होती है, उससे महत्त्व, उससे अहंकार और उससे पांच सूक्ष्मभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार सामान्य जल शीतल होता है किन्तु उसमें कारण रूप से अग्नि विद्यमान होती है, क्योंकि जल तत्व का कारण अग्नि तत्व है । भाप में जल का अग्नि तत्व व्यक्त हो जाता है । उसी प्रकार कारण प्रकृति में सृष्टि रचना से पूर्व सत्त्व, रज और तम अव्यक्त थे । मोहतत्व तथा अहंकार की उत्पत्ति के बाद अन्य सूक्ष्म भूतों और स्थूल भूतों के रूप में वे व्यक्त हो गये । अतः यदि मोहतत्व को समुद्री जल कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं, अपितु सार्थक ही है ।

प्रश्न—श्वेताश्वतरोपनिषद् (अ. ४ । मं. ५) के इस कथन “अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ।” से यह सिद्ध है कि प्रकृति अजन्मा अर्थात् अनादि है, पुनः प्रकृति की उत्पत्ति कहना अनुचित है ।

उत्तर—अक्षर ब्रह्म का चौथा पाद अव्याकृत स्वरूप से अखंड और अनादि है । किन्तु यह दृश्यमान जगत् प्रकृति का ही विकार है । प्रकृति से सृष्टि रचना एवं प्रलय का क्रम अनादि काल से चल रहा है एवं अनादि काल तक चलता रहेगा । इस प्रकार स्थूल दृष्टि से प्रकृति अनादि सिद्ध हो जाती है किन्तु इसका मूल कारण अक्षर ब्रह्म का चौथा पाद अव्याकृत है । इसकी विस्तृत व्याख्या आगे दी गयी है ।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्भान्यन्न परः किं चनास ॥

ऋ. मं. १०/सू. १२९/मं. २

पदार्थ—(तर्हि) उस समय (न मृत्युः आसीत्) मृत्यु नहीं थी, (न अमृतम्) अमृत नहीं था । (रात्र्याः अह्नः) रात्रि का, दिन का (प्रकेतः न आसीत्) चिह्न नहीं था । (आनीद् अवातम्) स्थूल वायु से रहित प्राणशक्ति रूप (स्वधया) अपनी शक्ति से तथा अपने से धारण की गई प्रकृति के साथ (तत् एकम्) वह एक था । (तस्मात् अन्यत्) उसके अतिरिक्त दूसरा पदार्थ (किंचन परः न आस) कोई उत्कृष्ट नहीं था ।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व प्रलय की अवस्था में अमृत और मृत्यु दोनों नहीं थे अर्थात् जीव की सत्ता और जीवन का लोप दोनों नहीं थे । प्रलय काल में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि के न होने से दिन और रात्रि भी नहीं थे । “स्वधा” शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में प्रकृति के लिए किया गया है । अर्थात् सृष्टि से पूर्व प्रकृति के साथ केवल एक निर्दोष चेतन तत्व अवस्थित था, जो सबसे उत्कृष्ट है, सबसे महान है । उससे उत्कृष्ट अथवा महान और कोई तत्व नहीं ।

प्रश्न—सृष्टि से पूर्व मूल उपादान कारण प्रकृति का स्वरूप क्या था ?

उत्तर—कारण प्रकृति का स्वरूप अव्यक्त होता है । जब ब्रह्म की प्रेरणा से वह साम्यावस्था से विषमावस्था में आती है, तभी वह अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में होती है ।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

ऋ. मं. १०/सू. १२९/मं. ३

पदार्थ—(अग्रे) सृष्टि के व्यक्त रूप में आने से पहले (तमसा गूढम्) अन्धकार से आवृत्त (तमः आसीत्) तमस् था । (अप्रकेतम्) लक्षण में न आने योग्य (सर्वम् आ इदम्) इस समस्त को व्यापे हुए (सलिलम्) सूक्ष्म पदार्थ था । उस समय (यत्) जो भी था वह (तुच्छेन) सूक्ष्म रूप से ((आभु^१-अपिहितम्) चारों ओर से ढका हुआ था । (तत्) वह (तपसः महिना) तप ज्ञान के महत्व से (एकम्) एक प्रकट हुआ ।

भावार्थ—मन्त्र में प्रयुक्त ‘तमस्’ पद जगत के मूल उपादान कारण के लिए प्रयुक्त हुआ है । गुणत्रय की साम्यावस्था को ‘तमस्’ पद से कहा जाता है । यह बात सांख्य ग्रन्थों से प्रकट होती है । ‘तमस्’ को ही ‘स्वधा’ भी कहा जाता

^१ आ समन्तात् भवति उत्पद्यत इति आभु ।

है। मन्त्र में जो सलिल शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ मोहतत्व होगा। कारण प्रकृति का स्वरूप अव्यक्त होता है, 'सलिल' जो एक सूक्ष्मतम तत्व है उसे ही मोहतत्व का स्वरूप कहा जा सकता है, सृष्टि से पूर्व केवल अन्धकार ही अन्धकार था क्योंकि प्रकाश के स्रोत—सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि का उस समय अस्तित्व ही नहीं था। प्रलय अवस्था में मूल उपादान कारण के साथ एकीभूत हुआ वह कार्य (भावी जगत) तेजोमय ब्रह्म की महिमा, अर्थात् संकल्पमय प्रेरणा के द्वारा (उस मूल कारण से पुनः) उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि, प्रलय काल में जिस दृश्यमान कार्य जगत को मूल उपादान कारण प्रकृति ने छिपाया था, वह पुनः सर्ग काल में, तेजोमय परमात्मा की प्रेरणा के द्वारा, अपने कारण रूप से कार्य रूप में आ जाता है।

प्रश्न—महत्तत्व का स्वरूप क्या होता है ?

उत्तर—इहां आद अंत नहीं थावर जंगम, अजवास न कांई अंधार जी।

निराकार आकार नहीं, नर न केहेवाय कांई नार जी ॥

नाम न ठाम नहीं गुन निरगुन, पख नहीं परवान जी।

आवन गवन नहीं अंग इंद्री, लख न कांई निरमान जी ॥

इहां रूप न रंग नहीं तेज जोत, दिवस न कांई रात जी।

भोम न अगिन नहीं जल वाए, न सब्द सोहं आकास जी ॥

इहां रस न धात नहीं कोई तत्व, गिनान नहीं बल गंध जी।

फूल न फल नहीं मूल बिरिख, भंग न कांई अभंग जी ॥

किरंतन प्र. ६९ चौ. २-५

मोह अज्ञान भरमना, करम काल और सुन।

ये नाम सारे नींद के, निराकार निरगुन ॥

कलस हि. प्र. २४ चौ. १९

तारतम वाणी की उपरोक्त चौपाईयों में मोहतत्व (कारण प्रकृति) का स्वरूप दर्शाया गया है। महत्तत्व का स्वरूप उससे कुछ स्थूल होता है किन्तु उसे भी अव्यक्त ही कहा जाता है।

कारण प्रकृति (मोहतत्व) से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार और अहंकार से पांच सूक्ष्म भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की उत्पत्ति होती है। जब तक इन पांचों सूक्ष्म भूतों की रचना नहीं हो जाती, तब तक किसी भी पदार्थ के स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। सांकेतिक रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि महत्तत्व भी प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म गतिशील कणों से बना पदार्थ है तथा जिसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन मन, बुद्धि से नहीं किया जा सकता।

ऋग्वेद (मंडल १० सू. ६४ मं. ५) में कथित ऋचा के अंश 'राजाना मित्रा वरुणा विवाससि' से बहुत रोचक भाषा में प्रकृति के सूक्ष्मतम आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में धनात्मक तथा ऋणात्मक विद्युत कण कहा जाता है। वेद में इनको मित्र-वरुण, अग्नि, सोम अथवा 'अश्विनौ' भी कहा गया है। इन मूल कणों में ही परमात्मा की प्रेरणा से सर्गोन्मुखता की प्रवृत्ति होती है। इन्हीं सूक्ष्मतम कणों को 'रेणु' (वैदिक साहित्य में) पद से भी सम्बोधित किया गया है।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीप्या कवयो मनीषा ॥

ऋ. मं. १०/सू. १२९/मं. ४

पदार्थ—(अग्रे) सृष्टि के पूर्व (तत्) वह (मनसः अधि) ब्रह्म के मन से उत्पन्न होने वाली (कामः) कामना ही (सम् अवर्तत) विद्यमान थी, (यत् प्रथमम् रेतः आसीत्) जो सबसे प्रथम इस जगत का प्रारम्भिक बीजवत् थी। (कवयः) क्रान्तदर्शी पुरुष (हृदि प्रति इष्य) हृदय में विचारकर (असति) अप्रकट तत्व में ही (सतः बन्धुम्) प्रकट तत्व अर्थात् व्यक्त का सम्बन्ध (निर् अविन्दन्) जान जाते हैं।

भावार्थ—प्रलय की अवस्था में स्थित अव्यक्त जगत को व्यक्त रूप में लाने के लिए ब्रह्म का संकल्प प्रथम कारण है। अव्यक्त मूल उपादान अचेतन होने के कारण स्वतः सर्गोन्मुखता प्रकृति के लिए सर्वथा असमर्थ है। यद्यपि वह मूल उपादान परिणत होकर व्यक्त कार्य जगत के रूप में उपस्थित होता है, परन्तु वह परिणाम उस समय तक असंभव है, जब तक कि नियन्ता चेतन ब्रह्म उस प्रकृति के लिए उसे प्रेरित न करे। इस ऋचा में चेतन ब्रह्म के संकल्प अथवा प्रेरणा को जगत्सर्ग का प्रथम अर्थात् मुख्य कारण कहा गया है। उस अव्यक्त मूल उपादान कारण से किस प्रकार व्यक्त जगत बन जाता है, इस रहस्य को क्रान्तदर्शी विद्वान् जान पाते हैं।

प्रश्न—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ।

मुण्डकोपनिषद् २/१/२

उपनिषद् के इस कथन के अनुसार परब्रह्म मन और प्राण से रहित है। अतः अक्षर ब्रह्म मन से रहित होने के कारण संकल्प नहीं कर सकते।

उत्तर—संकल्प चेतन का स्वाभाविक गुण है। उपनिषद् के इस कथन का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म पूर्णतया चेतन स्वरूप है जबकि जीव जब तक शरीर में रहता है तभी तक शरीर में चेतनता रहती है तथा अन्तःकरण में कार्यशीलता जीव की चैतन्यता से ही सम्भव है। जीवों के शरीर में स्थित दशों प्राण भी प्राकृतिक ही हैं। इसके विपरीत ब्रह्म प्राकृतिक स्वरूप से पूर्णतया रहित अपने शुद्ध, चेतन, एकरस स्वरूप में स्थित है। उसमें संकल्प की क्रिया तो है किन्तु

अल्पज्ञ जीव की भांति भ्रान्तित्वयुक्त नहीं, अपितु सर्वज्ञ होने के कारण निर्भान्त है।

यस्मान्नऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

यजु. अ. ३४/मं. ३

इस मन्त्र में जीव के द्वारा यह प्रार्थना की गई है कि जिस मन के बिना कोई भी कर्म नहीं हो सकता वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो। यद्यपि जीव के संकल्प और ब्रह्म के संकल्प में भिन्नता है। वेदान्त दर्शन (अ. १ पा. १। सू. २) के अनुसार—

जन्माद्यस्य यतः। अर्थात् जिससे सृष्टि का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है वही ब्रह्म जानने योग्य है।

इस प्रकार उत्पत्ति, पालन और संहार का कर्म संकल्प के बिना असम्भव है। अतः यह सिद्ध है कि जीव के मन से भिन्न अपने शुद्ध, सत्य संकल्पवान्, सत्यकाम मन से युक्त ब्रह्म संकल्प करते हैं। यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कहीं भी पुराण-वर्णित नारायण को ब्रह्म नहीं माना गया है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।

रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥

ऋ. मंडल १०/सू. १२९/मं. ५

पदार्थ—(एषाम् रश्मिः) प्रकृति के मूल तत्वों की रश्मि (तिरः चित् विततः) बहुत दूर-दूर तक फैली, (अधः स्वित् आसीत्) नीचे भी और (उपरि स्वित् आसीत्) ऊपर भी। (रेतोधाः आसन्) 'रेतस्' को धारण करने वाले तत्व भी थे, (महिमानः आसन्) ब्रह्म की महिमायें थीं। (स्वधा अवस्तात्) प्रकृति अप्रकृष्ट और (परस्तात् प्रयतिः) नियन्ता ब्रह्म उत्कृष्ट है।

भावार्थ—सर्वोत्कृष्ट चेतन ब्रह्म की प्रेरणा से सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर अपनी स्थिति में आ जाते हैं। पहले मध्य लोक बने अथवा अधोलोक या ऊर्ध्व लोक। यह वर्णन करना असम्भव है। कारण प्रकृति में विक्षोभ से महत्त्व की रचना होती है, उससे अहंकार, उससे पांच सूक्ष्म भूत शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध। तत्पश्चात् पांच सूक्ष्मतम कणों के मेल से आकाश का एक अणु बनता है। आकाश की रचना के पश्चात् वायु तथा अग्नि तत्व की रचना होती है और असंख्य लोक लोकान्तरों का निर्माण हो जाता है। सृष्टि के लिए ब्रह्म के संकल्परूप कारण को 'रेतः' कहा जाता है। इस संकल्परूप प्रथम कारण का प्रभाव मूल तत्वों पर पड़ता है तभी उनकी सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होती है। इसीलिए

ऋचा में प्रकृति के उन मूल तत्वों को 'रेतोधा' पद से कहा गया है क्योंकि चेतन के संकल्प को वे धारण करते हैं, अर्थात् उस संकल्प से प्रभावित होते हैं।

ऋचा के अन्तिम चरणों में चेतन ब्रह्म और अचेतन प्रकृति की वास्तविक स्थिति का वर्णन किया गया है। प्रकृति अपकृष्ट है, नीची है तथा उसका नियन्ता चेतन ब्रह्म उत्कृष्ट है, ऊँचा है। चेतन ब्रह्म की प्रेरणा के बिना अचेतन प्रकृति कुछ नहीं कर सकती, इसीलिए चेतन ब्रह्म को उत्कृष्ट कहा गया है। यह ऊँच-नीच भाव चेतन-अचेतन अथवा नियन्ता और नियम्य भाव पर अवलम्बित है। यद्यपि प्रकृति, जगत का मूल उपादान कारण होने से इसका मुख्य साधन है, फिर भी चेतन की उत्कृष्टता के कारण ब्रह्म के संकल्प को जगत उत्पत्ति का मुख्य कारण कहा गया है।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।

अर्वादेवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥

ऋ. मं. १०/सू. १२९/मं. ६

पदार्थ—(अद्धा कः वेद) ठीक-ठीक कौन जान सकता है ? (इह कः प्रवोचत्) इस विषय में कौन उत्तम रीति से कथन कर सकता है (कुतः आ जाता) कि यह सृष्टि कहां से प्रकट हुई ? (इयं विसृष्टिः) यह विविध प्रकार का सर्ग (कुतः) किस मूल कारण से हुआ ? (देवाः) विद्वान लोग भी (अस्य विसर्जनेन) इस जगत को रचने वाले मूलकारण के (अर्वाक्) पश्चात् ही हुए हैं। (अथ कः वेद) तो फिर कौन उस तत्व को जानता है (यतः) जहां से यह (आबभूव) संसार प्रकट हुआ ?

भावार्थ—यद्यपि क्रान्तदर्शी ऋषि इस व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध को समझते हैं, परन्तु ऋषियों के भी अल्पज्ञ होने के कारण यह अधिक संभव है कि उनका ज्ञान भ्रम-प्रमाद आदि से अभिभूत हो। फिर उस अवस्था (प्रलय) में तो उनका इस प्रकार का अस्तित्व ही नहीं था, जिससे वे तत्कालीन स्थितियों को साक्षात् जान पाते। इस प्रकार यह विश्व पहेली का रहस्य, रहस्य ही बना रह जाता है, और इसकी आश्चर्यपूर्ण स्थितियों को सन्मुख पाकर सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या कोई इसके वास्तविक रूप को समझने वाला भी है ?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋ. मं. १०/सू. १२९/मं. ७

पदार्थ—(इयं विसृष्टिः) यह विविध प्रकार की सृष्टि (यतः आबभूव) जहां से प्रकट हुई है, (यदि वा दधे) जो इस जगत को धारण कर रहा है (यदि वा न) या यदि कोई इसे नहीं भी धारण कर रहा है (यः अस्याध्यक्षः), जो इसका अध्यक्ष

(परमे व्योमन्) परम् पद में विद्यमान है, (सः अङ्ग वेद) वह सब तत्व जानता है । (यदि वा न वेद) चाहे और कोई भले ही न जाने ।

भावार्थ—अविनाशी ब्रह्म इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड तथा उसकी उत्पत्ति आदि अवस्थाओं का नियन्ता है । अचेतन प्रकृति उस चेतन ब्रह्म के द्वारा नियमित होती है । अचेतन तत्व की दो मुख्य अवस्थाएं हैं—सर्ग और प्रलय । इन दोनों के आरम्भ को दृश्यमान व्यक्त जगत की उत्पत्ति या विनाश भी कहा जा सकता है । जो सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय आदि अवस्थाओं का नियन्ता है, वह अवश्य ही उन स्थितियों को जानता है । ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी में उन अवस्थाओं के जानने की संभावना नहीं हो सकती है ।

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः ।

वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥

अथर्ववेद का. ८/सू. ९/मं. १

प्रश्न—(तौ) वे दोनों जीव और ईश्वर (कुतः जातौ) कहां से प्रादुर्भूत हुए ? (सः) वह (कतमः) कौन सा सर्वश्रेष्ठ (अर्धः) परम् पद या स्वरूप है ? (कस्मात् लोकात्) किस लोक से, (कतमस्याः पृथिव्याः) कौन सी पृथ्वी से ये दोनों प्रकट हुए ?

उत्तर—(विराजः) विराट् अर्थात् नाना रूपों से प्रकट होने वाली प्रकृति रूप (सलिलात्) 'सलिल' से (वत्सौ) दोनों बच्चों के समान (उत एताम्) प्रकट हुए ।

प्रश्न—(तौ) उन दोनों के विषय में मैं (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) प्रश्न करता हूँ कि वह विराट् गौ (कतरेण) उन दोनों (दोनो बछड़ों) में से किसने (दुग्धा) दुही है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में आलंकारिक रूप में दो बच्चों के समान उत्पन्न होने वाले जीव और (गीतोक्त) प्रथम पुरुष (ईश्वर) का वर्णन किया गया है । यहां ईश्वर शब्द का प्रयोग अक्षर ब्रह्म के लिए नहीं अपितु इस क्षर सृष्टि का संचालन करने वाले ईश्वर (क्षर पुरुष शबल ब्रह्म) के लिए किया गया है । जीव और ईश्वर पुरुष की उत्पत्ति सलिल रूप मोहतत्व से कही गयी है, किन्तु इनका मूल कारण अक्षर ब्रह्म का मन स्वरूप अव्याकृत है । वहां से जो चेतन तत्व मोहतत्व रूपी सलिल अर्थात् जल के अन्दर प्रकट होता है, उसी से इस सृष्टि का संचालन होता है, वहीं जीव का मूल आश्रय स्थान है । ब्रह्म का स्वरूप पूर्णतया अखंड, एकरस और प्रकृति से परे है । कारण प्रकृति रूप के अन्दर से बच्चे समान उसका प्रकट होना असम्भव है । इस विराट् गौ रूप प्रकृति का दोहन करने वाला ईश्वर अथवा आदि नारायण प्रथम-पुरुष ही कहा जाएगा ।

प्रश्न—अनादि जीव का कारण ईश्वर नहीं हो सकता । वास्तविकता यह है कि सृष्टि से पूर्व ईश्वर तो था ही, जीव भी प्रकृति में सुषुप्ति (सुप्तावस्था) में पड़ा हुआ था । जब प्रकृति में विकृति होने से महत्त्व की रचना हुई तो उसमें से दोनों बच्चों के समान प्रकट हुए । इनका सबलिक से कोई भी सम्बन्ध नहीं ।

उत्तर—इत अछर को विलस्यो मन, पांच तत्व चौदे भवन ।

यामें महाविष्णु मन मन थें त्रैगुन, तार्थें थिर चर सब उतपन ॥

प्रकाश हिन्दुस्तानी प्र. ३७/२४

यद्यपि ब्रह्म की सत्ता प्रकृति में व्यापक है किन्तु उसका स्वरूप प्रकृति से सर्वथा परे ही है । यदि ब्रह्म प्रकृति के कण-कण में अपने स्वरूप से विराजमान होता तो प्रकृति में विक्षोभ होकर महत्त्व, अहंकार तथा अन्य पदार्थों की रचना ही नहीं हो सकती तथा सम्पूर्ण संसार का स्वरूप ही ब्रह्ममय होता^१ । महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश के कथन द्रष्टव्य हैं :—

१. यह सब जगत सृष्टि के पहले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सम्मुख एकदेशी आच्छादित था, पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्य रूप कर दिया । (सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास ‘तम् आसीत् तमसा’ मन्त्र की व्याख्या में)

२. इस चेतन मात्र अखण्डैकरस ब्रह्म स्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं । देखिए सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ की व्याख्या ।

यह स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द जी ने भी सृष्टि से पूर्व प्रकृति और ब्रह्म का स्वरूप अलग-अलग माना है ।

जिस प्रकार नींद आने के पश्चात् ही मनुष्य अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है और उस स्वप्न में जाग्रत अवस्था की तरह ही अनेक प्रपंचों का अलग ही संसार खड़ा कर लेता है, वैसे ही मन स्वरूप अव्याकृत (सुमंगला पुरुष) मोह सागर में प्रतिबिम्बित होकर स्वयं को ईश्वर (गीतोक्त प्रथम पुरुष या नारायण) रूप में देखने लगता है ।

ए और माया ब्रह्म सबलिक, त्रिगुन की परआतम ।

किरंतन प्र. ६५ चौ. १०

मोहतत्व को ही नींद कहा गया है । उसमें प्रकट पुरुष के संकल्पों के परिणाम स्वरूप सृष्टि का यह वर्तमान व्यक्त स्वरूप दिखाई पड़ता है । ईश्वर

^१ ब्रह्म का स्वरूप प्रकृति से परे ही है इसका विशद विवेचन देखिए चतुर्थ समुल्लास ।

(नारायण) ही प्रकृति के बन्धन में पड़े हुए जीवों की अन्तरात्मा है। महाप्रलय में यह ईश्वर अपने मूल स्वरूप (सुमंगला पुरुष) को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म सत्यकाम, सत्संकल्प वाला है और वह कभी भी जीवों की तरह न तो मिथ्या संकल्प कर सकता है और न अपने मूल स्वरूप की विस्मृति ही कर सकता है। धनुष से छोड़ा हुआ तीर जिस प्रकार अत्यन्त अल्प समय में किसी पत्ते को छेदकर पार कर जाता है, तो उससे भी कम समय में अक्षर ब्रह्म के आदेश मात्र से असंख्यों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और संहार होता है। स्वप्न का दृष्टान्त हमारी मानवीय बुद्धि के लिए ग्राह्य बनाने के लिए ही दिया जाता है।

अक्षर ब्रह्म के तृतीय पाद सबलिक (चतुर्थपाद अव्याकृत के महाकारण) से चेतन तत्व कैसे आता है इसका प्रमाण—

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं विभ्रती गौरुदस्थात् ।

सा कद्रीची कं स्विदर्थं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥

अथर्ववेद का. १३/सू. १/मं. ४१

पदार्थ—(एना गौः) यह ब्रह्मशक्ति (परेण) दूर से दूर लोक से नीचे है और (एना अवरेण) इस नीचे के लोक से ऊपर रहकर (पदा) ज्ञान द्वारा (वत्सम्) जगत को (विभ्रती) पुष्ट करती हुई (उद् अस्थात्) सर्वोपरि स्थित है। (सा) वह (कद्रीची) न जाने कहां से आती है और कहां को जाती है और कहां (कं स्वित्) किस (अर्थम्) परम श्रेष्ठ प्रभु के पास (परा अगात्) पुनः लौट जाती है। न जाने (क्व स्वित् सूते) वह कहां इस सन्तान को उत्पन्न करती है। (नहि यूथे अस्मिन्) वह स्वयं इस यूथे अर्थात् विकृति में नहीं है।

भावार्थ—इस मन्त्र में सांकेतिक रूप से सबलिक के स्थूल (अव्याकृत के महाकारण) से चेतन तत्व के मोहतत्व (कारण प्रकृति) के अन्दर आने (प्रतिबिम्बित होने) का वर्णन किया गया है। यद्यपि इस मन्त्र में 'वत्स' पद का प्रयोग जगत के लिए हुआ है किन्तु इसके पूर्व मन्त्र में 'वत्सौ' पद का प्रयोग (जीव और ईश्वर) के लिए ही प्रयुक्त करना उचित होगा। पुनः —

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः ।

अथर्ववेद १९/सू. ६/मं. २

अर्थात् ब्रह्म के तीन पाद प्रकाशमय अखंड है, और चौथे पाद (अव्याकृत) के संकल्प से उत्पन्न प्रकृति बार-बार सृष्टि में प्रकट होती है।

अगला मन्त्र भी इसी विषय से सम्बन्धित है—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।

ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥

अथर्ववेद का. ८/सू. ९/मं. ६

पदार्थ—(वैश्वानरस्य)¹ ब्रह्म का (प्रतिमा) परिमाण (उपरि द्यौः) ऊपर विराजमान द्युलोक की भांति है। (अग्निः) सूर्य के समान प्रकाशित परमात्मा ने (रोदसी यावत्) सूर्य और पृथ्वी लोक को (विबबाधे) रोक रखा है। (ततः) उस (अमृतः) दूरतम् (षष्ठात्) षष्ठ अर्थात् निगूढ शक्ति से (स्तोमाः) प्राणधारी जीव (आयन्ति) आते हैं और (इतः) यहां से (अहनः) व्यापक शक्ति के (षष्ठम् अभि) निगूढ रूप के प्रति (उत् यन्ति) महा प्रलय में पुनः चले जाते हैं।

भावार्थ—यद्यपि ब्रह्म अतुलनीय है फिर द्युलोक से उसकी तुलना करने का तात्पर्य ब्रह्म की महिमा का प्रदर्शन करना है। मन्त्र में षष्ठम् पद का प्रयोग 'मोहतत्व (कारण प्रकृति)' के लिए किया गया है। उसी के अन्दर सबलिक अव्याकृत (सुमंगला पुरुष) प्रतिबिम्बित होता है जो सभी जीवों का परमात्मा (ईश्वर, सबल ब्रह्म) कहा जाता है। यजुर्वेद (अ. ३१ मं. ५) के 'ततो विराडजायत विराजो अधि पुरुषः' का संकेत इसी तथ्य की ओर है। महाप्रलय के पश्चात् सभी जीव मोहतत्व के अन्दर स्थित उस चेतन तत्व (गीतोक्त प्रथम पुरुष²) में लीन हो जाते हैं।

तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत बन्धवः ।

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. ५

इस कथन के अनुसार भी जीव सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर (नारायण) से प्रकट होते हैं। यदि जीव अनादि होता तो 'अन्वजायन्त' पद का प्रयोग नहीं होता जिस प्रकार अनादि ब्रह्म के लिए 'अजायत्' पद का प्रयोग नहीं हो सकता है।

मन्त्र में प्रयुक्त 'षष्ठम्' पद की स्पष्ट व्याख्या निम्नलिखित मन्त्र में देखिए—

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।

बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥

अथर्ववेद का. ८/ सू. ९/मं. ४

पदार्थ—(पञ्च सामानि) व्यक्त रूप पञ्चभूत (षष्ठात्) उस षष्ठ अर्थात् व्यापक (बृहतः) महत्तत्त्व से (परि अधि निर्मिता) पृथक् बने और (बृहतः) वह महत्तत्त्व (बृहत्याः) उस बृहती प्रकृति से (निर्मितम्) बना या प्रकट हुआ। प्रश्न यह है कि (बृहती) वह बृहती प्रकृति (कुतः अधि निर्मिता) कहाँ से बन गई है।

भावार्थ—प्रकृति में क्षोभ होने से महत्तत्व की रचना होती है। महत्तत्व से अहंकार, उससे पञ्च सूक्ष्म भूत- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की उत्पत्ति होती

¹ "स यः स वैश्वानरः असौ स आदित्यः"। (शत. ९/३/१/२५)

² ममेवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता अ. १५ श्लोक ७)
अर्थात् सभी प्राणी उस ईश्वर पुरुष के अंश हैं।

है। इसके अनन्तर पञ्च स्थूल भूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है जिससे वर्तमान व्यक्त संसार निर्मित होता है। गहन जिज्ञासा का प्रश्न यह है कि वह कारण प्रकृति उत्पन्न होती है या नहीं ?

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।

माया ह जज्ञे मायया मायाया मातली परि ॥

अथर्ववेद का. ८/सू. ९/मं. ५

पदार्थ—(बृहती) वह 'बृहती' प्रकृति (मात्रायाः परि) 'मात्रा' प्रकृति से प्रकट हुई और वह (मात्रा) मात्रा प्रकृति (मातुः अधि निर्मिता) माता निमित्त ब्रह्म से प्रकट हुई। (माया)¹ वह ज्ञानमयी शक्ति कहाँ से आयी ? (माया ह मायायाः जज्ञे) वह ज्ञानमयी शक्ति निश्चय ही 'माया' अर्थात् ब्रह्म की निर्मात्री-शक्ति से ही प्रादुर्भूत हुई। अर्थात् वह 'स्वयम्भू' अनादि है और (मायायाः) उस निर्मात्री शक्ति के (परि) वश में यह (मातली) जीव है।

भावार्थ—कम्पनशील सूक्ष्म परमाणुओं का समुद्र ही 'बृहती' प्रकृति है। उसका अव्यक्त स्वरूप ही मात्रा प्रकृति है। इस मन्त्र में कार्य जगत को बृहती प्रकृति नहीं कहा गया है अपितु इस कार्य जगत के उपादान कारण प्रकृति के विभिन्न रूपों को बृहती प्रकृति तथा मात्रा प्रकृति के नाम से कहा गया है। कारण प्रकृति का अव्यक्त सूक्ष्मतम स्वरूप मात्रा प्रकृति है तथा कारण प्रकृति का वह स्वरूप जिसमें परमाणु कम्पनशील होते हैं, बृहती प्रकृति कहलाता है। मात्रा प्रकृति अनादि ब्रह्म के चौथे पाद अव्याकृत के संकल्प से उदभूत होती है। इस कार्यरूप जगत में वेद के रूप में अवतरित ज्ञान का मूल स्रोत भी अव्याकृत ही है। अव्याकृत उस अविनाशी ब्रह्म की अनादि शक्ति है।

प्रश्न—जीव अणु एकदेशी तथा चेतन होने के कारण छेदन-भेदन तथा संयोग-वियोग से पूर्णतया रहित है। अतः जीव को विराट् पुरुष का अंश मानना अनुचित है।

उत्तर—प्रकृति के अन्दर होने वाली अनेक संरचनायें ऐसी हैं, जिसे हम अपनी सामान्य मानवी बुद्धि से नहीं समझ सकते। जीव अनादि है या ईश्वर (शबल ब्रह्म) का अंश ? अध्यात्म के इस गूढ़ प्रश्न का उत्तर केवल तर्कों से नहीं जाना जा सकता है। जब वैदिक प्रमाणों से मन स्वरूप अव्याकृत का कारण प्रकृति में प्रतिबिम्बित होना तथा महाप्रलय में पुनः अपने मूल स्वरूप को प्राप्त हो जाना सिद्ध है, तो सृष्टि के जीवों को ईश्वर का सांकल्पिक प्रतिबिम्ब मानना ही पड़ेगा। आधार के बिना आधेय नहीं रह सकता। जीव को अनादि मानने पर

¹ माया = प्रज्ञानाम् (निघण्टु ३/९)

यह प्रश्न उठता है कि महाप्रलय में जब आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व या कारण प्रकृति भी नहीं रहेंगे तो जीव कहां रहेगा ?

प्रश्न—सांख्य दर्शन के निम्नलिखित सूत्रों से यह सिद्ध होता है कि प्रकृति अनादि है, उसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती ।

1. नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत् । सां. अ. १/सू. ११४

नृश्रृङ्ग की भांति असत् का उत्पाद नहीं होता है ।

2. उपादान नियमात् । १ सां. अ. १/सू. ११५

उपादान का नियम होने से असत् अर्थात् अव्यक्त कारण प्रकृति की उत्पत्ति नहीं होती है ।

3. सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् । सांख्य अ. १/सू. ११६ ।

अर्थात् जब सब स्थान में सब काल में सब के न उत्पन्न होने से ।

उपादान का नियम न हो तो सब स्थान में सब काल में सब वस्तुओं की उत्पत्ति हुआ करे, वैसा है नहीं । अतः उपादान का नियम होने से असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति उत्पन्न नहीं होती ।

वेद के अनुसार—

4. कस्ते मातरं विध्वामचक्रद् । ऋ. ४/१८/१२

अर्थात् वह कौन है, जिसने तेरी माता को विधवा किया ? वस्तुतः अदिति माता कभी विधवा हो ही नहीं सकती । किसकी सामर्थ्य है कि जो इन्द्र को मार सके ? वेद के अनुसार माता अदिति (प्रकृति) शाश्वत पिता (ब्रह्म) द्वारा गर्भवती होती है अर्थात् सृष्टि उत्पन्न की जाती है । ब्रह्म को कोई मार नहीं सकता । इससे सिद्ध है कि माता प्रकृति भी अनादि है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती है ।

उत्तर—वेद स्वतः प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं । उनके प्रमाण के लिए अन्य किसी भी ग्रन्थ के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । निःसंदेह महर्षि कपिल महान् वैदिक ऋषियों में से एक हैं और उनके द्वारा रचित ‘सांख्य दर्शन’ आदरणीय है किन्तु वेद का कथन सर्वोपरि है । वेद के गुह्य रहस्य तारतम के द्वारा स्पष्ट होते हैं, सामान्य मानवीय बुद्धि से नहीं । अनादि चेतन ब्रह्म की प्रकृति भी अनादि और चेतन अवश्य है किन्तु सांख्य दर्शन में जिस उपादान कारण प्रकृति को अनादि और जड़ कहा गया है, वह मूलतः प्रवाह से अनादि है ।

ऋ. मं. १०/सू. १२९/मं. १ के कथित—‘नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं ।’ अर्थात् सृष्टि के पूर्व न असत् (अव्यक्त) था, न सत् (व्यक्त) । कारण प्रकृति का स्वरूप अव्यक्त होता है । जब वह कार्य रूप में परिणत होती है तभी वह व्यक्त

रूप में मानी जाती है। वेद के पूर्वोक्त कथन में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व अव्यक्त प्रकृति भी नहीं थी। जो वस्तु पूर्व में न होकर पश्चात् में होती है वह स्वरूप से अनादि नहीं हो सकती। सृष्टि-प्रलय का प्रवाह यद्यपि अनादि है, किन्तु प्रकृति अनादि नहीं। मूल प्रकृति (अक्षर ब्रह्म के चौथे पाद के संकल्प की प्रक्रिया का प्रवाह) अनादि है। उसी के संकल्प से सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था वाली प्रकृति उत्पन्न होती है। महर्षि दयानन्द ने भी “नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं” की व्याख्या में लिखा है—

“मूल में प्रकृति भी नहीं थी और न कार्य ही था। उत्पत्ति, स्थिति, लयादि को कार्य कहते हैं। सत् अर्थात् प्रकृति, इसका वर्णन सांख्य शास्त्र में किया है। उस शास्त्र में सत्त्व, रज, तमोगुण की जो साम्यावस्था है वही प्रकृति है, ऐसा माना है।” (उपदेश मंजरी आठवां उपदेश)

अथर्ववेद (१९/६/२) में भी कहा गया है कि ‘पादस्येहाभवत् पुनः’। अर्थात् ब्रह्म के चौथे पाद (अव्याकृत) के संकल्प से उत्पन्न प्रकृति ही बार-बार संसार के रूप में प्रकट होती है। यदि यह कहा जाए कि शाश्वत पिता इन्द्र^१ को (ब्रह्म को) कोई मार नहीं सकता, तो इस प्रकार माता अदिति (प्रकृति) कभी भी विधवा नहीं हो सकती। इससे यह स्पष्ट है कि यदि पिता शाश्वत है तो माता भी शाश्वत होगी, अर्थात् प्रकृति अनादि है। इसका उत्तर यह है कि शाश्वत ब्रह्म की शक्तियां उसके चारों पाद सत् स्वरूप, केवल, सबलिक और अव्याकृत हैं जो अनादि और चेतन हैं। अव्याकृत की सृष्टि रचना की इच्छा ही मूल प्रकृति है तथा अक्षर ब्रह्म के मन का स्वरूप होने के कारण अनादि है किन्तु उसके संकल्प से उद्भूत जड़ प्रकृति, स्वरूप से अनादि नहीं हैं। अव्याकृत के संकल्प से अनादि काल से कारण प्रकृति महत्त्व एवं अन्य भूतों की रचना के साथ सृष्टि उत्पन्न होती है एवं पुनः प्रलय को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि प्रलय का प्रवाह अनादि है, किन्तु प्रकृति अनादि नहीं हैं।

प्रश्न—ए माया आद अनाद की, चली जात अन्धेर।

निरगुन सरगुन होए के, व्यापक आए फिरत है फेर ॥

किरंतन प्र. ६५ चौ. १

श्रीमुखवाणी के इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि माया अनादि हैं।

उत्तर—श्रीमुखवाणी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि उस अनादि ब्रह्म की, अनादि काल से इस माया के द्वारा सृष्टि रचना होती आ रही है। उसके द्वारा निर्मित सृष्टि कभी सगुण रूप में होती है तो कभी निर्गुण रूप में। यह प्रवाह

^१ वैदिक साहित्य में इन्द्र शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए होता है- पौराणिक इन्द्र के लिए नहीं।

अनादि काल से चलता आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा, किन्तु प्रकृति (माया) अपने मूल स्वरूप में अनादि नहीं है क्योंकि—

प्रले प्रकृति जब भई, तब पांचों चौदे पतन ।
मोह अहं सबे उडे, रहे सरगुन ना निरगुन ॥

किरंतन प्र. २१ चौ. ३

अर्थात् प्रकृति का तो प्रलय हो जाएगा ।

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मरिइवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. २

पदार्थ—(ब्रह्मणस्पति)^१ परमात्मा ने (एता) इन की (कर्मरिः इव सम् अधमत्) शिल्पी की भांति रचना की । (देवानां) देवों के (पूर्व्ये युगे) प्रथम युग में (असतः सदजायत्) अव्यक्त से व्यक्त उत्पन्न हुआ ।

भावार्थ—सृष्टि में सर्वप्रथम परमात्मा ने अव्यक्त कारण प्रकृति को कार्य रूप में व्यक्त किया। जिस प्रकार एक कुशल शिल्पी वस्तुओं को बनाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ने प्रकृति के आठ पुत्रों के रूप में देवों की रचना की । इसका वर्णन आगे है । यहां 'देव' शब्द से तात्पर्य पुराण कल्पित ३३ करोड़ देवताओं से नहीं है अपितु उनका वर्णन इसी सूक्त की पांचवीं एवं आठवीं ऋचा में स्पष्ट किया गया है ।

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. ३

पदार्थ—(देवानां प्रथमे युगे) देवों के प्रथम निर्माण काल में (असतः सदजायत) अव्यक्त प्रकृति से 'सत्' व्यक्त जगत् उत्पन्न हुआ । (तदा) तब (आशाः) दिशाएं भी (अनु अजायन्त) प्रकट हुई । (तत् परि) उसके पश्चात् (उत्तानपदः) ऊपर के पद प्रकट हुए ।

भावार्थ—जब देवों के आदि सर्ग काल में अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त कार्यरूप जगत् उत्पन्न हो जाता है, तब सम्पूर्ण दिशाएं प्रकाश में आती हैं और तब इस जगत् में प्राणी-सृष्टि का अवतरण होता है । सर्ग काल से पूर्व सब कुछ गहन अन्धकार से आवृत अर्थात् अव्यक्त प्रकृति के रूप में अवस्थित रहता है । उस स्थिति का वर्णन हम इसी रूप में कर सकते हैं कि उस समय न पृथ्वी रहती, न

^१ ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा । ब्रह्मणो वेदस्य ज्ञानस्य वाग्मनस्य पाता स्वामी पालयिता वा परमात्मा । (निरुक्त सम्मर्शः)

सूर्य न दिशाएं न लोक-लोकान्तर । परन्तु सर्गकाल के पश्चात् वह स्थिति नहीं रहती है ।

परमात्मा की प्रेरणा से मूल उपादान प्रकृति में क्षोभ होकर उससे पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि अखिल लोक-लोकान्तरों की रचना हो जाती है । तब प्रत्येक पदार्थ अपनी स्थिति में पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगता है । सब दिशाएं स्पष्ट तथा व्यवहार्य हो जाती हैं । उसके अनन्तर पृथ्वी पर प्राणी-जगत की रचना होती है ।

प्रश्न—परमात्मा की प्रेरणा से सृष्टि के लिए कारण अव्यक्त प्रकृति में क्षोभ होने का वैदिक प्रमाण क्या है?

उत्तर—प्र दैवोदासो अग्निर्देवां अच्छा न मज्मना ।

अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि ॥

ऋ. मंडल ८/सू. १०३/मं. २

पदार्थ—(दैवोदासः) प्रकाश देने वाला (अग्निः) सूर्य (देवान्) अपने प्रकाशों को (किरणों को) (मातरं पृथ्वीं अनु) सबकी जननी माता पृथ्वी की (अच्छा) ओर (मज्मना न प्रवावृते) मानो बड़े बल से भेजता है और (पृथिवीं मारतम् अनु) माता भूमि की रचनादि के अनुसार (वि वावृते) उसमें विविध कार्य करता है । वह पत्रों को हरा, पुष्पों को नाना रंगों का, जड़ों को दृढ़ इत्यादि जंगम स्थावरादि संसार को अद्भुत प्रकार से परिणत करता है । वह स्वयं (नाकस्य सानवि) आकाश के उच्च भाग में (तस्थौ) स्थिर रहता है । वैसे ही वह सर्वज्ञ परमात्मा भी (नाकस्य सानवि) आनन्दमय दशा में स्थित है, तो भी मातृवत् जननी प्रकृति को बहुत भारी बल से नहीं संचालित करता, प्रत्युत अनायास ही उसमें (प्रवावृते) प्रथम स्पन्द उत्पन्न करता है और (अनु वि वावृते) अनन्तर उसी को विविध रूपों में जगत रूप में बदल देता है ।

भावार्थ—ब्रह्म के संकल्प से कारण अव्यक्त प्रकृति के सूक्ष्मतम कणों में स्पन्द (कम्पन) होता है जिससे सत्व, रज और तम की साम्यावस्था भंग होकर विकार स्वरूप महत्त्व की रचना होती है ।

भूर्जज्ञ उत्तान पदो भुव आशा अजायन्त ।

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परिः ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. ४

पदार्थ—(भूः) पृथ्वी लोक ने (उत्तानपदः)^१ ऊपर के पद को (जज्ञे) प्रकट किया अर्थात् ऊपर का व्यवहार भूलोक की अपेक्षा से हुआ । (भुवः) भुव से

^१ उत्तान उत्तान उर्ध्वतानो वा,

(आशाः अजायन्त) दिशाएं प्रकट हुईं । (अदितेः दक्षः) अदिति से दक्ष और (दक्षात् अदितिः) दक्ष से अदिति (परि अजायत्) प्रकाश में आये ।

भावार्थ—जब पृथ्वी आदि लोकों में प्राणियों की सृष्टि हो जाती है तथा पृथ्वी आदि लोकों के आधार पर दिशाएं प्रकट हो जाती हैं, तब यह स्पष्ट रूप से समझा जाता है कि किस प्रकार अचेतन से चेतन तथा चेतन से अचेतन प्रकाश में आते हैं । अचेतन अर्थात् जड़ प्रकृति, कार्य जगत के उपादान कारण रूप से प्रयोग में आती है । चेतन वर्ग में से सर्वशक्तिमान परमात्म-चेतन, जगत की सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि करने में प्रयुक्त होता है । चेतन वर्ग में से जीव-चेतन एक ऐसा वर्ग है, जो प्रकृति में डूबता उतराता, सदा इसको भोगता है । यह सारा व्यवहार केवल सृष्टि काल में ही संभव हो सकता है, भले ही चेतन अपनी सत्ता के कारण सदा प्रकाशमय हो । इसलिए जीव चेतन अपना प्रत्येक कार्य प्रकृति के सम्पर्क में आने पर ही कर सकता है । इसी स्थिति में यह परमात्म चेतन को समझता तथा प्राप्त कर सकता है ।

अतः यह कहना पूर्णतया उचित है कि अचेतन के द्वारा चेतन प्रकाश में आता है । इसी प्रकार अचेतन प्रकृति स्वयं अपनी सत्ता से कुछ नहीं कर सकती । चेतन की प्रेरणा के बिना उसमें कोई क्रिया या क्षोभ होना असंभव है, तथा चेतन भोक्ता (जीव) के बिना उसका अस्तित्व और सर्ग सब कुछ व्यर्थ है । इसलिए यह भी कहना सर्वथा उचित है कि चेतन के द्वारा अचेतन प्रकाश में आता है । चेतन और अचेतन की इस स्थिति का यह पारस्परिक सम्बन्ध अटूट है । परमात्म चेतन सदा सृष्टि, स्थिति और प्रलय करेगा ही, जीव-चेतन सदा प्रकृति को भोगेगा ही और उपादान प्रकृति, कार्य रूप में परिणत की जाकर भोगी जाएगी ही । इस प्रकार चेतन से अचेतन तथा अचेतन से चेतन के प्रकाश में आने का वैदिक कथन पूर्णतया उचित है ।

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।

तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥

ऋ. मं. १०/सू. ७२/मं. ५

पदार्थ—(दक्ष) हे परमात्मन्! (या तव दुहिता) जो तुम्हारी पुत्री के समान है, वह (अदितिः हि अजनिष्ट) प्रकृति निश्चय ही उत्पन्न हुई है । (ताम् अनु) उसके पश्चात् (भद्राः) कल्याणकारक (अमृत-बन्धवः) अमृत-बन्धु (देवाः अन्वजायन्त) देव उत्पन्न हुए ।

उत्तानः - उत्तानः - उत्तमूर्ध्वं वा तानो यस्य

सः उत्तानः - उत्तानः । उद् उपसर्गे तन धातोर्द्धं प्रत्यये,

भूते रूपम्, - उत्तः, उत्त उत्ततः, यद्वा उत्तत स्तानः-उत्तानः ॥

निरुक्त अ. ४ पा. ३ खं. २१

भावार्थ—अदिति (अचेतन प्रकृति) दक्ष (चेतन-परमात्म चेतन) की प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ होती है, इसलिए अदिति को दक्ष की दुहिता कहना उचित है। इस प्रकार दक्ष की दुहिता प्रकृति ने आठ देवों (बुद्धि, अहंकार, पंच तन्मात्रा और मार्तण्ड) को जन्म दिया, जो भद्र और अमृत बन्धु कहलाते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर महाप्रलय के समय तक (जीव-चेतन) का सम्बन्ध अदिति (प्रकृति) के इन आठों पुत्रों के साथ हमेशा बना रहता है इसलिए इन्हें अमृत-बन्धु कहा गया है।

प्रश्न—ऋग्वेद (४/१८/१२) 'कस्ते मातरं विध्वामचक्रद' तथा यजुर्वेद (२९/६०) 'अदित्यै विष्णु पत्न्यै' में अदिति को ब्रह्म की पत्नी कह दिया गया जबकि इसके पूर्व मन्त्र में पुत्री कहा गया है। इस प्रकार वेद के कथन में विरोधाभास क्यों?

उत्तर—अदिति को ब्रह्म की पुत्री या पत्नी कहे जाने का वर्णन मात्र आलंकारिक है और ऐसा प्रकरण के अनुसार कहा जाता है। मूल प्रकृति (अव्याकृत के संकल्प) से उत्पन्न होने के कारण अदिति (प्रकृति) को पुत्री के दृष्टान्त से वर्णित कर दिया गया तथा ब्रह्म की प्रेरणा के कारण प्रकृति में विक्षोभ होकर विषमावस्था होकर सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ होने के कारण पत्नी के दृष्टान्त से वर्णित किया गया।

यदेवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।

अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. ६

पदार्थ—(यत्) जो (देवाः) प्रकृति के आठों पुत्र (अदः सलिले) इस विस्तृत महत्त्व रूपी जल में (सुसंरब्धाः) उत्तम रीति से बने और गतिशील होकर (अतिष्ठत) विद्यमान हैं। (अत्र) इस प्रकृति के ब्रह्मांड में (नृत्यतां इव वः) नृत्य करते हुए की भांति तुम्हारा अर्थात् अदिति पुत्र देवों का (तीव्रः रेणुः) अति वेग युक्त सूक्ष्मतम एक-एक कण (अप आयत) दूर तक फैल जाते हैं।

भावार्थ—जब सृष्टि का प्रारम्भ होने लगता है, उस समय परमात्म-चेतन की प्रेरणा से विक्षुब्ध प्रकृति-कण विषमता की ओर परिणत होने के लिए उन्मुख हो जाते हैं। अभी प्रकृति की वह अवस्था कारण रूप अवस्था ही कही जा सकती है। कारण प्रकृति की विकृति से महत्त्व की उत्पत्ति से पूर्व यहीं विक्षोभ की अवस्था होती है। इस महत्त्व अर्थात् गतिशील परमाणुओं के समुद्र को ही 'सलिल' पद से कहा गया है। सूक्ष्मतम परमाणुओं की गतिशीलता की ही इस मन्त्र में 'नृत्य' से उपमा दी गई है।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्य पिन्वत ।
अन्ना समुद्र^१ आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. ७

पदार्थ—(यत् + यतयः + देवाः) जैसे कि नियम में बंधे हुए अदिति पुत्र देवों ने (यथा भुवनानि) सम्पूर्ण भुवनों को (अपिन्वत) पूर्ण कर दिया अर्थात् भर दिया । (अत्र समुद्रे) परमाणुओं से भरे इस आकाश में (आग गूळहम्) सूक्ष्म कण से लेकर (आ सूर्यम्) सूर्यादि पर्यन्त लोक-लोकान्तर (अजभर्तन) उन्हीं के प्रतीक रूप भरे हुए हैं ।

भावार्थ—‘सूर्य’ पद सभी गोलों का उपलक्षण है । पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण आदि जितने भी लोक-लोकान्तर हैं, जिनमें कुछ को ही हम देख पाते हैं, वे अभी तक छिपे हुए थे, अर्थात् अपने कारण में लीन थे । वे अब अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में आ गये हैं । मूलकारणों से पुनः कार्यरूप में परिणत होकर पृथ्वी, सूर्य चन्द्रादि के रूप में वे दृष्टिगोचर हो रहे हैं ।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व^१स्परि ।
देवां उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यत् ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. ८

पदार्थ—(अदितेः तन्वः परिजाताः पुत्रासः अष्टौ) अदिति के आठ पुत्र उत्पन्न हुए । (सप्तभिः) सात पुत्रों के द्वारा वह (देवान् + उप प्रैत्) चेतनों को प्राप्त हुई और आठवें (मार्तण्डम्) मार्तण्डम को (परा आस्यत्) दूर-दूर तक फेंक दिया अथवा छिटका दिया ।

भावार्थ—आदि-सर्ग काल से ही जीव-चेतन के साथ अदिति (प्रकृति) के सात पुत्रों (बुद्धि, अहंकार, पंच तन्मात्रा) का सम्बन्ध हो जाता है तथा आठवें पुत्र मार्तण्ड में सम्पूर्ण विकार जगत का समावेश हो जाता है । सांख्य दर्शन में केवल विकार जगत की संख्या १६ बतायी गयी है, ग्यारह इन्द्रियां और पांच स्थूल भूत । इन्द्रियों का आध्यात्मिक सृष्टि में समावेश हो जाता है और पंचस्थूल भूतात्मक सम्पूर्ण जगत भौतिक सृष्टि है । वैदिक वर्णन के अनुसार—इन सम्पूर्ण भौतिक जगत का समावेश ‘मार्तण्ड’ में हो जाता है ।

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्व^२त्पुनर्मार्तण्डमाभरत् ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ७२/मं. ९

^१ समुद्रवन्ति परमाणवो- यस्मिन्नन्ति
समुद्रः - आकाशः ।

^२ ‘त्वत्’ निपातः समुच्चयार्थे भवति । निरुक्त सम्मर्शः

पदार्थ—(सप्तभिः पुत्रैः) अपने सात पुत्रों के साथ (अदितिः) अदिति या प्रकृति (पूर्व्य युगम्) आदि सर्ग काल में (प्रजायै मृत्यवे) प्रजाओं अर्थात् जीवों के लिए (उप प्रैत्) प्राप्त हुई, (पुनः) फिर (मार्तण्डम्) भौतिक जगत को (आभरत्) धारण किया।

भावार्थ—जीव-चेतन के जन्म-मरण भोग आदि क्रियाओं में अदिति के सात पुत्र आधारभूत हैं तथा ये सभी क्रियाएं उसके आठवें पुत्र (लोक-लोकान्तरों) के अन्तर्गत ही होनी सम्भव हैं।

प्रश्न—सृष्टि और प्रलय का चक्र अनादि काल से चल रहा है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—कर्मकृष्टेर्वाऽप्यनादितः । सांख्य अ. ३/सू. ६२ । अर्थात् प्रवाह रूप अनादि काल से कर्मों द्वारा आकर्षण से प्रकृति सृष्टि रूप में परिणत होती हैं। ब्रह्म के अनादि होने से सृष्टि प्रलय का प्रवाह भी अनादि है, क्योंकि परार्थ जीवात्मा के निमित्त होने तथा स्वयं प्रकृति के परतन्त्र होने के कारण सृष्टि रूप होने के लिए वह बलात् खींची जाती है। यह प्रक्रिया अनादि काल से चल रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

प्रश्न—सृष्टि में पहले बीज पैदा हुआ या वृक्ष ?

उत्तर—पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् । सांख्य दर्शन अ. १/सू. १२२ पर से पर। इस प्रकार पारम्पर्य तो प्रारम्भ सर्ग है। उस पारम्पर्य से प्रारम्भसर्ग में पहुंच कर बीजाङ्कुर की भांति अन्वेषणा माननी चाहिए। जैसे-बीज से अंकुर निकलता है और अंकुर से फिर बीज की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार परम्परा में आदि-सर्ग में जब वृक्ष नहीं थे, तब उनकी बीज शक्ति होनी चाहिए। बीज में अंकुर अव्यक्त रूप में होता है। कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है। बीज का अर्थ कारण भी होता है। अतः पहले बीज ही होगा, वृक्ष बाद में।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि सृष्टि रचना महत्तत्त्व से शुरू होती है ?

उत्तर—महदादिक्रमेण पंचभूतानाम् । सांख्य अ. २/सू. १० प्रकृति से महत्तत्त्व पुनः अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्राएं तथा इन्द्रियां। इस प्रकार क्रम से पुनः तन्मात्राओं से पंचभूतों (पंच स्थूल भूतों) की सृष्टि होती है। कारण प्रकृति में विशोभ से प्रथम महत्तत्त्व की ही रचना होती है, यह निर्विवाद है।

प्रश्न—दर्शनशास्त्र द्वारा प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूल तत्त्व विषयक कितनी विचारधाराएं अब तक मानी जाती हैं।

उत्तर—दार्शनिकता के क्षेत्र में स्थूल तत्त्व विषयक विश्व के सम्प्रदायों की सभी विचारधाराओं को मुख्यतः चार भागों में बांटा जा सकता है। पहली विचारधारा वैदिक है। इसके छहों दर्शनशास्त्रों के अनुसार चेतन (ब्रह्म और

जीव) तथा जड़ दोनों प्रकार के मूल तत्वों का अस्तित्व वास्तविक है। इनके पारस्परिक सहयोग के अभाव में सृष्टि आदि कार्य नहीं हो सकते।

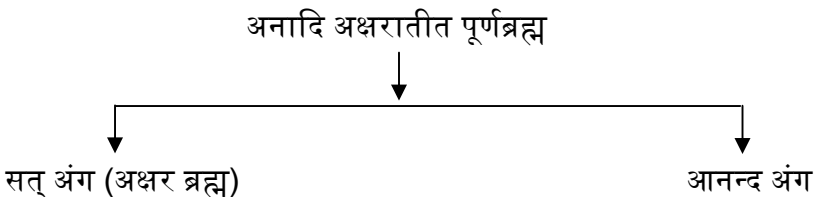
दूसरी विचारधारा के पोषक आचार्य बृहस्पति थे, किन्तु इसके मुख्य प्रचारक चार्वाक थे। प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर, आधुनिक समय के कार्ल मार्क्स तथा हेगेल जैसे अधिभौतिक तत्वज्ञों द्वारा पुष्पित पाश्चात्य दर्शन भी चार्वाक दर्शन का ही पोषक है। इस विचारधारा के अनुसार केवल जड़ ही एकमात्र तत्व है। वह कभी अवस्था विशेष में आकर अपने वास्तविक मूल स्वरूप से इतना भिन्न प्रतीत होने लगता है कि उसे तब जड़ नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में उसे चेतन कह दिया जाता है। चेतन नाम की पृथक एवं स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली कोई वस्तु नहीं है।

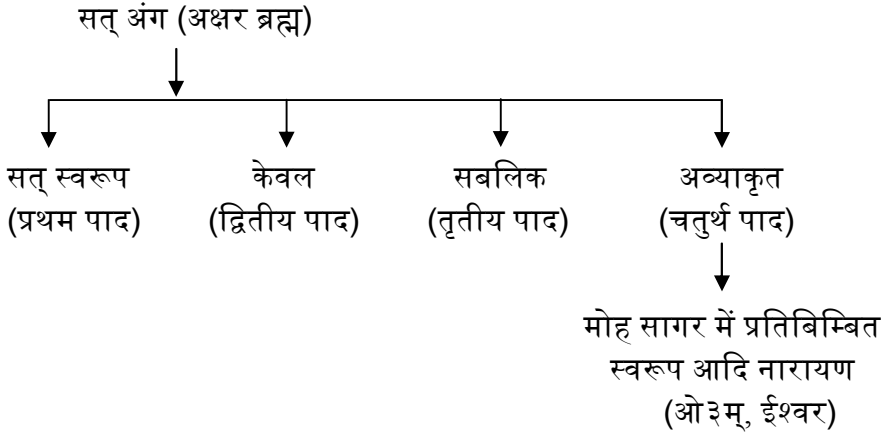
तीसरी विचारधारा के पोषक सांख्याचार्यों की परम्परा में आने वाले एक विद्वान आचार्य वार्षगव्य एवं उनके अनुयायी हैं। जैन दर्शन भी आचार्य वार्षगव्य की मान्यता को पुष्ट करता है। इस विचारधारा के अनुसार अनादि जड़ तत्व के अतिरिक्त जीव-चेतन अवश्य है किन्तु सृष्टिकर्ता के रूप में अनादि ब्रह्म या परमात्मा नाम की कोई भी सत्ता नहीं है। यद्यपि महर्षि कपिल ने अपने सांख्य शास्त्र में निर्विवाद रूप से ब्रह्म की सत्ता को माना है, किन्तु वार्षगव्य ने अपने संकीर्ण चिन्तन के कारण ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

चौथी विचारधारा जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन की प्रतिक्रिया स्वरूप पुष्पित हुई। इस विचारधारा को जगद्गुरु आचार्य शंकर ने सुपुष्ट किया। कुछ प्राचीन ग्रन्थों को इसका आधार बनाया गया, जिनमें वेदान्त-सूत्र, ग्यारह उपनिषद् और श्रीमद्भगवत् गीता मुख्य हैं। इस विचारधारा को ही 'नवीन वेदान्त' कहते हैं। इसके अनुसार केवल चेतन ही एक मात्र मूल तत्व है। चेतन से अतिरिक्त अन्य कोई तत्व अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता। वर्तमान में दृष्टिगत इस जड़ जगत का अपना वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मूल चेतन तत्व केवल लीला वश इसमें भासता है।

प्रश्न—श्री प्राणनाथ जी की तारतम वाणी के अनुसार—दर्शनशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूल तत्व विषयक विवेचना क्या है ?

उत्तर—दर्शनशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय 'मूलतत्व' को निम्न रेखांकित विवरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।





असंख्य नक्षत्रों से युक्त यह पंच-भौतिक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हृद के अन्तर्गत कहा जाता है। इसकी रचना जड़ प्रकृति से हुई हैं।

मूल प्रकृति मोह अहं थे, उपजे तीनों गुन।

सो पांचों में पसरे, हुई अंधेरी चौदे भवन ॥

किरंतन प्र. २१ चौ. २

मूल प्रकृति (अव्याकृत के संकल्प) से सत्व, रज और तम की साम्यावस्था वाली कारण प्रकृति उत्पन्न होती हैं उस कारण प्रकृति (मोह सागर) में अक्षर ब्रह्म का मन अव्याकृत (चौथा पाद) प्रतिबिम्बित होकर स्वयं को, नारायण (ईश्वर, शबल ब्रह्म) के रूप में देखता है। तत्पश्चात् उसके संकल्प से विक्षोभ होकर महत्त्व की रचना होती है। श्रीमुखवाणी के अनुसार प्रकृति (जड़) और जीव अपने वर्तमान स्वरूप से अनादि नहीं हैं, किन्तु प्रवाह से अनादि हैं। अनादि काल से अक्षर ब्रह्म के तीसरे और चौथे पाद के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार होता रहा हैं तथा प्रकृति और जीव महाप्रलय में अपने मूल उद्गम को प्राप्त होते हैं। इस हृद के ब्रह्माण्ड से परे बेहद का मंडल है। इसके अन्तर्गत अक्षर ब्रह्म के चारों पाद सत् स्वरूप, केवल, सबलिक और अव्याकृत हैं। इससे भी परे अक्षर का मूल स्वरूप है। मूल तत्व अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म है, जो अक्षर से भी परे हैं।

हृद पार बेहद है, बेहद पार अक्षर।

अक्षर पार वतन है, जागिए इन घर ॥

प्रकाश हिन्दुस्तानी प्र. ३१ चौ. १६५

यद्यपि संसार में अनेक ज्ञानी महापुरुष हुए हैं किन्तु वे माया और ब्रह्म का स्पष्ट विवरण नहीं दे सके हैं।

दुनियां जो छाया मिने, सो करे अटकलें अनेक।

छाया सूर न देख हीं, पीछे कहे ताए रूप न रेख ॥

संनध प्र. २९ चौ. ३१

ए काली किन पाई नहीं, सब छाया में रहे उरझाए ।
उपजे मोह अहंकार थें, सो मोहैं में भरमाए ॥

किरंतन प्र. २७ चौ. १५

संसार के जीव तो माया का भी स्पष्ट विवेचन नहीं कर पाए । अतः अनिवर्चनीय कह कर चुप हो गए । असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति के मूल अव्याकृत को, जो अपनी सामान्य मानवीय बुद्धि से नहीं समझ पाये, तो यह कैसे सम्भव है कि वे अव्याकृत से भी परे सबलिक, केवल सत् स्वरूप, अक्षर और अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की विवेचना कर सकें । अपनी अटकलों के सहारे किसी ने (जीव, ब्रह्म, प्रकृति) को मूलतत्त्व माना तो किसी ने केवल जीव और प्रकृति को, किसी ने मात्र ब्रह्म को तथा किसी ने प्रकृति को ही माना ।

प्रश्न—जैसे आकाश का फूल नहीं होता या शशक के सींग नहीं होते, वैसे ही यह संसार भी स्वप्नवत् हैं । प्रकृति के रूप में इसका कोई उपादान कारण नहीं हैं । श्री प्राणनाथ जी की वाणी में भी संसार को स्वप्नवत् कहा गया है—

सत सुपने में क्योंकर आवे, सत साईं है न्यारा ।
तुम पारब्रह्म सों परच्या नाहीं, तो क्यों उतरोगे पारा ॥

किरंतन प्र. ३२ चौ. २

सुपन की सृष्टि वैराट सुपन का, झूठे सांच ढंपाया ।
असत आपे सो क्यों सत को पेखे, इन पर पेड़ न पाया ॥

किरंतन प्र. २ चौ. ४

उत्तर—प्रश्नोपनिषद् के चौथे प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति, यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देश दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यतिः ॥५॥

अर्थात् स्वप्नावस्था में यह मन अपनी महिमा को अनुभव करता है । जिसे देखा है स्वप्न में, उस देखे हुए को फिर देखता है । जाग्रत अवस्था में सुने हुए को सुने हुए विषय की ही तरह फिर सुनता है । देश और दिगन्तर में अनुभव किए हुए को बार-बार फिर अनुभव करता हैं और देखे हुए और न देखे हुए, सुने हुए और न सुने हुए, और अनुभव किए हुए और अनुभव न किए हुए, विद्यमान

और अविद्यमान को अर्थात् इस जन्म के अतिरिक्त जीव के पूर्व जन्मों की भी स्मृतियों को भी देखता हैं।

जाग्रत अवस्था में पदार्थों का ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासना रूप ज्ञान अंतःकरण में स्थित हो जाता हैं। स्वप्न में मन उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता हैं। वाणी के अनुसार जगत को स्वप्नवत् कहे जाने का कथन 'आधुनिक वेदान्तियों' के कथित स्वप्नवत् जगत से भिन्न हैं। आधुनिक वेदान्तियों के अनुसार—ब्रह्म ही जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है, अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म का विकार हैं। उनके अनुसार यह सम्पूर्ण जगत स्वप्नवत् है, किन्तु इसके कण-कण में ब्रह्म ओत-प्रोत हैं।

वाणी का कथन इसके विपरीत है—यह परिवर्तनशील जड़ जगत त्रिगुणात्मिका प्रकृति से बना हैं जिसका मूल अव्याकृत है। अव्याकृत अक्षर ब्रह्म के मन का स्वरूप है। जिस प्रकार सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार महाप्रलय के पश्चात् भी ब्रह्म की सृष्टि प्रलय की स्वाभाविक कामना (मूल प्रकृति) प्रवाह रूप में विद्यमान रहती है, क्योंकि यह अनादि है।

निज लीला ब्रह्म बाल चरित्र, जाकी इच्छा मूल प्रकृत ॥

प्रकाश हिन्दुस्तानी प्र. ३७ चौ. १५

स्वप्न में जैसे मन अपनी कल्पना का एक अलग ही संसार खड़ा कर लेता है और जब निद्रा भंग होने से स्वप्न भी भंग होता है, तो उसकी कल्पना का संसार भी समाप्त हो जाता है। मूल प्रकृति से त्रिगुणात्मिकता प्रकृति की उत्पत्ति होती है, जिसके अन्दर सबलिक (अव्याकृत के महाकारण) से चैतन्य आता है। मोहतत्व (कारण प्रकृति) के अन्दर उसका वास होने से उसे नारायण कहा जाता है। मनुस्मृति (अ. १ श्लोक १०) के अनुसार—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः ।

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

इस श्लोक में आपः शब्द का प्रयोग मोहतत्व के लिए किया गया हैं। नारायण का मोहतत्व के अन्दर स्थित होकर सृष्टि कामना के संकल्प को ही स्वप्न के दृष्टांत से कहा गया हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि परमधाम में स्थित अक्षर ब्रह्म का मूल स्वरूप कभी भी संसार के जीवों की तरह स्वप्न नहीं देखता हैं, अपितु वह तो सृष्टि की उत्पत्ति और संहार के लिए मात्र आदेशकर्ता है। उसके तीसरे और चौथे पाद (सबलिक एवं अव्याकृत) के द्वारा ही सृष्टि, पालन, प्रलय की सम्पूर्ण क्रियाएं सम्पादित होती हैं।

जगत को स्वप्नवत् कह कर प्रकृति के अस्तित्व को अस्वीकार करना बहुत बड़ी भूल है। इसको इस दृष्टांत से समझा जा सकता है—स्वप्न में खोया हुआ एक व्यक्ति किसी भयानक सर्प को देखकर चीख उठता है। यद्यपि जाग्रत होने पर उसे सर्प नहीं दिखाई दिया किन्तु स्वप्न में उसे सत्य मानकर ही वह चीखा था। जिस प्रकार स्वप्न के काल्पनिक सर्प के साथ उसकी चीख को अलग नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार स्वप्नवत् इस जड़ जगत को देखकर भी प्रकृति के अस्तित्व को अवश्य मानना पड़ेगा। वाणी में भी इस जगत की रचना प्रकृति के द्वारा हुई बतायी गयी है—

प्रकृति पैदा करे, ऐसे कई इंड आलम।

ए ठौर माया ब्रह्म सबलिक, त्रिगुन की परआतम ॥

किरंतन प्र. ६५ चौ. १०

मूल प्रकृति मोह अहं थे, उपजे तीनों गुन।

किरंतन प्र. २१ चौ. २

आधुनिक वेदान्तियों के द्वारा अनादि, एकरस, सत्य, चेतन ब्रह्म को जगत का उपादान कारण मानना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि यह जगत ब्रह्म के गुणों के विपरीत परिवर्तनशील, उत्पन्न हुआ, असत्य, जड़ और दुखमय है। यद्यपि छः अनादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए वेदान्त के विद्वानों ने 'अविद्या' को भी माना है, किन्तु वे अविद्या की सांख्य या वेदोक्त प्रकृति की तरह विवेचनात्मक वर्णन नहीं कर पाए हैं। इस जड़ जगत का उपादान कारण तो त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, जिसका उद्गम मूल प्रकृति (अव्याकृत का संकल्प) है। जगत को स्वप्नवत् कहने का तात्पर्य यह भी है कि जिस प्रकार स्वप्न के दृश्य बदलते रहते हैं, उसी प्रकार यह संसार भी परिवर्तनशील है, इसके मोह में विवेकी पुरुषों को नहीं फंसना चाहिए। 'श्रीमुखवाणी' में अक्षर ब्रह्म के द्वारा सृष्टि रचना के आदेश की प्रक्रिया के स्वप्न के इस दृष्टांत को अत्यन्त रोचक शब्दों में वर्णित किया गया है—

ब्रह्मांड चौदे तबक, सब सत का सुपन।

इन दृष्टान्ते समझियो, विचारो वासना मन ॥

सुपन सत सरूप को, तुम कहोगे क्यों कर होए।

ए विध सब जाहेर करूं, ज्यों रहे ना धोखा कोए ॥

एक तीर खेंच के छोड़िए, तिन बेधाए कई पात।

सो पात सब एक चोटें, पाव पल में बेधात ॥

पर पहले पात एक बेध के, तो दूजा बेधाए।

यामें सुपन कई उपजें, बेर एती भी कही न जाए ॥

तो बेर एक की कहा कहूं, इत हुआ कहां सुपन ।
पर सत ठौर का असत में, दृष्टांत नहीं कोई अन ॥

कलस हि० प्र. २४ चौ. २७-३१

अर्थात् धनुष से छोड़े हुए तीर को किसी वृक्ष के दो पत्तों को बींधने में जितना समय लगता है, उससे भी कम समय में अक्षर ब्रह्म के स्वप्न का समय माना जाता है । यद्यपि इसे स्वप्न तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस प्राकृतिक जगत में इस प्रक्रिया को समझाने के लिए अन्य कोई दृष्टान्त नहीं हैं ।

प्रश्न—इस सृष्टि को बनाने वाला न पहले था, न अब है और न भविष्य में होगा, अपितु यह संसार अनादि काल से ही हैं । इसकी न कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश होगा ।

उत्तर—कर्ता के बिना न तो कोई क्रिया हो सकती है और न ही कोई क्रियाजन्य पदार्थ बन सकता है । जल, पृथ्वी, अग्नि आदि पदार्थों का निर्माण संयोग से हुआ हैं और संयोगजन्य पदार्थ कभी भी अनादि नहीं हो सकता है । संयोग से बना हुआ पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं होता है तथा वियोग के पश्चात् भी नहीं होता है । कारण प्रकृति से उत्पन्न यह कार्य रूप जगत महाप्रलय में नहीं रहेगा । सृष्टि प्रलय का चक्र यद्यपि अनादि है, किन्तु कार्य जगत कदापि अनादि नहीं हो सकता और निमित्त कारण ब्रह्म के बिना इस जगत की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । इसको इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है ।

एक नास्तिक था । उसका एक पुत्र था, जो बहुत धार्मिक विचारों का था । उसके द्वारा परमात्मा की उपासना करते हुए देखकर उस नास्तिक ने कहा तुम जिसकी भक्ति करते हो, वह काल्पनिक है । परमात्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । यह संसार अनादि काल से स्वतः ही बना हुआ है । उसके पुत्र ने उस समय तो कुछ नहीं कहा, किन्तु दूसरे दिन कागज पर एक सुन्दर चित्र बनाकर अपने पिता के पास ले गया ।

नास्तिक पिता ने उस चित्र की सुन्दरता की प्रशंसा करते हुए पूछा कि यह चित्र किसने बनाया है ? पुत्र ने उत्तर दिया यह चित्र स्वतः बिना किसी के बनाए हुए ही बन गया है । मेरे कमरे में कागज, पेन्सिल, रंग, ब्रुश इत्यादि सभी रखे हुए थे । अचानक ही कागज पर पेन्सिल स्वयं चलने लगी और चित्र बन गया । पुनः रंग से युक्त ब्रुश स्वयं चित्र पर घूमने लगा और चित्र में रंग भर गया । नास्तिक पिता ने यह सुनकर क्रोधित होकर कहा यह कदापि नहीं हो सकता कि बिना किसी के बनाए स्वयं ही कागज पर चित्र बन जाये ।

पुत्र ने अत्यन्त शांतिपूर्वक उत्तर दिया कि बिना किसी के बनाए यह कैसे सम्भव है कि इतने मनोरम प्राकृतिक दृश्य, सुन्दर-सुन्दर फूल, सूर्य, चन्द्रमा और

भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों का निर्माण हो जाये । इस सृष्टि का निर्माता अवश्य ही कोई चेतन सत्ता है । नास्तिक पिता को अपनी भूल का अनुभव हुआ और उसने भी सृष्टि उत्पत्ति के निमित्त कारण अनादि ब्रह्म की सत्ता को मानना स्वीकार किया ।

**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥**

ऋ. मंडल १०/सू. १९०/मं. ३

पदार्थ—(धाता) उस धारण करने वाले परमात्मा ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा को (दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम्) द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष को (अथः स्वः) और सुखमय लोक को (यथा पूर्वम्) यथापूर्व अर्थात् पूर्व सृष्टि की भांति (अकल्पयत्) निर्मित किया ।

भावार्थ—भ्रान्तित्व रहित होने के कारण उस सर्वज्ञ ब्रह्म की सत्ता में पूर्व सृष्टि में जैसे सूर्य, चन्द्रमा, आकाश इत्यादि बने थे, वैसे ही महाप्रलय के पश्चात् वर्तमान सृष्टि में भी बने हैं तथा इस सृष्टि के विनाश के पश्चात् इसी तरह सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, आकाश आदि का निर्माण होगा, क्योंकि परमात्मा के कार्य में कोई भूल-चूक नहीं होती है ।

प्रश्न—रात्रि के समय आकाश में जो असंख्यों नक्षत्र दिखाई पड़ते हैं, तो क्या इनमें भी मनुष्यादि की सृष्टि हैं?

उत्तर—परमात्मा का कोई भी कार्य निष्प्रयोजन नहीं है । यद्यपि आकाश में दिखाई देने वाले सभी नक्षत्रों में प्रजाओं का वास नहीं है, तो भी उनमें अनेकों लोक ऐसे हैं जिनमें मनुष्यादि सृष्टि हैं । यदि इनमें प्रजाओं का वास नहीं होता, तो इनकी रचना करने का उद्देश्य क्या है? यजुर्वेद के व्याख्या ग्रन्थ-शतपथ ब्राह्मण (१४ प्रपा. ६ ब्रा. ७ कं. ४) के अनुसार—

**एतेषु हीदम् सर्वं वसु हितमेते हीदम् सर्वं वासयन्ते
तद्यदिदम् सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥**

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका नाम वसु इसलिए हैं कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा बसती हैं और ये ही सबको बसाते हैं । ये जीवनोपयोगी पदार्थों और प्राणियों के वास के स्थान हैं, इसलिए इन्हें वसु कहा जाता है ।

प्रश्न—सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में छः शास्त्रों में मतभेद क्यों है ? मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है, ऐसा क्यों ?

उत्तर—सृष्टि की रचना छः कारणों से होती हैं। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक करके छः शास्त्र में की गई हैं। अतः शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों में कहीं भी भेद नहीं है। सृष्टि रचना के छः कारण होने से छः ही शास्त्र बन सकते हैं सात या आठ नहीं। कर्म-चेष्टा किए बिना जगत में कोई भी कार्य नहीं हो सकता, इसकी व्याख्या मीमांसा में है। समय लगे बिना कोई भी पदार्थ नहीं बन सकता है, इसकी व्याख्या वैशेषिक में की गई है।

उपादान कारण प्रकृति के अभाव में सृष्टि नहीं बन सकती, इसकी व्याख्या न्यायशास्त्र में है। विद्या, ज्ञान और विचार के अभाव में कोई भी पदार्थ नहीं बन सकता, इसकी व्याख्या योगशास्त्र में की गई है। तत्वों का मेल हुए बिना सृष्टि नहीं बन सकती हैं, इसकी व्याख्या सांख्यशास्त्र में की गई है। यदि बनाने वाला निमित्त कारण ब्रह्म न हो तो भी सृष्टि नहीं बन सकती है। इसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में की गई है। अतः छः शास्त्रों के सिद्धान्तों में विरोध समझना या देखना उचित नहीं है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।

पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥

यजु. अ. ३१/मं. ६

पदार्थ—(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सबसे ग्रहण किए जाने योग्य (यज्ञात्) पूजनीय पुरुष परमात्मा ने सब (पृषदाज्यम्)¹ दध्यादि भोगने योग्य वस्तु, (सम्भृतम्) सम्यक् सिद्ध उत्पन्न हुए (ये) जो (आरण्याः) वन के सिंह आदि (च) और (ग्राम्याः) ग्राम में उत्पन्न हुई गौ आदि हैं, (तान्) उन (वायव्यान्) वायु के तुल्य गुणों वाले (पशून्) पशुओं को (चक्रे) उत्पन्न किया हैं।

भावार्थ—उस पूजनीय परमात्मा की सत्ता के अन्तर्गत इस ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। इसके अन्तर्गत सभी प्राणियों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के संकल्प से हुई हैं। मोहतत्व (कारण प्रकृति) के अन्दर अक्षर ब्रह्म के तीसरे पाद सबलिक से जो चैतन्य आता है, उसी को ईश्वर पुरुष (गीतोक्त प्रथम या क्षर पुरुष) कहा जाता है। परमधाम में स्थित अक्षर ब्रह्म के मूल स्वरूप से इस क्षर ब्रह्माण्ड के प्राणियों की उत्पत्ति नहीं हुई हैं अपितु उसकी सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले विराट् पुरुष से हुई है।²

¹ 'पृषु सेचने' धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादि कारकमन्नादि वस्तु यस्मिस्तत्पृषत, आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च।

² (वि) उपसर्गपूर्वक (राजू दीप्तौ) इस धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विराट्' शब्द सिद्ध होता है। 'यो विविधं नाम चराञ्चर जगद्रा जयति प्रकाशयति सः विराट्' अर्थात् जो बहुत प्रकार से जगत् को प्रकाशित करे, वह विराट् है।

प्रश्न—यजुर्वेद के इस सम्पूर्ण इक्तीसवें अध्याय में जहां भी 'यज्ञात्' 'सर्वहुतः', इत्यादि पद आए हैं, वे अक्षर ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं, विराट् पुरुष के लिए नहीं हैं। पूर्वोक्त मन्त्र में (तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः) अर्थात् पूजनीय अक्षर ब्रह्म से ही प्राणियों की उत्पत्ति कही गई है, विराट् पुरुष से नहीं। क्योंकि वेद में कहीं भी अक्षर और अक्षरातीत को छोड़कर अन्य किसी को उपास्य नहीं माना गया है ?

उत्तर—क्षर ब्रह्माण्ड का रचनाकार कौन है अक्षर ब्रह्म या विराट् पुरुष ? इस विषय को एक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है—किसी समय प्रधानमंत्री ने किसी बहुत बड़ी जल विद्युत परियोजना को बनाने का निर्णय लिया तथा उसे शीघ्रातिशीघ्र बनाने के लिए किसी अभियन्ता (इंजीनियर) को आदेश दे दिया। उस अभियन्ता की देखरेख में जल विद्युत-परियोजना बनकर तैयार हो गई। यहां यह विचारणीय तथ्य है कि जल विद्युत परियोजना की रचना किसने की ? प्रधानमंत्री ने या देश के अभियन्ता ने ?

यदि प्रधानमंत्री का आदेश न होता और अभियन्ता को परियोजना के निर्माण के लिए आवश्यक साधनों से युक्त नहीं किया गया होता, तो अभियन्ता कदापि जल विद्युत परियोजना का निर्माण नहीं कर सकता था। इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म के आदेश के संकेत मात्र से असंख्यों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, पालन और संहार होता रहता है और इस कार्य को अक्षर ब्रह्म की दो शक्तियां (सबलिक और अव्याकृत) विराट् पुरुष के रूप में सम्पादित करती हैं। इसलिए वेद में सर्वत्र अक्षर ब्रह्म को ही सृष्टि कर्ता माना गया है। पूर्वोक्त मन्त्र में अक्षर ब्रह्म को सृष्टि कर्ता माने जाने का यही कारण है।

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः ।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाताऽअजावयः ॥

यजुर्वेद अ. ३१/मं. ८

पदार्थ—(तस्मात् अश्वो^१ अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और विद्युत आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। (ये के चोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत हों, उन पशुओं को उभयदतः कहते हैं, वे ऊंट, गधा आदि उसी की सत्ता से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह जज्ञिरे) उसी से गो जाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्मात् जाताः अजावयः) इसी प्रकार बकरियां और भेड़ें भी उसी की सत्ता से उत्पन्न हुई हैं।

^१ अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो । निरुक्त अ. २ पा. ७ खं. २७ ॥

पृथिवीस्थ पदार्थप्रसंगे विशिष्टगतिमान् पशुरश्वः, जडाया गतिमत्या नद्या नामभ्य उत्तराणि 'अत्यः' प्रभृतीनि खलु अश्वनामानि षड्विंशतिः सन्ति । अश्वः कथमित्युच्यते, अश्नुतेऽध्वानम्, अश्नुते- इति तु निर्वचनमश्वस्य 'अश्नुते अश्वः' अध्वानमिति तदर्थं सम्बन्ध प्रदर्शनम्, कुत्र अश्नुते-अध्वानं मार्गम् अश्नुते । निरुक्त सम्मर्थ पृ. १२४

भावार्थ—सम्पूर्ण प्राणियों के पंचभौतिक शरीरों और ब्रह्माण्डस्थ सभी पदार्थों का निमित्त कारण 'ब्रह्म' है, पर उपादान कारण कदापि नहीं है।

उसी की सत्ता के अन्तर्गत सभी लोक, लोकान्तर तथा उसमें वास करने वाले प्राणियों की उत्पत्ति होती हैं।

प्रश्न—शारीरिक दृष्टि से जीव सृष्टि के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर—सांख्य दर्शन (अ. ५ सू. १११) के अनुसार—

उष्मजाण्डज जरायुजोद्भिज्जं साङ्कल्पिक सांसिद्धिकं चेति न नियमः ।

अर्थात् उष्मज-खटमल, जूं, लिक्षा, मच्छर इत्यादि; अण्डज-अण्डे से उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि; जरायुज-गर्भ थैली से उत्पन्न मनुष्य आदि; उद्भिज्ज-भूमि को फोड़ कर उगने वाले वृक्ष आदि; साङ्कल्पिक सृष्टि के प्रारम्भ में विराट् पुरुष के संकल्प से उत्पन्न शरीर तथा सांसिद्धिक-स्वतः सिद्ध नैसर्गिक आदि सृष्टि के शरीर। यह छः प्रकार की सृष्टियां शारीरिक दृष्टि से जानी गई हैं। इस पंचभौतिक ब्रह्माण्ड में इन छः प्रकार के शरीरों को जीव धारण करते हैं।

प्रश्न—कर्मफल का भोग जीव के लिए अनिवार्य है, तो क्या वृक्ष और लताएं भी कर्मफल का भोग करते हैं ?

उत्तर—वृक्षगुल्म लतौषधि वनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ।

सांख्य अ. ५/सू. १२२

वृक्ष, गुल्म, लता, औषधि, वनस्पति वीरुध आदि अन्तर्बुद्धि वाले उद्भिज्ज जीवों का भोक्ता के भोग को होना, अर्थात् पूर्व कहे उष्मज आदि जंगम शरीरों के समान समझना चाहिए।

स्मृतेश्च । सांख्य अ. ५/१२३

स्मृति और श्रुति से सिद्ध होता है। श्रुति—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ (कठो. २/५/७)

अन्य जीव मनुष्य आदि योनि को प्राप्त होते हैं, शरीर धारण के लिए कुछ स्थावर वृक्ष आदि को प्राप्त होते हैं, जैसा जिसका कर्म और ज्ञान है।

“अस्य महतो वृक्षस्य यो मूले...

यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ या शुष्यति...

सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति...

जीवापेतं किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते” । छन्दो. ६/११/१-३

यहां कहा गया है कि वृक्ष की एक शाखा को जीव छोड़ देता है, तो वह सूख जाती है, सब को छोड़ देता है, तो सब सूख जाता है। जीव से हीन मरता है, जीव नहीं मरता है। स्मृति भी—

“शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः” । मनु. १२/९

अर्थात् शरीर से हुए कर्म दोषों से मनुष्य स्थावर हो जाता है अर्थात् उसे स्थावर योनियों में जन्म लेना पड़ता है।

“अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख दुःख समन्विताः” (मनु. १/४९) अर्थात् वृक्ष आदि अन्तर्बुद्धि वाले होते हैं, सुख-दुःख से युक्त होते हैं। अतः यह सिद्ध है कि लता, वृक्ष, गुल्म आदि भी कर्मफल का भोग करती हैं।

प्रश्न—मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डारविन का सिद्धान्त क्या है ? इसकी त्रुटियां क्या थीं ?

उत्तर—मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डारविन का सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के पूर्वज^१ अवश्य ही न्यूनाधिक बन्दरों जैसे प्राणी होंगे जो कि लंगूरों के कुल से सम्बन्धित और वनमानुष, चिम्पांजी बन्दर और गुरिल्ला के बाप, दादा के समान रहे होंगे। वे अवश्य बालों से ढंपे हुए और स्त्री-पुरुष दोनों दाढ़ियां रखते रहे होंगे। उनके कान^२ नोकदार और हिलने वाले थे और उनके शरीरों पर हिलने वाली दुम लगी हुई थी। इससे भी पहले के काल में जाएं तो मनुष्य के पूर्वज जल-जन्तु होंगे, जो कि कीचड़ की मछली के समान होंगे। डारविन के इस विकासवाद के सिद्धान्त के विरोधी कारलाइल, कारपेण्टर और क्यूजी आदि प्रसिद्ध विद्वान हैं। इसके विरोध में क्यूजी का कथन इस प्रकार है—विकासवाद का नियम जो कि छोटे प्राणियों से बड़े प्राणियों की उत्पत्ति मानता है, ऐसे चक्र में जिसमें कि क्रम निरन्तर जारी रहे, अन्त में विवश होकर मानता है कि प्रकृति और आत्मा के भेद के सिद्धान्त का समाधान नहीं कर सकता।

विकासवाद की त्रुटियां—विकासवाद के नियम में वह कौन सी चीज है जो इस बात का विश्वास दिलावे कि मनुष्य की इच्छा और आशा कभी पूर्ण होगी और यह कि मनुष्य प्रेम और सभ्यता के ऊंचे से ऊंचे शिखरों पर चढ़ता हुआ पहुंचेगा। भला विकासवाद में वह क्या चीज है जिससे हम भविष्यवाणी के रूप में यह कह सकें कि बन्दरों के रक्तपात और लड़ने के स्वभाव से उच्च कोटि के भले मनुष्य हो जाएंगे। क्यों न यह कहें कि निम्न कोटि के जंगली मनुष्य बन जाएंगे? और यह भला कैसे हो सकता है कि लड़ाई की भावना और बढ़ी हुई जंगली शक्तियां हम को भला बनाएंगी। सारांश यह है कि हमें कोई बतलाए कि विकासवाद के नियम में वह क्या चीज है, जिसके कारण अवश्य ही रक्तपात और

^१ हम्बोल्ट लाइब्रेरी द्वारा प्रकाशित (चार्ल्स डार्विन, हिज लाइफ एण्ड वर्क) पृष्ठ ६३०।

^२ चार्ल्स डारविन द्वारा लिखित ‘दी डीसेंट आफ मैन’।

अत्याचार में से स्वतन्त्रता, दासता में से मुक्ति, स्वार्थ में से परोपकार, अन्याय में से न्याय, भय में से सम्मान, कामवासना में से प्रेम, स्वार्थ सिद्धि के दाव-पेंच में से धर्म और भलाई निकल सकेगी ? विकासवाद का नियम कदापि इन बुराइयों में से इन गुणों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखता हैं।

डारविन के विकासवाद के खण्डन में युक्तियां—

यद्यपि इस समय विस्तार पूर्वक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है कि विकासवाद का सिद्धान्त किस प्रकार के भद्दे जंगली परिणामों से भरा होने के अतिरिक्त युक्ति की चोट को सह नहीं सकता। केवल इस सिद्धान्त के खण्डन में एक प्रसिद्ध आर्य^१ विद्वान के सारगर्भित भाषण का सार अत्यन्त ही संक्षिप्त रूप में देखने योग्य है—

१. यह मान लेना कि डारविन के सिद्धान्तानुसार बाह्य दशाएं किसी वस्तु के स्वभाव को पूर्णतया बदल दें, ठीक नहीं, क्योंकि नीम का वृक्ष कभी भी आम नहीं बन सकता, चाहे बाह्य दशाओं का कितना ही प्रभाव उस पर क्यों न पड़े।

२. डारविन के सिद्धान्तानुसार कहा जाता है कि विभिन्न प्राणी एक ही योनि से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु इस प्रकार की युक्ति देने में वे कूदकर उन नियमों का उल्लंघन कर जाते हैं, जिन पर कि यह सिद्धान्त आधारित है। यह सम्भव है कि एक कुत्ता अपना रंग बदल ले या बाल खो दे, परन्तु यह कल्पना करना भी असम्भव है कि विशेष समय के पश्चात् यह अपने से बढ़िया प्राणी के रूप में बदल जाये। विभिन्न जातियों का मेल कर देने से भी कठिनाइयां दूर नहीं होती।

३. बन्दर अपनी दुम और पांव से बहुत काम लेते हैं और इस सिद्धान्त के अनुसार यह भाग तब लुप्त नहीं होने चाहिए जबकि बन्दर मनुष्य बने। परन्तु चमत्कार यह है कि मनुष्य की दुम (पूंछ) होती ही नहीं इसलिए यह सिद्धान्त असत्य ठहरता है।

४. पूर्वोक्त कारणों से डारविन के सिद्धान्त पर कठोर आक्षेप हो सकते हैं और यह कभी भी सत्य सिद्धान्त कहलाने का अधिकारी नहीं है।

क्या विकासवाद का सिद्धान्त मनुष्य को शान्ति दे सकता है ? क्या इसके मानने वाले विचारक सचमुच भय और अज्ञान के अथाह सागर में नहीं गिरते ? क्या विज्ञान के दीपक में कार्य करने वाले किसी अधिक श्रेष्ठ प्रकाश को टटोलने के लिए हाथ-पांव मारते हुए दिखाई नहीं देते ? आत्म ज्ञान से शून्य, ईश्वर सत्ता की सत्य मान्यता से विमुख, मनुष्य को पशु बनाते हुए भी जीवन और मृत्यु के भेद ये नहीं खोल सकते। विचारशील पुरुष इस विकासवाद के फानूस में

^१ पंडित गुरुदत्त जी विद्यार्थी एम. ए. (आर्य पत्रिका ११ मई, सन् १८८६ से)

लट्टबाजी, नास्तिकपन, अज्ञान और भय का विषैला धुंआ उठता हुआ अनुभव कर रहे हैं।

प्रश्न—भागवत् (स्कन्ध ६ अध्याय ६ श्लोक २५-२९) के अनुसार कश्यप पत्नियों (अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्ठा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि) से सारे प्राणी उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् तिमि के पुत्र जलचर जन्तु और सरमा के बाघ आदि। सुरभि के पुत्र—भैंस, गाय तथा दूसरे दो खुर वाले पशु। ताम्रा की संतान है—बाज, गीध आदि शिकारी पक्षी। मुनि से अप्सरायें हुई। क्रोधवशा के पुत्र हुए—सांप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु। इला से वृक्ष-लता आदि पृथ्वी में होने वाली वनस्पतियां और सुरसा से राक्षस। अरिष्ठा से गन्धर्व और काष्ठा से घोड़े आदि एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए। तो क्या आज के इस बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग में भागवत् का यह कथन सत्य है?

उत्तर—युग कोई भी हो, भौतिकवादी कलियुग या अध्यात्मवादी सत-युग। सत्य सिद्धान्त कदापि परिवर्तित नहीं हो सकते। भागवत का रचनाकार ऋषि-पत्नियों से वृक्ष, लताएं, सर्प, बिच्छू और बाघ इत्यादि की उत्पत्ति का वर्णन करता है जो न किसी सृष्टि में ऐसा पहले हुआ है, न होता है और न भविष्य में होगा। नशे में बेसुध व्यक्ति ही इस प्रकार की कल्पना कर सकता है। योग-दर्शन में भी ऐसी किसी योगजन्य विभूति का वर्णन नहीं है जिसके द्वारा कोई नारी अपने शरीर से वृक्षों, लताओं, बाघ आदि को जन्म दे सकें।

वस्तुतः वेदोक्त कथन (यजुर्वेद अ. ३१/मं. ६, ८) ही सत्य है जिसके अनुसार—सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों की रचना हो जाने पर उस विराट् पुरुष के संकल्प से स्थावर, जंगम सभी प्राणी उत्पन्न हुए। सृष्टि के प्रारम्भिक प्राणी सांकल्पिक माने जाते हैं। सभी मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-लताएं आदि संकल्प से ही पैदा हुए। सांकल्पिक सृष्टि के उत्पन्न मानव युवा शरीर वाले थे, बालक या वृद्ध नहीं। पृथ्वी पर सर्वप्रथम मनुष्यों की सृष्टि त्रिविष्टुप (तिब्बत) में हुई। सांकल्पिक सृष्टि के पश्चात् ही शरीर जन्य प्राणी उत्पन्न होते हैं।

प्रकृति और सर्ग नामक यह प्रथम समुल्लास संपूर्ण हुआ।

द्वितीय समुल्लास

जीव तथा प्रकृति की अनादिता

पूर्व पक्षी—यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के मंत्र ९ ‘स परि अगात् शुक्रम्.....’ में कहा गया है कि ‘व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः’ अर्थात् परमात्मा ने अपनी अनादि प्रजाओं के लिए वेद विद्या का उपदेश किया है। आप ऋषिकृत ग्रन्थों के कथन को मिथ्या कर सकते हैं, किन्तु ईश्वरीय ज्ञान वेद को मिथ्या कैसे सिद्ध कर सकते हैं ?

जिस प्रकार एक सूखी लकड़ी को जलाया जाता है तो केवल राख ही बचती है। इस अवस्था में यही कहा जाता है कि संपूर्ण लकड़ी जल कर समाप्त हो गई है। लकड़ी का भौतिक रूप तो अवश्य समाप्त हो जाता है किन्तु जिन पंच भूतों से एक वृक्ष या लकड़ी का निर्माण हुआ होता है, वे तो समाप्त नहीं होते। राख के रूप में उसका कुछ न कुछ अंश पृथ्वी तत्व के रूप में दिखाई भी पड़ जाता है।

इसी प्रकार, जब कोई व्यक्ति मरता है तो हम यह कह देते हैं कि वह समाप्त हो गया जबकि उसका सूक्ष्म एवं कारण शरीर हर पल उसके साथ रहता है। महाप्रलय में सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी कारण प्रकृति में लय हो जाते हैं और जीव गहन सुषुप्ति की दशा में तब तक चला जाता है जब तक कि पुनः सृष्टि न हो। इसे ही हम सामान्य भाषा में कह देते हैं कि जीव का अस्तित्व समाप्त हो गया। यह कथन वैसे ही है जैसे कि यह कहा जाय लकड़ी जल गई है और राख के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचा है।

जिस प्रकार आपकी मान्यता है कि महाप्रलय के पश्चात् आदि नारायण अपने मूल स्थान अव्याकृत के महाकारण (सबलिक के स्थूल) अर्थात् सुमंगला-पुरुष को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार आपको यह भी मानना पड़ेगा कि महाप्रलय के पश्चात् समस्त जीव चैतन्य अपने सूक्ष्म तथा कारण शरीरों का परित्याग करके कारण प्रकृति की गाढ़ निद्रा में निमग्न हो जाते हैं। चेतन तत्व का जब सूक्ष्म अथवा कारण प्रकृति से संयोग होता है तभी उसकी जीव संज्ञा होती है। निर्वीज समाधि की अपनी शुद्ध अवस्था में उसे ‘आत्मा’ कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है। जलायी हुई लकड़ी का जो अंश जल, वायु, अग्नि तथा आकाश में परिवर्तित हो जाता है उसे लकड़ी नहीं कहते, उसी प्रकार कारण प्रकृति की सुषुप्ति अवस्था में स्थित चैतन्य को भी अस्तित्व विहीन मान लिया जाता है।

इसी प्रकार, जब सृष्टि का पुनः आविर्भाव होता है तो अक्षर ब्रह्म का मन स्वाप्निक रूप में आदि नारायण के रूप में प्रकट होता है तथा प्रकृति में क्षोभ होकर महत् तथा अहंकार की रचना होती है जिनसे कारण एवं सूक्ष्म शरीरों का प्रकटीकरण होता है। इस अवस्था में सुषुप्ति में पड़े हुए सभी चैतन्य अपने कारण एवं सूक्ष्म शरीरों को पुनः प्राप्त हो जाते हैं जिसे जीवों का प्रकट होना कहते हैं। आदि नारायण के संकल्प से ही यह सारी प्रक्रिया संपादित होती है इसलिए आदि नारायण को ही इन जीवों को प्रकट करने वाला कहते हैं। इसी आधार पर अंश-अंशी अथवा प्रतिबिम्ब वाद की कल्पना की जाती है। अंश-अंशी का सिद्धांत मानने पर तो ब्रह्म का स्वरूप ही खंडित हो जाएगा क्योंकि वह छेदन-भेदन से रहित है। प्रतिबिम्ब वाद का सिद्धांत आलंकारिक कथन है।

इसका आशय यह है कि जीव भी निर्वीज समाधि को प्राप्त होकर आदि नारायण की भांति बेहद मंडल के ब्रह्मानंद को प्रतिबिम्बित रूप में उसी प्रकार भोग सकता है, जिस प्रकार आदि नारायण भोगते हैं। इस प्रकार आदि नारायण, जीव तथा प्रकृति तीनों ही ऋग्वेद (१/१६४/२०), अथर्ववेद (९/९/२०), मुण्डकोपनिषद् (३/१/१) के इस कथन की कसौटी पर खरा उतरते हैं जिनमें ‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते’ कहा गया है। ‘शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्रा’ (यजु० ११/५) का कथन भी तभी सार्थक सिद्ध होता है। तारतम वाणी में भी अनेक स्थानों पर निराकार (मोह सागर) से ही जीवों का प्रकट होना कहा गया है कहीं भी आदि नारायण के स्वरूप से प्रकट होना नहीं माना गया है। ‘ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः’ गीता (१५/७) का कथन है, जो वैष्णव मत के विद्वानों द्वारा मिश्रित किया गया है।

उत्तर पक्षी—यद्यपि, आपके तर्क अकाट्य हैं किंतु ऐसी स्थिति में तारतम वाणी^१ के “उपज्यो मोह सुरत संचरी, खेल हुआ माया विस्तरी” तथा “ना ईश्वर ना मूल प्रकृति, ता दिन की कहूं आपा बीती” एवं “नाहीं निराकार नाहीं सुन्य” आदि कथनों की संगति कैसे बैठेगी ?

पूर्व पक्षी—जिस प्रकार शक्कर को जल में घोल देने पर वह दिखाई नहीं पड़ती तथा अन्य व्यक्ति उसे देखने मात्र से तब तक यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं होता कि इसमें शक्कर घूली हुई है। जिह्वा से चखकर ही वह मानता है कि इसमें शक्कर घूली हुई है क्योंकि घूली हुई शक्कर की सूक्ष्मता जल से भी अधिक है, जो जिह्वा के द्वारा अनुमान से ग्राह्य हो सकती है किन्तु नेत्रों की दृष्टि में नहीं आती।

इसी प्रकार, मन-बुद्धि के द्वारा ही अनुमान आदि प्रमाणों तथा तर्क-वितर्क आदि के द्वारा प्रकृति के स्वरूप के निर्धारण का प्रयास किया जाता है

^१ प्रकाश हिन्दुस्तानी ३७/ २३, १५, १४

किन्तु तारतम वाणी का कथन उस अवस्था का है जब मन-बुद्धि का कोई अस्तित्व ही नहीं था। क्योंकि मन-बुद्धि तो महत् तत्व से उत्पन्न होते हैं जो कारण प्रकृति के विकार-मात्र हैं। जब प्रकृति अपनी साम्यावस्था में कारण रूप में रहती है तो जीव भी गहन अज्ञानावस्था में रहते हैं। उस समय ब्रह्म के अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं होता जो कारण प्रकृति के संबंध में कुछ भी जान सके या किसी तर्क, प्रमाण से जानने में सक्षम हो सके। यही कारण है कि मनुस्मृति (१/५) में 'अप्रतर्क्यम् अविज्ञेयम् प्रसुप्तमिव सर्वतः' कहकर वर्णित किया गया है। किन्तु हम ऐसा नहीं कह सकते कि उस समय प्रकृति थी ही नहीं या जीव नहीं थे, किन्तु ऐसी दशा में थे जिनका वर्णन हो पाना संभव नहीं है।

जिस प्रकार सत्व, रज तथा तम द्रव्य भी हैं और गुण भी हैं उसी प्रकार मोह और अज्ञान वस्तुतः गुण हैं किन्तु उन्हें कारण प्रकृति का स्वरूप भी कहा गया है। तारतम वाणी के जिन कथनों में ऐसा कहा गया है कि पहले न तो आदि नारायण थे और न मोह या निराकार-निर्गुण (कारण प्रकृति), तो इस का आशय यह है कि बुद्धिगम्य न होने से इनके अस्तित्व का वर्णन नहीं किया गया है। इसे इस दृष्टांत से समझा जा सकता है कि एक बार महर्षि दयानंद ने ५-७ वर्ष की खेलती हुई बच्चियों को देखकर अपना सिर झुका लिया। सहचर पौराणिक के प्रश्न करने पर दयानंद जी ने कहा कि मैंने उस मातृ-शक्ति को प्रणाम किया है जिसने हमें जन्म दिया है।

अब प्रश्न यह है कि जब ५ वर्ष की बालिका महर्षि की मां नहीं हो सकती तो उन्होंने उसे मातृ-शक्ति क्यों कहा? क्या उनका कथन मिथ्या नहीं है? इसका समाधान यह है कि संसारी लोगों की दृष्टि में वह बालिका है किन्तु महर्षि की दृष्टि में वह मां के समकक्ष है क्योंकि उसमें उन्हें अपनी मां की छवि दिखाई पड़ रही है।

ठीक इसी प्रकार, जो तथ्य मानवीय बुद्धि से परे हो, उनका वर्णन करने के स्थान पर ऐसा कह दिया गया कि वह था ही नहीं। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह भी उठता है कि ब्रह्म भी तो मन-बुद्धि से परे है तो उसका वर्णन करने की आवश्यकता क्यों हुई? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ब्रह्म ही जीवन का परम लक्ष्य है, सबका आधार है, उसे विस्मृत कर देने पर बचता ही क्या है? कठोपनिषद् (३/१०-११) में कहा गया है कि—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेः आत्मा महान् परः ॥

महतः परम् अव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं न किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

अर्थात् इन्द्रियों से सूक्ष्म उनके विषय हैं जिनसे सूक्ष्म मन है। मन से भी सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म आत्मा (जीव) है। महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) से सूक्ष्म अव्यक्त कारण प्रकृति है और उससे भी सूक्ष्म ब्रह्म है।

यही कारण है कि तारतम्य वाणी के पूर्व कथन में सबके प्रतिपाद्य विषय अक्षर-अक्षरातीत का वर्णन किया गया है, उसके पश्चात् सृष्टि रचना का प्रसंग आता है।

उत्तर पक्षी—किंतु तारतम्य वाणी में तो यह कहा गया है कि मैं उस समय की बात बता रहा हूँ जब न तो आदि नारायण थे और न मोहतत्व (कारण प्रकृति)। उस समय ब्रह्म के मन में सृष्टि-रचना की इच्छा भी नहीं हुई थी अर्थात् मूल-प्रकृति भी नहीं थी। आप अपने शब्द-जाल में बांधकर कैसे कह सकते हैं कि उस समय कारण प्रकृति भी थी ? आप अद्वैत ब्रह्म के समानान्तर दो अनादि शक्तियों जीव एवं प्रकृति का अस्तित्व क्यों मान रहे हैं ? क्या ‘शाश्वतीभ्यः समाभ्यः’ का अर्थ प्रवाह से अनादि प्रजा नहीं हो सकता और अमृत पुत्र का आशय महाप्रलय तक अविनाशी होने से नहीं लिया जा सकता ?

पूर्व पक्षी—आपके कथनों में आदि शंकराचार्य के “नवीन वेदांत” की झलक मिलती है। जिन्होंने जड़ शून्यवाद के खंडन में चेतन अद्वैतवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार एकमात्र चैतन्य ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। संपूर्ण सृष्टि उसकी लीला का विलास है। वह ही अविद्या से ग्रसित होकर स्वयं को जीव रूप में मानने लगता है। इतना होने पर भी अनादि अविद्या के रूप में उन्हें भी कारण प्रकृति को परोक्ष रूप में मानना ही पड़ा था।

हमारे अद्वैतवाद की मान्यता यह है कि जीव और प्रकृति पर ब्रह्म का स्वामित्व है। वह ही दोनों का आधार है। उसके समान अन्य कोई भी नहीं है। भले ही तीनों अनादि हैं किंतु जिस प्रकार परब्रह्म अनंत ज्ञान, शक्ति एवं आनंद से युक्त हैं, उस प्रकार जीव और प्रकृति में अनन्तता का इस प्रकार कोई भी गुण नहीं है।

यदि यह प्रश्न किया जाए कि प्रकृति की अनादिता ब्रह्म के समानान्तर किस प्रकार हो सकती है तो इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप है। उसका कार्य सत्य सिद्धांत के अनुसार ही होता है। यदि जड़ प्रकृति का अस्तित्व नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह होता है कि जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, सुख-दुख के इस संसार का व्यवहार कैसे चलेगा ? क्या चेतन प्राणी चेतन ब्रह्म का ही आहार करेंगे ? जन्म और मृत्यु का चक्र भी कैसे चलेगा ? इस जड़ रूप जगत् का निर्माण उपादान कारण प्रकृति से हुआ मानना पड़ेगा। जिस प्रकार चेतन व्यक्ति के बाल एवं नाखून बढ़ जाने पर (रक्त-संचरण से दूर) जड़ होते हैं किन्तु उन्हें चेतन से पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ब्रह्म के समानान्तर प्रकृति की भी

अनादिता को समझना चाहिए। इसी प्रकार, महाप्रलय में भी उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।

उत्तर पक्षी—यजुर्वेद (३१/१८) के पुरुष सूक्त का कथन है कि ‘आदित्यवर्णं तमसस्परस्तात्’ अर्थात् सूर्य के समान प्रकाशमान अखंड स्वरूप वाला वह परब्रह्म माया के अंधकार (तमस्) से सर्वथा परे है। इसी प्रकार ऋग्वेद (१०/१२९/३) के नासदीय सूक्त का कथन है कि ‘तम आसीत् तमसा गुह्यमग्रे’ अर्थात् यह कारण रूप यह जगत् ब्रह्म के सम्मुख एकदेशी था और अंधकार से आवृत् था। ऐसी अवस्था में आप यदि “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय” मंत्र में वृक्ष ऐसा अर्थ लेते हैं कि वृक्ष रूपी प्रकृति के आश्रय में दो पक्षी जीव और ब्रह्म विद्यमान है तो यह कहां तक उचित होगा। ब्रह्म तो प्रकृति एवं जीव का भी आश्रय दाता है। सभी उसके ही आधार में स्थित हैं। तमस् (अज्ञान रूप अंधकार) के आधार में ब्रह्म को विद्यमान कहना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

इस संबंध में महर्षि दयानंद जी का सत्यार्थ प्रकाश में कथित वह व्यक्तव्य देखने योग्य है—“उस अखंड एकरस ब्रह्म स्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है किंतु ये पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमात्मा के आधार में स्थित है।” उपरोक्त तथ्य यही सिद्ध करना है कि इस प्राकृतिक जगत् में जीव-रूपी पक्षी के अतिरिक्त जो दूसरा पक्षी है वह ब्रह्म नहीं अपितु विराट् पुरुष (आदि नारायण, ईश्वर, शबल ब्रह्म) है। ब्रह्म तो प्रकृति से परे अपने अखंड, चेतन, अमृतमयी धाम में विराजमान है जिसके लिए वेद में ‘यत्र ज्योतिः अजस्त्रं यस्मिन् लोके स्वरहितम्^१ सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्^२’ आदि कथन हैं। जो इस ग्रंथ में आगे दिए गए हैं।

इस प्रकार ब्रह्म के संकल्प से जब मोह सागर (कारण प्रकृति) का प्रकटन होता है तो उस में ब्रह्म का मन प्रतिबिम्बित होकर आदि नारायण के रूप में स्वयं को देखता है। ‘सोऽकामयत बहुःस्यां प्रजायेयेति’ (तैत्तिरीय उप० २/६/४) के अनुसार वह अपने संकल्प बल से अनंत प्राणियों के रूप में स्वयं को देखने लगता है। इस प्रकार जीव, प्रकृति और शबल ब्रह्म (ईश्वर, आदि नारायण) समान अवस्था वाले हैं और प्रवाह से अनादि हैं, मूल से नहीं।

इस संबंध में पुरुष सूक्त^३ का यह कथन भी देखने योग्य है—“**त्रिभिः पदभिः द्यामरोहत् पादस्येह अभवत् पुनः**” अर्थात् ब्रह्म तीनों पादों में अखंड रूप से प्रकाशमान हो रहा है और उसका मनरूप चौथा पाद अव्याकृत अपने संकल्प के द्वारा बार-बार सृष्टि को प्रकट करता है अर्थात् जीव समूह एवं कारण प्रकृति को व्यक्त करता है। “**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**” का आशय भी इसी संदर्भ में ग्रहण करना चाहिए।

^१ ऋ. ९/११३/७

^२ अथर्व. १७/१/८

^३ अथर्ववेद १९/६/२

ऋग्वेद (१/२३/१९) तथा अथर्ववेद (१/४/३) में 'अप्सु अन्तः अमृतम्' कहा गया है, जिसका आशय यह है कि जल में जीवन दायिनी शक्ति है। आप ऐसा नहीं मान सकते हैं कि एकबार ही जल का पान करने पर मनुष्य अनंत काल के लिए अमर हो जाएगा। इसी प्रकार 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा' का भी भाव समझना चाहिए कि महाप्रलय तक जीव किसी भी स्थिति में नष्ट नहीं होता। उसे किसी भी अस्त्र, शस्त्र, अग्नि या सूर्य के तेज से उसे नष्ट नहीं किया जा सकता।

निजानंद दर्शन का तो स्पष्ट मंतव्य है कि—

माया मोह अहंकार थे, ए सबे उतपन ।
अहंकार मोह माया उड़ी, तब कहां है ब्रह्म वतन ॥ किरंतन २८/२
ए चौदे चुटकी में चलजासी, गुन निरगुन सुन्य तत्व ।
निराकार निरंजन सामिल, उड़ जासी ज्यों असत ॥ किरंतन ७४/८
तब जीव को घर कहां रह्यो, कहां खसम वतन । किरंतन २१/४
जब प्रले प्रकृति होई, ना रहे अद्वैत बिना कोई ।
एक अद्वैत मंडल इत, धनी अंगना के अंग नित ॥ परिक्रमा ३/३

निःसंदेह जीव एवं प्रकृति के यथार्थ स्वरूप को पूर्ण रूप से समझ पाना मानवीय बुद्धि के लिए असंभव है। यह विचारणीय तथ्य है कि हम मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणियों को देखकर "अहम् ब्रह्मास्मि^१, य आत्मनि तिष्ठन् अन्तरो यमात्मा न वेद^२, तत् त्वमसि^३" जैसे दिव्य वाक्यों का कथन तो कर देते हैं कि हम जीव रूप उस अमीबा के विषय में नहीं सोचते जो 'अष्ट चक्रा नव द्वारा' से रहित है। एक ही दिन में एक ही मानव तन में करोड़ों की संख्या में बढ़ जाने वाले रोग के जीवाणुओं के विषय में भी नहीं सोचते अथवा दही, दूध, वायु या अन्य खाद्य पदार्थों में प्रकट होने वाले उन करोड़ों बैक्टीरिया के भी विषय में नहीं सोचते कि इन्हें जड़ कहा जाए अथवा चेतन जीव, यदि ये जीव नहीं हैं तो इनमें वृद्धि का गुण कहां से आया? क्या धूल के कणों में भी वृद्धि होती है?

अथर्ववेद के इस कथन को हमें हृदयंगम करना ही होगा—

इयं विसृष्टिः यत् आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योम्न् सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋ. १६/१२९/७

^१ शतपथ ब्रा. ४/३/२/२१

^२ बृ० ३०/७/२२, शतपथ ब्रा. १४/६/७/(३०)

^३ छान्दो. उ. ६/८/७

अर्थात् सृष्टि के वास्तविक रहस्यों को आनंदमयी धाम में विद्यमान परमात्मा ही जानता है।

अपनी मानवीय बुद्धि से परम सत्य को मात्र अंश रूप में हम जान सकते हैं, पूर्ण रूप में नहीं। अपौरुषेय वेद एवं तारतम वाणी के कथनों को यथार्थ रूप में जानने के लिए हमें अपनी अंतरात्मा की पुकार को सुनना पड़ेगा। मात्र शुष्क तर्कों एवं अनुमान से यथार्थ सत्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—हम भी महाप्रलय में जीव और प्रकृति को अव्यक्त ही मानते हैं अर्थात् ये दोनों सूक्ष्मता की उस पराकाष्ठा में होते हैं जिसे किसी भी प्रमाण, तर्क या बुद्धि के द्वारा नहीं बताया जा सकता। इसे ही आप अस्तित्व विहीनता मान रहे हैं। जल में शक्कर को घोलने के बाद देखने मात्र से क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि वह है ही नहीं? हमारी और आपकी विचारधारा में केवल यही अंतर है कि हम स्वरूप की दृष्टि से अव्यक्त मानते हैं और आप इच्छा शक्ति में अव्यक्त मानकर स्वरूप की अस्तित्व विहीनता मानते हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वप्न देखता है तो जागृत होने पर सर्प अवश्य नष्ट हो जाएगा, किंतु उसके चित्त में तो सर्प का अस्तित्व और उसका संस्कार बसा ही रहेगा, तभी तो वह पुनः सर्प का स्वप्न देख सकेगा। इस आधार पर प्रकृति की अनादिता सिद्ध होती है।

उत्तर—हम भी तो यही कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न द्रष्टा अपने चित्त के संस्कारों वश स्वप्न देखता है उसी प्रकार ब्रह्म के चित्त में सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और लय का बीज है। **कामस्तदग्रे..... मनसो रेतः यद् प्रथम् आसीत्¹**। ब्रह्म के मन में सृष्टि रचना की इच्छा ही मूल प्रकृति है जिससे सत्व, रज और तम की साम्यावस्था वाली प्रकृति का प्राकट्य होता है। आप स्वप्न के दृष्टान्त से तो हमारे ही कथन की पुष्टि कर रहे हैं।

प्रश्न—चेतन प्रकृति से चेतन सृष्टि की रचना हो सकती है किंतु जड़ प्रकृति की रचना कैसे हो सकती है? हमारा कथन दार्शनिक भाषा में है और वेदानुकूल है। आपका कथन भी हमारी मान्यताओं को ही पुष्ट करता है। अंतर केवल इतना ही है कि आप लोकभाषा में अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत करते हैं। यह कैसे संभव है कि अनंत प्रकृति चित्त से प्रकट हो और चित्त में ही विलीन हो जाय? यह अवश्य है कि अनंत जीव समूह तथा अनंत सृष्टि महाप्रलय के पश्चात् उस अव्यक्त अवस्था में चले जाते हैं, जिसे आप समाप्त हो जाना कह दे रहे हैं और व्यक्त दशा में आ जाने की प्रक्रिया को आदि नारायण (ईश्वर) के संकल्प से पुनः उत्पन्न हो जाना कह रहे हैं।

उत्तर—यदि मात्र मानवीय बुद्धि और तर्क प्रमाण से ही परम सत्य को जाना जाता तो संसार के अधिकतर व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी होते। सृष्टि रचना से पूर्व

¹ ऋ. १०/१२९/४

की स्थिति में हम प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। हम शब्द प्रमाण से सत्य को अपने स्तर से समझने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तविक सत्य मात्र परब्रह्म को ही ज्ञात है या हम समाधि अवस्था में उसे जान सकते हैं। शेष सामान्य अवस्था में हम अपनी अन्तरात्मा की निष्पक्ष पुकार को सुनने का प्रयास करें। इसी में सत्य की स्थापना होगी।

प्रश्न—क्या यह संभव नहीं कि जिस प्रकार लकड़ी को जलाने पर यह कहा जाता है कि लकड़ी जलकर समाप्त हो गई, कुछ भी नहीं बचा तथा सोते हुए व्यक्ति को यह कह दिया जाता है कि वह तो इस प्रकार सो रहा है, जैसे मर गया है, उसी प्रकार जब महाप्रलय में कार्य प्रकृति का लय होता है तो वह अव्यक्त कारण प्रकृति के रूप में हो जाती है, जिस के स्वरूप की व्याख्या मन, बुद्धि के धरातल पर नहीं हो सकती। इस प्रकार इस अवस्था को अतिशयोक्ति अलंकार की भाषा में कह दिया जाता है कि प्रकृति का अस्तित्व समाप्त हो गया है। स्थूल लकड़ी को जलाने पर उसका पृथ्वी तत्व और जल तत्व सूक्ष्म होकर अग्नि तत्व, वायु तत्व तथा आकाश तत्व में विलीन हो जाता है किंतु मूल द्रव्य का नाश नहीं होता। क्या मूल द्रव्य के दिखाई न देने से हम ऐसा कह सकते हैं कि वह है ही नहीं ?

जिस प्रकार मुख से निकले हुए शब्द को हम यदि सुरक्षित (रिकॉर्ड) नहीं करेंगे तो वह आकाश तत्व में लय हो जाएगा। लय होने से पूर्व उसे सुरक्षित कर लेने पर हम उसे बार-बार सुनते हैं और कहते हैं कि यह शब्द है। वास्तविकता यही है कि आकाश से शब्द (ऊर्जा) का प्रकटन होता है और पुनः उसका अपने कारण में विलीनीकरण होता है। इसी प्रकार कारण प्रकृति में कार्य प्रकृति के लय हो जाने को कारण प्रकृति की अस्तित्व हीनता कहते हैं। ऐसा कथन मात्र आलंकारिक है। ठीक, यही स्थिति जीव की उत्पत्ति के संबंध में भी है। महाप्रलय में जब जीव सुषुप्ति अवस्था में होता है तो अतिशयोक्ति अलंकार की भाषा में कहा जाता है कि वह है ही नहीं। क्योंकि उसे व्यक्त रूप में आने के लिए कारण या सूक्ष्म शरीर चाहिए।

सृष्टि के प्रारम्भ में जब प्रकृति में विक्षोभ होता है तो महत्तत्त्व तथा अहंकार की उत्पत्ति के पश्चात् जीवों को कारण एवं सूक्ष्म शरीर प्राप्त होते हैं अर्थात् वे प्रकाश में आ जाते हैं। इसी को जीवों का उत्पन्न होना कहा जाता है। नारायण उन्हें कारण प्रकृति की सुषुप्ति से निकालकर कार्य प्रकृति में लाते हैं इसलिए उन्हें जीवों को प्रकट करने वाला कहा जाता है। यदि जीव को अनादि नहीं मानेंगे तो परमात्मा की न्याय व्यवस्था पर दोष लग जाएगा, क्योंकि सभी प्राणियों की सुख, दुख, ज्ञान आदि में समान सहभागिता नहीं हो जाएगी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सांकल्पिक प्रतिबिम्बित चेतन के सिद्धांत का आशय भी कारण प्रकृति से जागृत होकर व्यक्त दशा में आने से है। यह भी

अतिशयोक्ति अलंकार की भाषा है जो तारतम वाणी में अनेक स्थलों पर दर्शायी गई है, जैसे—कोट करो नरमेध, अश्वमेध अनंत । कि. १२७/२, कोट बेर मासूक पर उड़ाए देवें अपना तन । कि. ९१/१, कर देखाई कोट बेर, तोहे ना मिलो करतार । कि. १३२/१, रोम रोम कई कोट अवगुण । कि. ४१/१०

क्या तारतम वाणी के उपरोक्त कथनों को आप स्थूल अर्थ में ले सकते हैं ? यदि नहीं तो मेरे पूर्व कथन में भी ऐसा ही समझिए ।

उत्तर—वास्तविक सत्य तो मात्र परब्रह्म ही जानते हैं । मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि हमें तारतम वाणी, वेद एवं अपनी अन्तरात्मा की निष्पक्ष साक्षी के अनुसार जो सत्य प्रतीत हो उसे ही ग्रहण करना चाहिए ।

‘उपज्यो मोह सूरत संचरी, खेल हुआ माया विस्तरी’ प्रकाश हिन्दुस्तानी (३७/२३) तथा ना ईश्वर ना मूल प्रकृति, ता दिन की कहुं आपा बीती, प्रकाश हिन्दुस्तानी (३७/१५) से यह स्पष्ट है कि जीव तथा प्रकृति प्रवाह से अनादि है, मूल रूप से नहीं । अथर्ववेद के कथन ‘माया ह जज्ञे मायया’^१ ‘पादस्येह अभवत् पुनः’^२ आदि के कथनों से तारतम वाणी का कथन सत्य है । सत्य को अन्तरात्मा की साक्षी एवं समाधिस्थ प्रज्ञा से जानने का प्रयास करना चाहिए । प्रकृति एवं जीव के उपरोक्त विवाद का समाधान मात्र तर्कों से होना असंभव है, अतः परब्रह्म की कृपा के सहारे वास्तविक सत्य को जानने का प्रयास करना चाहिए ।

जिस प्रकार एक योगसिद्ध व्यक्ति के शरीर से तेजोमय प्रकाश प्रकट हो जाता है और प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार अव्याकृत (सुमंगला-पुरुष) के संकल्प मात्र से मोह सागर (सूक्ष्मतम कारण प्रकृति) का प्रकटन हो सकता है । जैसे प्रकाश योगसिद्ध पुरुष के मानसिक संकल्प से प्रकट होता है, वह शरीर में विद्यमान नहीं होता है । वैसे ही प्रकृति एवं जीव के अस्तित्व के संबंध में सोचना चाहिए । सत्व, रज, तम को अनादि मानने का कथन वैसे ही है जैसे जड़ प्रकाश के फोटॉन कणों की भांति योगसिद्ध पुरुष के शरीर से निकलने वाले प्रकाश या जीव के प्रकाश में फोटॉन कणों का अस्तित्व मानना ।

जिस प्रकार एक शिक्षक वर्ष भर अपने विद्यार्थियों को शिक्षा देता है । उसमें जो विद्यार्थी प्रथम दिन से ही निष्ठापूर्वक अध्ययन करते हैं वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं और उच्च पद प्राप्त करते हैं । किंतु, जो विद्यार्थी आलस्य-प्रमाद के वशीभूत होकर प्रारम्भ से ही पढ़ाई नहीं करते अपितु परीक्षा प्रारम्भ होने के मात्र दो माह पूर्व से ही अध्ययन प्रारम्भ करते हैं वे उत्तीर्ण तो हो जाते हैं, किंतु तृतीय श्रेणी में । ऐसे विद्यार्थी जीवन में उच्च पद प्राप्त नहीं कर पाते । इसमें दोष किसका माना जाए ? निःसंदेह इसमें विद्यार्थी ही दोषी है क्योंकि उसने

^१ अथर्ववेद ८/९/५

^२ अथर्ववेद १९/६/२

आलस्य-प्रमाद के वशीभूत होकर सही समय पर अध्ययन नहीं किया। अध्यापक ने तो समान रूप से सबको पढ़ाया था।

ठीक, इसी प्रकार यदि कोई जीव महाप्रलय से कुछ समय पूर्व ही मुक्ति लाभ प्राप्त करता है तो उसे उतना ही सुख मिलेगा जितने समय के लिए सृष्टि का अस्तित्व रहेगा। इससे परमात्मा की न्याय व्यवस्था में कोई दोष नहीं आ सकता क्योंकि जिसने जितना पहले मुक्ति लाभ प्राप्त किया, वह उतने समय तक सुख भोगा। शास्त्रों में कैवल्य कहकर जिस मुक्ति सुख का वर्णन किया गया है, वह प्रकृति मंडल के अंदर की मुक्ति है, चतुष्पाद विभूति की नहीं। चतुष्पाद विभूति प्रकृति से परे पूर्णतया त्रिगुणातीत अवस्था है, उसे प्राप्त करने वाले अनंत काल तक ब्रह्मानंद का सुख लेते हैं किंतु प्रकृति में चतुष्पाद विभूति के सुख का जो प्रतिबिंब पड़ता है, वही कैवल्य सुख के रूप में प्राप्त होता है। इसी को मुण्डकोपनिषद् (३/२/६) में कहा गया है कि “ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।”

उपनिषद् के उपरोक्त कथन में ‘ब्रह्मलोकेषु’ शब्द प्रयोग हुआ है। जिसका आशय इस ब्रह्मांड के सभी लोकों से है। वस्तुतः अक्षर ब्रह्म के मन अव्याकृत का प्रकृति के सूक्ष्मतम स्वरूप मोह सागर में जो सांकल्पिक प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ही आदि नारायण हैं उसी का साक्षात्कार करके योगीजन कैवल्य अवस्था को प्राप्त करते हैं। उपनिषदों में मुक्ति सुख का जो समय ३१ नील १० खरब और ४० अरब वर्ष है, वही आदि नारायण का भी समय है। कैवल्य को प्राप्त होने वालों को भी वही आनंद मिलता है, जो आदि नारायण को प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद् (८/१२/४-५) में कहा गया है—शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन्, त्वा ग्रभवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति।

शतपथ का. १४/१/२/१७

ऐसी अवस्था में प्रश्न यह होता है कि मुक्ति सुख में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, नासिका, त्वग् तथा चक्षु आदि की रचना कैसे और किस पदार्थ से होती है। त्रिगुणात्मक जगत में ही इनकी उत्पत्ति और अदृश्यता का होना संभव है।

इससे यह स्पष्ट है कि मुक्ति सुख का यह वर्णन सूक्ष्मतम प्रकृति के अंदर का है त्रिगुणातीत चतुष्पाद विभूति का नहीं। ‘न च पुनरावर्तते’ छान्दो. उ. (८/१५/१) का कथन इसी संबंध में है। वह जीव जहां जन्म-मरण के चक्र में पड़कर प्रकृति का सुख भोगते हैं, वही मुक्त जीव आदि नारायण के सृष्टि में अस्तित्व रहने तक निराकार मंडल की मुक्ति का सुख भोगते हैं।

प्रश्न—क्या प्रकृति अनादि नहीं है ?

उत्तर—श्वेताश्वतरोपनिषद् (४/१०) में कहा गया है कि “मायां तु प्रकृतिं विधात् मायिनं तु महेश्वरम्” अर्थात् प्रकृति को माया तथा इसके स्वामी को परमात्मा जानना चाहिए । जिस प्रकार सूर्य में तेजस्विता, चन्द्रमा में शीतलता, सागर में लहर एवं सौन्दर्य में कान्ति का अस्तित्व होता है, उसी प्रकार अनादि ब्रह्म की अनादि प्रकृति भी है किन्तु वह ब्रह्म के गुणों के अनुकूल है । अक्षर ब्रह्म की चतुष्पाद विभूति में माया के अलग-अलग नाम हैं जैसे—प्रथम पाद सत् स्वरूप की प्रकृति को मूल माया, द्वितीय पाद को आनन्द योगमाया, तृतीय पाद को चिद्रूप माया तथा चौथे पाद को सद्रूप माया कहते हैं । ये सभी अखण्ड और चेतन हैं । चौथे पाद अव्याकृत की प्रकृति का प्रतिबिम्ब रूप यह जड़ माया है जिसे अथर्ववेद (८/९/५) में ‘माया ह जज्ञे मायया’ अर्थात् अनादि माया से यह त्रिगुणात्मक जड़ माया उत्पन्न हुई है, ऐसा कहा गया है । यह जड़ माया प्रवाह से अनादि है । इसे ही तारतम्य वाणी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

ए माया आद अनाद की, चली जात अन्धेर ।

निरगुन सरगुन होए के व्यापक, आए फिरत है फेर ॥

किरंतन ६५/१

अनादि ब्रह्म की यह माया सृष्टि के प्रारम्भ में ही अज्ञान रूपा है जो सृष्टि के सभी प्राणियों को अपने बन्धन में बांधें रखती हैं । यद्यपि यह अपने मूल कारण रूप में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध आदि गुणों से रहित है, किन्तु कार्य रूप में इन गुणों को धारण कर लेती है । इसका मूल रूप कार्य रूप जगत (सगुण) में अति सूक्ष्म रूप से व्यापक ही रहता है ।

प्रश्न—दर्शन-शास्त्र का सिद्धांत है कि जिस वस्तु का पहले अभाव होता है, वह बाद में भी होता है अर्थात् जो वस्तु पहले नहीं होती है वह बाद में भी नहीं होती है । यदि प्रकृति (कारण) पहले नहीं थी तो वह कार्य रूप में बाद में भी नहीं रहेगी । इस सम्बन्ध में गीता (२/१६) का कथन है—‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः’ ।

उत्तर—गीता^१ के अध्याय में ब्रह्म की दो प्रकृतियों का वर्णन है परा तथा अपरा ।

भूमिः आपो अनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च ॥

अहंकार इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अपरा इयं इतः तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

^१ गीता ७/४-५

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार ये सभी अपरा प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं। परा प्रकृति वह है जिससे सम्पूर्ण प्राणीमात्र को धारण किया जाता है।

उपरोक्त कथन में परा शक्ति का सम्बन्ध अक्षर ब्रह्म की उस चतुष्पाद विभूति से है जिसके सम्बन्ध में पुरुष सूक्त¹ में कहा गया है कि—

त्रिभिः पद्भिः द्यामरोहत् पादस्येह भवत् पुनः ।

अर्थात् इसके तीन पाद विशुद्ध चेतन प्रकाशमय तथा अखण्ड है और चौथे पाद से बार-बार सृष्टि प्रकट होती है।

अक्षर ब्रह्म का चौथा पाद अव्याकृत ही इस कारण प्रकृति तथा ईश्वर (शबल ब्रह्म) को प्रकट करता है। तारतम्य वाणी में कहा गया है कि ‘तू कहा देखें इन खेल में, ए तो पड्यो सब प्रतिबिम्ब’ के कथनानुसार कारण प्रकृति के सूक्ष्मतम परमाणु अव्याकृत के चैतन्य प्रकाश के प्रतिबिम्बित रूप है। जिस प्रकार स्वर्णमयी वस्तु का प्रतिबिम्ब छाया रूप में काला प्रतिबिम्ब के रूप में दिखता है उसी प्रकार अव्याकृत का चैतन्य प्रकाश ही उस मोह सागर के रूप में व्यक्त होता है जिससे अक्षर ब्रह्म का मन अव्याकृत प्रतिबिम्ब रूप में स्वयं को नारायण (प्रणव शबल ब्रह्म, ईश्वर) रूप में दिखता है। यह “आप” शब्द सामान्य जलतत्व नहीं है अपितु प्रकृति की सूक्ष्मतम अवस्था है जिसमें प्रणव का स्वरूप प्रगट होता है और जो सभी प्राणियों की अन्तरात्मा है। इसी के सम्बन्ध में उपनिषद्² में कहा गया है कि—

एको देवः सर्व भूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्याक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चा ॥

प्रश्न—यदि यह मान लिया जाए कि अक्षर ब्रह्म का मन अव्याकृत स्वयं को संकल्प द्वारा जब मोह सागर (कारण प्रकृति) में देखता है तो स्वयं को नारायण या शबल ब्रह्म के रूप में पाता है किन्तु प्रश्न यह है कि चेतन ब्रह्म से जड़ रूप मोह सागर कैसे प्रकट हो सकता है। चेतन से जड़ की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ?

उत्तर—यह सत्य है कि चेतन ब्रह्म अखण्ड एकरस है। उसमें छेदन-भेदन या संयोग-वियोग नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को जब किसी दर्पण के समक्ष खड़ा किया जाता है तो दर्पण में वह हूबहू (वैसा ही) दिखता है, जबकि वह होता नहीं है। इसी प्रकार, चेतन ब्रह्म की चेतन प्रकृति जब प्रतिबिम्बित होती है तो वह मोह सागर के रूप में व्यक्त होती है। इसी चेतन प्रकृति को आदि

¹ अथर्ववेद १९/६/२

² श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/११

शंकराचार्य जी ने अपने ग्रन्थों में चिदानन्द लहरी और सुमंगला के नाम से व्यक्त किया है। वैदिक दृष्टि से यह अक्षर ब्रह्म के तीसरी पाद (सबलिक) एवं चौथे पाद (अव्याकृत) की प्रकृति है।

सृष्टि के प्रारम्भ में जड़ अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार) में जब जीव की चैतन्यता प्रवेश करती है तो वे भी चेतन के समान व्यवहार करने लगते हैं। यही स्थिति सूक्ष्म शरीर (तन्मात्राओं + अन्तःकरण + इन्द्रियों) में भी होती है। जब तक स्थूल शरीर में जीव का वास होता है तब तक वह भी चेतन ही कहलाता है, यहां तक कि उसमें स्थित बाल तथा नाखून को उखाड़ने पर भयंकर पीड़ा होती है क्योंकि वे चेतन शरीर से जुड़े होते हैं और एक निश्चित सीमा के पश्चात् वे जड़ कहलाते हैं।

मृतक शरीर से जड़ नाखून या बाल की न तो उत्पत्ति हो सकती है और न वृद्धि। भले ही भोज्य-पदार्थों से मिलने वाले रस से (उपादान कारण) के द्वारा नख या बाल में वृद्धि होती हो किन्तु उस चेतन शरीर में ही यह प्रक्रिया होती है जिसमें जीव विद्यमान होता है। यही स्थिति अव्याकृत पुरुष की अनादि चेतन प्रकृति सुमंगला के प्रतिबिंब रूप में मोह सागर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में है।

प्रश्न—जब आधुनिक विज्ञान भी यही मानता है कि द्रव्य अविनाशी है। वह केवल रूपान्तरित होता रहता है। द्रव्य से ऊर्जा में रूपान्तरण आइन्सटीन के कथन $E=MC^2$ के अनुसार होता रहता है। इसे दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि स्थूल (कार्य) प्रकृति से सूक्ष्म प्रकृति में रूपान्तरण का चक्र चलता रहता है। जैसे जल को उबालने पर वह हाइड्रोजन तथा आक्सीजन में बदल जाता है पुनः शीतल होकर जल में बदल जाता है किन्तु मूल द्रव्य नष्ट नहीं होता।

इसी प्रकार महाप्रलय में कार्य प्रकृति कारण प्रकृति में लय हो जाती है तथा जीव भी उसी में अन्तःकरण से रहित होकर घोर सुषुप्ति में पड़े रहते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म की प्रेरणा से कारण प्रकृति कार्य रूप (सृष्टि) में परिवर्तित हो जाती हैं तथा सुषुप्ति में पड़े हुए जीव पुनः अन्तःकरण से युक्त होकर प्रकट हो जाते हैं।

उत्तर—जागृत अवस्था में मन के द्वारा जो प्रक्रिया होती है वही जब नींद में होती है तो उसे स्वप्न कहते हैं। स्वप्न की स्थिति में मनुष्य को ऐसा लगता है कि वह यथार्थ जीवन में ही यह देख रहा है किन्तु जब उसकी निद्रा टूटती है तो उसे यह पता चलता है कि वह जो कुछ देख रहा था मात्र आभास था।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि जब तक स्वप्न चल रहा होता है, तब तक वह पूर्ण रूप से सत्य ही प्रतीत होता है और उसमें घटित होने वाली क्रियाओं (भय, दुःख एवं हंसी आदि) की छाप जागृत होने पर भी बनी रहती है। ठीक इसी प्रकार सृष्टि का यह सम्पूर्ण नाटक अक्षर ब्रह्म के मन स्वरूप अव्याकृत के

स्वाप्तिक रूप ओऽम् (शबल ब्रह्म, आदि नारायण, ईश्वर) के द्वारा संचालित हो रहा है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने चित्त के संस्कारों के अनुसार निद्रावस्था में मन के द्वारा स्वप्न देखता है, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म के हृदय (चित्त स्वरूप सबलिक) में सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार का जो संस्कार-रूप बीज है, वह उसके मन स्वरूप (अव्याकृत) के द्वारा कार्य रूप में परिणत होता है। अव्याकृत (पुरुष-प्रकृति) में विद्यमान चैतन्य प्रकृति (सुमंगला) के द्वारा अपने चैतन्य-प्रकाश का प्रतिबिम्बित रूप प्रकट किया जाता है, जिसे मोह सागर कहते हैं। इसी में पुरुष का मन स्वयं को देखने लगता है। इस मोह रूप जल में निवास करने के कारण उसे नारायण अथवा ओऽम् कहते हैं। इसके पूर्व यह अपनी चैतन्य प्रकृति के साथ विहार कर रहा था, अब जड़ प्रकृति (मोह सागर) में विहार करने लगता है, जिसमें वह स्वयं को नारायण रूप में पाकर 'एकोऽहं बहुस्याम्' का जो संकल्प करता है, वह चराचर सृष्टि का कारण बनता है।

मोह सागर ही अब कारण प्रकृति का रूप ले लेता है जिसके परमाणुओं में कम्पन प्रारम्भ होने लगता है, जिससे महत्तत्त्व एवं अहंकार की रचना होती है। इसी महत्तत्त्व से अन्तःकरण की उत्पत्ति होती है, जिसमें आदि नारायण का चैतन्य जीव रूप में क्रीड़ाशील हो जाता है। यह कथन ध्यान रखने योग्य विशेष तथ्य है कि दर्शनशास्त्र प्रकृति के सूक्ष्मतम कण परमाणु को प्रकाशमयी ही मानता है, जबकि जीव का परिमाण तो कारण प्रकृति के सूक्ष्मतम कण परमाणु से भी सूक्ष्म है। इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् (३/१०-११) के ये कथन देखने योग्य हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनस्तु परा बुद्धिः बुद्धेः आत्मा महान् परः ॥

महतः परं अव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

अर्थात् इन्द्रियों से सूक्ष्म उनके विषय (तन्मात्रायें) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध है। इनसे भी सूक्ष्म मन है। मन से सूक्ष्म बुद्धि है तथा बुद्धि से भी जीव सूक्ष्म है। उस महत्तत्त्व (बुद्धि) से भी सूक्ष्म अव्यक्त कारण प्रकृति है जिससे सूक्ष्म मात्र पुरुष (जीव तथा ब्रह्म) है। इससे सूक्ष्म अन्य कुछ भी नहीं है।

सांख्य दर्शन¹ के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से होती है अहंकार से पांच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है जिनसे आकाश की रचना होती है। इस प्रकार अव्यक्त कारण प्रकृति का स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि उसे मन, बुद्धि या

¹ अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्रि-उभय-इन्द्रियम् तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि ।

भाष्यम्-अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्रि सूक्ष्म भूतानि मनः ज्ञानकर्मेन्द्रिय-गणश्च सम्भवति ।

सूक्ष्मभूतेभ्यः पृथिव्यादीनि स्थूलभूतानि व्यज्यन्ते । सांख्य दर्शन १/६१ स्वामी ब्रह्ममुनि भाष्य

किसी भी यन्त्र की माप के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। संयोग-वियोग की विवेचना मात्र स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों में होती है, कारण प्रकृति जैसे सूक्ष्म तत्व के सम्बन्ध में नहीं। क्या किसी के मुख पर दिखाई देने वाले हास्य, करुणा, उदासीनता, का कोई विशेष रूप होता है। उसे तो मात्र भाव भंगिमा के आधार पर जाना जाता है। इसी प्रकार जड़ कारण प्रकृति के परमाणु समूह को यदि अव्याकृत की चैतन्य प्रकृति (प्रकाशमयी स्वरूप) का सांकल्पिक प्रतिबिम्ब स्वरूप माना जाय तथा शबल ब्रह्म (आदि नारायण) को अव्याकृत का सांकल्पिक रूप मानकर शेष अन्य सभी जीवों को उनका सांकल्पिक प्रतिबिम्बित चेतन माना जाये तो उसमें किसी भी सिद्धांत की हानि नहीं होगी।

प्रश्न—छेदन-भेदन, संयोग-वियोग से रहित सर्वज्ञ ब्रह्म (अव्याकृत पुरुष) से किस प्रकार जीवों का प्रकटन हो सकता है ? क्या यह ब्रह्म की गरिमा के प्रतिकूल नहीं है ?

उत्तर—जिस प्रकार उपादान कारण मिट्टी से घड़ा तथा स्वर्ण-खण्ड से आभूषण बनते हैं, उस प्रकार से शबल ब्रह्म (ईश्वर) से जीव का सम्बन्ध अंशी-अंश भाव का नहीं होता है क्योंकि, एकरस अखण्ड चैतन्य ब्रह्म में छेदन-भेदन तथा संयोग-वियोग का विकार नहीं हो सकता।

आकाश में चमकने वाले सूर्य का प्रकाश ही नेत्रों की दृष्टि को देखने में सामर्थ्य प्रदान करता है किन्तु नेत्रों के दोषों का सूर्य के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार यदि ईश्वर (ओऽम्) को सांकल्पिक प्रतिबिम्ब रूप चैतन्य यदि जीव रूप में अन्तःकरण में दृष्टिगोचर होता है तो जीव के सुख-दुख का सम्बन्ध वैकारिक रूप से ईश्वर के साथ नहीं होगा। यह तथ्य कठोपनिषद् (५/११) तथा वेदान्त दर्शन (२/३/४५, ४६, ५०) में इस प्रकार दर्शाया गया है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्व भूतान्तरामा न लिप्यते लोक दुःखे न बाह्यः ॥

अपि च स्मर्यते । वे० द० २/३/४५

गीता (१५/७) के कथन “ममैव अंशो जीव-लोके जीवभूतः सनातनः” के कथन को यहां स्मरण किया जाता है।

प्रकाशादिवन्नैवं परः । वे० द० २/३/४६

ब्रह्म सूर्य के समान है। वह जीव की भांति दुखी नहीं होता है।

आभास एव च । वे.द. २/३/५०

जीव का स्वरूप जल में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान है।

जैसे किसी विशाल झील के लाखों बुलबुलों में सूर्य के अलग-अलग प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, जिनमें कुछ जल के अशांत होने के कारण हिल रहे

होते हैं तो कुछ शांत भाग वाले जल के प्रतिबिम्ब स्थिर होते हैं, किन्तु हिलने-डूलने वाले प्रतिबिम्बों से आकाश में स्थित सूर्य पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता है ठीक, इसी प्रकार एक जीव के कर्मफल अनुसार मिलने वाले सुख-दुःख का दूसरे जीव के सुख-दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं होता तथा इसका सम्बन्ध ईश्वर से भी नहीं होता। सृष्टि के प्रारम्भ में मोह सागर (प्रकृति के सूक्ष्मतम रूप) में अव्याकृत का मन जब प्रतिबिम्बित होकर स्वयं को ईश्वर (नारायण) के रूप में देखता है तो 'एकोऽहं बहुस्याम्' के रूप में सृष्टि का संकल्प करता है। इस संकल्प से कारण प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है तथा विकार रूप में महत्त्व, अहंकार की रचना होती है। इनसे बनने वाले अन्तःकरणों में जब ईश्वर का सांकल्पिक चेतन प्रतिबिम्बित होता है तो वह जीव रूप में दृष्टिगोचर होता है।

प्रश्न—स्थूल पदार्थ का स्थूल जल, दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित पड़ता है। जो ब्रह्म प्रकृति के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण से भी परे है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ?

उत्तर—यहां प्रतिबिम्ब का तात्पर्य जल या दर्पण में दिखने वाले स्थूल प्रतिबिम्ब से नहीं है अपितु चेतनता के आभास से है। जब जीव जड़ अन्तःकरण में प्रवेश कर उसे चेतन जैसा ही कर देता है तो हम कहते हैं कि अन्तःकरण में जीव की चेतना का आभास या प्रतिबिम्ब है। यही स्थिति ईश्वर के संकल्प के द्वारा उनकी चेतना का जीव रूप में सभी अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होना है। इसे इन घटनाक्रमों द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण सन्धि दूत बनकर कौरवों की सभा में जाते हैं। वहां दुर्योधन उन्हें बन्धन में बांधना चाहता है किन्तु वह जिधर भी देखता है उधर अनेकों कृष्ण दिखाई देते हैं।

इसी प्रकार महर्षि नारद श्रीकृष्ण जी से मिलने द्वारिकापुरी में पहुंचते हैं किन्तु वे राजमहल में जिस कक्ष में जाते हैं वहां श्रीकृष्ण जी कोई न कोई लीला करते हुए दिखाई देते हैं। स्पष्ट है कि अपने योगबल से श्रीकृष्ण जी ने अनेकों शरीर धारण कर लिया था।

आधुनिक समय में परमहंस श्री रामरतन दास जी, लाहिड़ी महाशय, स्वामी प्रणवानन्द आदि के विषय में भी यह सुना जाता है कि उन्होंने एकसाथ कई (दो) रूप धारण कर लिया था।

यही प्रक्रिया सृष्टि के प्रारम्भ में होती है। अक्षर ब्रह्म का मन जो अपनी अनन्त चैतन्य प्रकृति (बेहद मण्डल) में क्रीड़ा कर रहा था, सृष्टि रचना के संकल्प रूप स्वप्न के कारण स्वयं को मोह सागर में आदि नारायण के रूप में देखने लगता है। फलतः वह अनन्त प्राणियों की सृष्टि का संकल्प करता है जिसके

परिणाम स्वरूप अनन्त प्राणी दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद (१०/८/२७) तथा श्वेता. उ. (४/३) का यह कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है—

त्वं स्त्री त्वं पुमान् आसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः ॥

अर्थात् हे जीव ! कभी तो तुम स्त्री का तन धारण करते हो तो कभी पुरुष का । कभी तुम्हारे द्वारा धारण किया गया शरीर कुमारावस्था की बालिका या बालक के रूप में दिखाई पड़ता है तो वही शरीर वृद्धावस्था में लाठी के सहारे चलता हुआ दिखाई देता है । किन्तु समाधिस्थ योगी बनकर तुम अपने आत्मबल से एक साथ अनेकों शरीर भी धारण कर लेते हो ।

जब एक जीव में इतनी सामर्थ्य हैं तो सृष्टि की रचना करने वाले अनन्त शक्ति से सम्पन्न ब्रह्म के मन (अव्याकृत) में अनन्त प्राणियों को अपने सांकल्पिक प्रतिबिम्ब के द्वारा प्रकट करने की सामर्थ्य क्यों नहीं हो सकती ?

प्रश्न—क्या उपरोक्त विवेचना से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि आप आदि शंकराचार्य जी के कथन ‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः’ के सिद्धान्त को मानते हैं ?

उत्तर—नहीं, हम श्री प्राणनाथ जी की तारतम वाणी के सिद्धान्त ‘निजानन्द दर्शन’ को मानते हैं । शंकराचार्य जी अपने अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि के लिए जीव और जगत को अविद्या के द्वारा उपाधिजन्य एवं ब्रह्म रूप मानते हैं । कभी वे जगत को स्वप्नवत् मिथ्या कहते हैं तो कभी ब्रह्मरूप । जो स्वप्नवत् होता है, वह ब्रह्मरूप नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म अखण्ड एकरस, आनन्दमय एवं प्रेममय है । जड़ जगत को सच्चिदानन्द स्वरूप नहीं माना जा सकता ।

निजानन्द दर्शन के अनुसार तीन पुरुष हैं—क्षर, अक्षर तथा अक्षरातीत । सच्चिदानन्द परब्रह्म ही अक्षरातीत है, जिनका लीला धाम परमधाम है जहाँ के कण-कण में एकमात्र परब्रह्म का ही स्वलीला अद्वैत स्वरूप क्रीड़ा करता है । अक्षरातीत का सत अंग अक्षर ब्रह्म है जिनका लीला धाम चतुष्पाद विभूति या बेहद मण्डल है । यहाँ अखण्ड ब्रह्म अपनी अखण्ड चैतन्य प्रकृति के साथ क्रीड़ा करता है, इसलिए इसे योगमाया का ब्रह्माण्ड कहते हैं । यह भी चेतन अनादि और अद्वैत स्वरूप है ।

अक्षर ब्रह्म के चौथे पाद मनस्वरूप अव्याकृत के द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डों तथा अनन्त जीवों का प्रकटन होता है । अक्षर ब्रह्म के द्वारा सृष्टि रचना का संकल्प होते ही उनके मनस्वरूप अव्याकृत की प्रकृति (सुमंगला) के द्वारा मोहसागर (कारण प्रकृति) को प्रकट किया जाता है जिसमें अव्याकृत पुरुष प्रतिबिम्बित होकर स्वयं को नारायण (शबल ब्रह्म, ओ३म्, हिरण्यगर्भ) के रूप में देखने लगता है । इन्हें ही क्षर पुरुष कहते हैं क्योंकि इनका स्वरूप स्वाप्निक जैसा

होता है। दूसरे शब्दों में क्षर पुरुष का लीला क्षेत्र कालमाया का ब्रह्माण्ड कहलाता है। इस ब्रह्माण्ड में जीव तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति की लीला होती है, इसलिए इसे द्वैत मण्डल कहते हैं। ईश्वर (सबल ब्रह्म, ओ३म्) को भी इसमें संयुक्त कर लेने वाले “त्रैतवाद” का सिद्धान्त मानते हैं। निजानन्द दर्शन ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को प्रवाह से अनादि मानता है, क्योंकि ये स्वापिक है।

प्रश्न—जब अथर्ववेद (१३/४(२)/१६-२१) का कथन है कि—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥

अर्थात् जब वेदानुसार परमात्मा दो, तीन, चार, पांच, छः या सात आदि नहीं हो सकते तो आप तीन पुरुषों की वेद विरुद्ध कल्पना क्यों करते हैं ?

उत्तर—जिस प्रकार कोई चक्रवर्ती सम्राट अपने अन्तःपुर में अपनी सम्राज्ञी (महारानी) के साथ प्रेम में डूबा रहता है किन्तु जब वह राज सिंहासन पर बैठकर न्याय करता है तो किसी अपराधी को दण्ड देते समय वह उग्र स्वभाव वाला भी हो जाता है। वही सम्राट सोते समय ऐसा स्वप्न भी देख सकता है कि मैं एक भिक्षु के रूप में घर-घर भिक्षा मांग रहा हूँ।

ठीक उसी प्रकार परब्रह्म भी अपने गुण, कर्म एवं स्वभाव की दिव्यता से अनन्त है। उपरोक्त दृष्टान्त के द्वारा क्षर, अक्षर एवं अक्षरातीत को समझाने का प्रयास किया गया है। इस नश्वर त्रिगुणात्मक जगत में क्षर पुरुष की स्वापिक लीला है, चतुष्पाद विभूति में अक्षर पुरुष की अखण्ड सत्ता की लीला है तथा स्वलीला अद्वैत परमधाम में अक्षरातीत परब्रह्म की प्रेममयी लीला है। इस प्राकृतिक जगत में अक्षरातीत परब्रह्म की शोभा, लीला एवं आनन्द को एकरस व्यापक नहीं माना जा सकता।

उसी प्रकार उस अद्वैत भूमिका में इस भौतिक जगत के काम, क्रोध, लोभ, मोह, जन्म, मृत्यु आदि विकारों को घटित (विनियोग) नहीं किया जा सकता। ‘पुरि श्यात् पुरुषः’ के कथनानुसार मात्र चेतन तत्त्व के ही पुरुष कहलाने का अधिकार है, जड़ प्रकृति को नहीं। प्रकृति शब्द स्त्रीलिंग है, अतः उसे अक्षरा तो कहा जा सकता है, किन्तु अक्षर कदापि नहीं। अतः जो विद्वान ब्रह्माण्ड को क्षर पुरुष या प्रकृति को अक्षर कहते हैं, उन्हें इस विषय में गंभीर चिन्तन करना चाहिए। यद्यपि ‘एकमेव अद्वितीयम् ब्रह्म’ का कथन तो अक्षरशः सत्य है किन्तु तारतम्य वाणी के प्रकाश में देखने पर ही क्षर, अक्षर तथा अक्षरातीत का रहस्य समझ में आता है। आगे के समुल्लासों में इन विषयों की विशद व्याख्या दी गई है।

प्रश्न—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।

तयोरन्यः विप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋ. १/१६४/२०, अथर्ववेद ९/९/२०, श्वेता उ. ४/६, मु. उ. ३/१

वेदों तथा उपनिषदों के उपरोक्त कथन में कहा गया है कि प्रकृति रूपी एक वृक्ष के ऊपर दो समान अवस्था के पक्षी निवास करते हैं जिनमें एक तो वृक्ष के फलों को खाता रहता है तथा दूसरा कुटस्थ रूप में मात्र देखता रहता है ।

अर्थात् जीव, ब्रह्म एवं प्रकृति तीनों ही अनादि और समान आयु के हैं । जीव कर्मफल का भोग करता है जबकि ईश्वर मात्र द्रष्टा रूप में रहता है । आप किस प्रमाण एवं युक्ति से इन तीनों को स्वापिक कहते हैं तथा अक्षर और अक्षरातीत किसी अन्य को परमात्मा मानते हैं ?

उत्तर—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि द्रव्य के गुण के अनुसार ही कार्य (लीला) का सम्पादन होता है । चन्द्रमा की शीतल प्रकृति न तो उष्णता का संचार कर सकती है और न सूर्य की उष्ण प्रकृति शीतलता प्रदान कर सकती है । न तो गन्ने का रस तिक्त हो सकता है और न मिर्च का स्वाद मीठा हो सकता है । इसी प्रकार सच्चिदानन्द परब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति (प्रकृति) प्रेममयी एवं आनन्दमयी है । वहां दुःख, अज्ञान और घृणा की लीला स्वप्न में भी नहीं हो सकती । कुटस्थ अक्षर ब्रह्म की चैतन्य प्रकृति (योगमाया) भी उन्हीं के समान गुणों तथा अवस्था वाली है । उस चतुष्पाद विभूति में होने वाली लीला में काम, क्रोध, लोभ, जन्म, मरण आदि विकारों का प्रवेश असम्भव है । वहां चैतन्य ब्रह्म अपनी चैतन्य प्रकृति (माया) के साथ अभिन्न रूप से क्रीड़ा करता है, इसलिए उसे योगमाया का ब्रह्माण्ड कहते हैं ।

किन्तु, इस नश्वर ब्रह्माण्ड को कालमाया का ब्रह्माण्ड कहते हैं क्योंकि यहां की प्रत्येक जड़ वस्तु स्वप्नमयी है । जिस प्रकार स्वप्न के दृश्य निरन्तर बदलते रहते हैं, उसी प्रकार इस संसार के प्रत्येक जड़ पदार्थ का स्वरूप भी निरन्तर परिवर्तनशील रहता है । यहां न तो सभी प्राणियों के अज्ञान का नाश हो सकता है, न उन्हें दुःखों, विकारों तथा जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाया जा सकता है । जिस प्रकार, निद्रा के टूटने पर स्वप्न का नाश हो जाता है, उसी प्रकार अव्याकृत पुरुष का इस प्रकृति मण्डल (मोह सागर) से ध्यान रूप स्वप्न हटते ही इस सम्पूर्ण सृष्टि का लय हो जाएगा ।

यद्यपि, चैतन्य सर्वज्ञ ब्रह्म में नींद का विकार नहीं होता किन्तु अपनी चैतन्य प्रकृति से होने वाली अखण्ड लीला को छोड़कर जड़ रूप मोह सागर में स्वयं को देखने को शास्त्रीय भाषा में स्वप्न देखना कहा गया है । सभी जीव उसी स्वप्न दृष्टा आदि नारायण (प्रणव, ईश्वर, शबल ब्रह्म आदि) के सांकल्पिक

प्रतिबिम्ब चेतन के स्वरूप कहे गए हैं जो प्रकृति में बंधकर कर्मफल का भोग करते हैं।

इस प्रकार जीव, शबल ब्रह्म (ईश्वर, प्रणव) तथा प्रकृति तीनों को प्रवाह से अनादि एवं समान अवस्था का माना गया है। अनादिकाल से प्रवाह रूप में इन तीनों की लीला चलती आ रही है तथा अनन्तकाल तक चलती रहेगी। यदि, ऐसा नहीं मानेंगे तो ‘माया जज्ञे मायया ।’ (अथर्ववेद ८/९/५), ‘पादस्येह अभवत् पुनः ।’ (अथर्व. १९/६/२), ‘त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः’ । (यजु. ३१/४) एवं ‘चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम्’ । (अथर्व. १०/८/२१), ‘आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्’ (यजु. ३१/१८) की संगति नहीं बैठायी जा सकती।

प्रश्न—गीता (२/२०) के इस कथन—

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतो अयं पुराणोः न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मात्र शरीर का ही जन्म और मरण होता है। यह जीव न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। यह जीव अजन्मा, नित्य (अनादि) और शाश्वत काल से रहने वाला है तथा शरीर के भी नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है।

पुनः आप किस आधार पर कहते हैं कि सृष्टि के महाप्रलय के पश्चात् कारण प्रकृति के साथ ही शबल ब्रह्म (प्रणव) का सांकल्पिक प्रतिबिम्ब रूप यह चैतन्य जीव अपने मूल बिम्ब (प्रणव) को प्राप्त हो जाता है। यह भी तो सम्भव है कि महाप्रलय के पश्चात् सुषुप्ति अवस्था में जीव कारण प्रकृति में रहे तथा पुनः सृष्टि होने पर प्रकट हो जाए। ऐसा मानने पर जीव तथा प्रकृति की अनादिता भी सिद्ध हो जाएगी ?

उत्तर—तारतम वाणी का “निजानन्द दर्शन” भी जीव तथा प्रकृति को प्रवाह रूप से अनादि मानता है किन्तु मूल रूप से नहीं क्योंकि, ये दोनों ही अव्याकृत पुरुष (प्रणव) तथा उसकी चैतन्य प्रकृति के प्रतिबिम्बित (स्वाप्तिक) रूप हैं। अखण्ड प्रणव (अव्याकृत) जब स्वयं को मोह सागर रूप नींद (कारण प्रकृति) में स्वप्न (ध्यान) में देखता है तो वह ईश्वर, शबल ब्रह्म या प्रणव कहलाता है जिसके सांकल्पिक प्रतिबिम्ब रूप सभी जीव हैं। जब नींद तथा स्वप्नावस्था ही नहीं रहेगी तो उस समय शबल ब्रह्म (ईश्वर नारायण), जीव तथा प्रकृति का अस्तित्व कैसे रहेगा ? ‘स्वप्नावस्था विनाशः स्यात् कुतो नारायण तदा’ । इस तथ्य को तारतम वाणी के इन शब्दों में समझा जा सकता है—

मूल प्रकृति मोह अहं थे, उपजे तीनों गुण ।
सो पांचों में पसरे, हुई अंधेरी चौदे भवन ॥

प्रले प्रकृति जब भई, तब पांचों चौदे पतन ।
मोह अहं सबे उड़े, रहे सरगुन ना निरगुन ॥
तब जीव को घर कहां रहयो, कहां खसम वतन ।
गुरु शिष्य नाम बोहोतों धरे, पर ए सुध परी न किन ॥

किरंतन २१/२,३,४

इत अक्षर को विलस्यो मन, पांच तत्व चौदे भवन ।
यामें महाविष्णु मन मनथें त्रैगुन, ताथे थिर चर सब उतपन ॥

प्रकाश हिन्दुस्तानी ३६/२४

सृष्टि रचना अक्षर ब्रह्म के मन का विलास है, जिसमें उसकी सृष्टि रचना की इच्छा को मूल प्रकृति कहते हैं। इसी मूल प्रकृति से कारण प्रकृति प्रकट होती है (माया ह जज्ञे मायया। अथर्ववेद ८/९/५) इस कारण प्रकृति रूप मोह सागर (नींद) में जब अव्याकृत पुरुष स्वयं को ईश्वर रूप में देखता है, जिससे सृष्टि चक्र प्रारम्भ होता है। बल्कि आधुनिक विज्ञान यह मानता है कि वर्तमान में ज्ञात सृष्टि जो मात्र ४ प्रतिशत है, लगभग १३.६ प्रतिशत अरब वर्ष पहले उत्पन्न हुई है, जिसमें ५ अरब आकाशगंगाएँ (गैलैक्सीज) हैं। हमारी आकाशगंगा में ३ अरब सूर्य हैं। हमारे सूर्य की आयु ४.५ अरब हो चुकी है तथा इतनी अभी शेष है। जबकि पृथ्वी की उम्र अभी १ अरब ९६ करोड़ ८ लाख ५३ हजार १२२ वर्ष हुई है। ऐसी स्थिति में यह मानना कि ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों में सम्पूर्ण सृष्टि का महाप्रलय हो जाएगा, उचित नहीं है।

वस्तुतः ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों में हमारी पृथ्वी सहित सभी ९ ग्रह सूर्य में समा जायेंगे तथा सूर्य ब्लैक होल तारे में लीन हो जाएगा। यह ब्लैक होल तारा भी आकाशगंगा में विलीन हो जाएगा। कुछ समय के पश्चात् हमारी आकाशगंगा भी अपने से बड़ी आकाशगंगा में विलीन हो जाएगी। अंत में सभी आकाशगंगाएँ आकाश में तथा आकाश तन्मात्रा में लीन हो जाएगा। तन्मात्रा अहंकार में लीन हो जायेगी। अहंकार महत्त्व में तथा महत्त्व कारण प्रकृति में लीन हो जाएगा, यही महाप्रलय है।

मनीषी जनों ने जो मुक्ति का समय निश्चित किया है, वह इस प्रकार है- ४ अरब ३२ करोड़ $\times २ \times ३६०० = ३१$ नील, १० खरब और ४० अरब वर्ष। यही समय परान्त काल अर्थात् मुक्ति सुख का है। आदि नारायण (ईश्वर), जीवों तथा सृष्टि का समय भी इतना ही है। इतने समय तक जीव का भी अस्तित्व रहता है, भले ही करोड़ों तन क्यों न बदलने पड़े।

प्रश्न—यदि कोई जीव प्रलय से कुछ समय पूर्व ही मुक्ति लाभ प्राप्त करता है तो वह मुक्ति के सम्पूर्ण समय का आनन्द तो ले नहीं पायेगा, क्योंकि

सृष्टि का ही जब अस्तित्व नहीं रहेगा तो वह कहां से सुख पायेगा ऐसी स्थिति में प्रकृति और जीव को अनादि मानना ही उचित है जिससे परमात्मा की न्याय व्यवस्था में दोष न लगाया जा सके ।

उत्तर—ब्रह्म वही है जो प्रकृति से परे हो, तभी यजुर्वेद (३१/१८) का यह कथन सार्थक सिद्ध होगा कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

अर्थात् प्रकृति के अन्धकार से परे अनन्त सूर्यो के समान प्रकाशमान उस महानतम् पुरुष को ही मैं परमात्मा के रूप में जानता हूँ जिसे प्राप्त किये बिना मृत्यु के बन्धन से छूटने का कोई भी अन्य मार्ग नहीं है ।

स्पष्ट है कि ब्रह्मलोक तथा मुक्ति का सुख भी प्रकृति से परे चतुष्पाद विभूति के अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा । ब्रह्मलोक की अवस्था का वर्णन करते हुए वेद में कहा गया है कि—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वरहितम् ।

तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्राय इन्दो परिस्रव ।

ऋ. ९/११३/७

हे परब्रह्म ! जिस ब्रह्मधाम में आपकी शाश्वत अखण्ड ज्योति जगमगा रही है, जहां सर्वदा आनन्द ही आनन्द विद्यमान है, उस मृत्यु से रहित अखण्ड धाम में मुझे रखिए । हे जीव ! तू उस परब्रह्म के प्रेम में निरन्तर लगा रह । इसके आगे के मन्त्रों (९-११) में जो वर्णन है, वह प्रकृति से सर्वथा परे अखण्ड ब्रह्मधाम का है, जिसकी विस्तृत व्याख्या इस ग्रन्थ के तृतीय समुल्लास में देखिए ।

यदि मुक्ति पाने के पश्चात् भी महाप्रलय में घोर सुषुप्ति में रहना पड़े तो उससे क्या लाभ है ? जो सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय के बन्धन से मुक्त नहीं हुआ, तो उसे मुक्त कैसे माना जा सकता है ? जिस भगवान बुद्ध को आज का बुद्धिवादी समाज नास्तिक कहता है, ब्रह्मधाम तथा मुक्ति के सम्बन्ध में उनके अनमोल वचन इस प्रकार हैं—

भिक्षुओं ! एक अकृत है, जहां न पृथ्वी है, न जल है, न उष्णता है, न वायु है, न आकाश है, न सूर्य है, न चन्द्रमा है, न जन्म है और न मृत्यु है । यहां जो कुछ भी है, उसकी वहां पर कभी उत्पत्ति होती है और न कभी निरोध होता है ।

जब ब्रह्म धाम प्रकृति से सर्वथा परे है तो प्राकृतिक जगत के लय होने से ब्रह्मानन्द में कोई अन्तर नहीं पड़ता । भले ही महाप्रलय से कुछ पल पहले ही

किसी ने मुक्ति लाभ क्यों न प्राप्त किया हो । इस प्रकार परमात्मा की न्याय व्यवस्था निष्कलंक बनी रहती है ।

कारण प्रकृति का परमाणु इतना सूक्ष्म है कि उसे किसी भी इन्द्रियों या यन्त्रों से मापा नहीं जा सकता । आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों में जिन इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रिनो, क्वावर्न्स तथा हिंस बोसॉन्स की खोज की गई हैं उनसे भी सूक्ष्म अहंकार तथा महत्त्व है । ऐसी स्थिति में कारण प्रकृति का मूल सूक्ष्मतम कण कितना सूक्ष्म होगा, उसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ।

उस परमाणु से भी सूक्ष्म जीव का परिमाण जानना मानवीय बुद्धि से सम्भव नहीं है । उसे मात्र समाधि की ही अवस्था में देखा जा सकता है । जीव की सूक्ष्मता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि एक मानव शरीर में अरबों जीवाणु पाये जा सकते हैं । टी०बी०, मलेरिया के कीटाणुओं तथा अमीबा आदि जीवों की संख्या एक मानव शरीर में अरबों तक पहुँच सकती है । इसी प्रकार पृथ्वी के समस्त पौधों तथा वायु में स्थित जीवों की संख्या का अनुमान करना असम्भव है ।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि अक्षरातीत और अक्षर की तरह ही क्षर पुरुष, ईश्वर, नारायण की लीला भी अपने क्षेत्र में अनन्त ही है क्योंकि वह अनन्त (अव्याकृत) का ही सांकल्पिक (स्वाप्निक) रूप है । यद्यपि प्रत्येक मत अपनी विचारधारा को पुष्ट करने के लिए वैदिक कथनों तथा युक्तियों को आधार बनाता है किन्तु, वास्तविक निर्णय तो अपनी अन्तरात्मा की पुकार पर ही लिया जा सकता है कि जीव तथा जड़ प्रकृति अपने मूल स्वरूप से अनादि हैं या प्रवाह से ।

“जीव तथा प्रकृति की अनादिता” विषयक यह द्वितीय समुल्लास संपूर्ण हुआ । इसके आगे “अक्षर ब्रह्म” के विषय पर लिखा जाएगा ।

तृतीय समुल्लास

अक्षर ब्रह्म

अक्षर सरूप के पल में, ऐसे कई कोट इंड उपजे ।
पल में पैदा करके, फेर वाही पल में खपे ॥

किरंतन प्र. ७४ चौ. २६

कोई कहे ए कछुए नाहीं, तो ए भी क्यों बनि आवे ।
जो यामें ब्रह्म सत्ता न होती, तो अधखिन रहने न पावे ॥

किरंतन प्र. २९ चौ. ५

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥

अथर्ववेद का. ११/सू. ४/मं. २४

पदार्थ—(यः) जो (अस्य सर्वजन्मनः) इस सब प्रकार से उत्पन्न होने वाले, (चेष्टतः सर्वस्य) और क्रियाशील समस्त संसार के ऊपर (ईशे) वशीत्व, स्वामित्व किए हुए हैं, (सः) वह (प्राणः) ब्रह्म (अतन्द्रः) आलस्य और निद्रा से रहित (धीरः) प्रज्ञावान् (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान के द्वारा (मा अनु तिष्ठतु) मुझे प्राप्त हो ।

भावार्थ—इस मन्त्र में अक्षर ब्रह्म को प्राण कहकर सम्बोधित किया गया है । प्राण शब्द से तात्पर्य हमारे पंचभौतिक शरीर में रहने वाले १० प्राण ही नहीं, अपितु जिसकी सत्ता के बिना असंख्य ब्रह्मांड आधे क्षण भी अस्तित्व में नहीं रह सकते, इसलिए उस ब्रह्म को ही प्राण कहा गया है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का स्वामी वह ब्रह्म अज्ञान से रहित, निर्भ्रान्त, अविनाशित्व आदि गुणों से युक्त हैं ।

सन्तुच्छिष्टे असंशोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता ब्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥

अथर्ववेद का. ११/सू. ७/मं. ३

पदार्थ—(उच्छिष्टे) उस ब्रह्म की सत्ता में (उभौ) दोनों (सत्) भाव रूप व्यक्ति जगत और (असत्) अभाव रूप अव्यक्त प्रकृति, (मृत्युः) मृत्यु, (वाजः)^१

^१ वाजः अन्न नाम । निघण्टु अ. २ खण्ड ७

वाजः बल नाम । निघण्टु अ. २ खण्ड ९

पराक्रम, (प्रजापतिः)¹ यज्ञ उसी में विद्यान हैं। (उच्छिष्टे) उस अविनाशी ब्रह्म की सत्ता में (लौक्याः) समस्त लोकों में विद्यमान प्रजाएं, (व्रः च) सबका आवरण करने वाला यह आकाश, (द्रः च) द्रावक अर्थात् गति देने वाला काल भी (आयत्ताः) बंधे हुए हैं। इसी प्रकार (मयि) मुझमें विद्यमान (श्रीः) अनेक उत्तम फलैश्वर्य प्राप्त करने की सामर्थ्य भी उसी के आश्रित है।

भावार्थ—महाप्रलय में समस्त कार्य रूप जगत् के नष्ट हो जाने पर अविनाशी रूप में जो अनादि चेतन, एकरस स्थित रहता है, उस को ही उच्छिष्ट ब्रह्म कहते हैं। अक्षर² शब्द का अर्थ भी क्षर से रहित अर्थात् अविनाशी होता है। उच्छिष्ट ब्रह्म से तात्पर्य अक्षर ब्रह्म से ही है। कार्य, कारण प्रकृति, आकाश, काल आदि सभी उसी की सत्ता के अधीनस्थ हैं। प्रस्तुत मन्त्र में 'मयि' पद का प्रयोग जीव सृष्टि के लिए किया गया है।

रोहितो द्यावा पृथिवी अदृंहत् तेन स्वस्तभितं तेन नाकः ।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥

अथर्ववेद का. १३/सू. १/मं. ७

पदार्थ—(रोहितः) उस सर्वोत्पादक ब्रह्म ने (द्यावा पृथिवी) द्यौ³ और पृथिवी⁴ को (अदृंहत्) दृढता से स्थित किया। (तेन) उसने ही (स्वः) आनन्दमय लोक और (तेन नाकः)⁵ उसने ही प्रकाशमय मोक्षधाम (स्तभितम्) धारण कर रखा है। (तेन अन्तरिक्षं) उसने ही अन्तरिक्ष को और (रजांसि) लोक लोकान्तरों को (विमिता) बनाया हैं। (तेन) उसकी कृपा से (देवाः) विद्वान् (अमृतम्) मोक्ष को (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—इस ऋचा में 'नाकः' पद का प्रयोग अखंड, प्रकाशमय, सुखमय अक्षर ब्रह्म के चतुष्पाद (सत् स्वरूप, केवल, सबलिक और अव्याकृत) के लिए किया गया है। जो उपासक उस ब्रह्म की कृपा से महाशून्य को पार कर चतुष्पाद विभूति में प्रवेश कर जाते हैं, वे अखंड मोक्षसुख को प्राप्त हो जाते हैं। चतुष्पाद के अन्तर्गत मोक्षसुख को अक्षर ब्रह्म ही धारण करता है। इसके अतिरिक्त उसकी ही सत्ता के अन्तर्गत समस्त द्यौ, पृथ्वी आकाश नक्षत्र स्थित हैं।

¹ प्रजापतिः यज्ञ नाम। निघण्टु अ. ३ खण्ड १७

² अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाऽक्षरं। "क्षर संचलने" (भ्वादि.) ततः पचादिलक्षणोऽच-क्षरम्, न क्षरम्-अक्षरम्। यद्वा न क्षीयते तदक्षरम् "क्षि क्षये-नाशे" (भ्वादि.) ततः "डरक्" प्रत्ययो बाहुलकात् कर्मणि तदक्षरं भवति।

³ द्यावौ द्योतनात् (निरुक्त २/२०)

⁴ पृथ्वी पृथिवी (निरुक्त १/१४)

⁵ कथं 'नाकः' उच्यते 'कम्' इति सुखस्य नाम तत्प्रतिषिद्धम्-अकम्-दुखं तद् दुखं प्रतिषिध्यते। न अकम्-नाकम्-सुखमेव, नं दुखलेशोऽपि। अत्र प्रमाणं दीयते "न वा अमुं" अमुं लोकं गतवते किं मपि नैव-अकं तस्मात् तत् खलु नाकम्। निरुक्त सम्मर्श पृ. सं. १०५

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् ।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥

अथर्ववेद का. ४/सू. ३५/मं. १

पदार्थ—(प्रजापतिः) योगी (ब्रह्मणे) ब्रह्म की प्राप्ति के लिए (तपसा) अपने तप द्वारा (यं ओदनम् अपचत्) जिस ओदन रूप ब्रह्म को परिपक्व करता है । (यः) जो ब्रह्म (ऋतस्य प्रथमजाः) यथार्थ सत्य का प्रथम उत्पादक है, (लोकानाम् विधृतिः) समस्त लोकों का आधार है (न अभिरेषात्) कभी नष्ट नहीं होता है । (तेन ओदनेन) उस ओदन रूप ब्रह्म द्वारा (मृत्युम् अति तराणि) मैं मृत्यु को तर जाऊँ अर्थात् पार कर जाऊँ ।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में आलंकारिक रूप से यह कहा गया है कि जिस प्रकार ओदन (भात) को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करके भूख के कष्ट से बचा जाता है, उसी प्रकार उस ब्रह्म रूप ओदन को प्राप्त किये बिना मृत्यु के संकट से कदापि नहीं बचा जा सकता है । वह अविनाशी ब्रह्म ही सम्पूर्ण ज्ञान का मूल स्रोत है । उसकी सत्ता के आश्रय में ही सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर स्थित रहते हैं ।

प्रश्न—मृत्यु से तरने से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्रत्येक पंचभौतिक शरीर कभी न कभी अवश्य मृत्यु को प्राप्त होगा, किन्तु पूर्वोक्त मन्त्र में कथित 'मैं मृत्यु को तर जाऊँ' का आशय यह है कि मैं प्रकृति के जन्म-मरण रूप बन्धन से छूटकर त्रिगुणातीत, चेतन, अविनाशी ब्रह्मधाम को प्राप्त कर लूँ, जिससे पुनः इस दुखमय संसार में न आना पड़े ।

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।

यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा धर्मो नो ब्रूत यतमश्चतुष्पाद् ॥

अथर्ववेद का. ४/सू. ११/मं. ५

पदार्थ—(यज्ञपतिः) यजमान भी (यस्य न ईशे) जिस ब्रह्म का ईश्वर नहीं, (न यज्ञो) यज्ञ भी नहीं, (अस्य दाता न ईशे) कोई दानी पुरुष भी इसका ईश्वर नहीं (न प्रतिग्रहीता) और दान लेने वाला कोई योग्य धार्मिक व्यक्ति भी नहीं । (यः) जो ब्रह्म स्वयं (विश्वजिद्) सबको जीतने वाला, (विश्वभृद्) सबका पालक पोषक, (विश्वकर्मा) सबकी रचना करने वाला है । हे ज्ञानी पुरुषों (धर्म) उस तेजस्वरूप, प्रकाशमान ब्रह्म का (नः ब्रूत) हमें उपदेश करो, (यतमः चतुष्पाद्) जो चार पाद वाला है ।

भावार्थ—अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की सत्ता का स्वरूप ही अक्षर ब्रह्म है । उसके समान कोई नहीं । संसार का महान से महान व्यक्ति भी उसके समकक्ष नहीं । असंख्यों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और संहार उसके संकेत मात्र से ही होता है ।

उसके चार पाद (सत् स्वरूप, केवल, सबलिक और अव्याकृत) हैं जिसमें उसकी सत्ता की अखंड लीला होती है—

येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥

अथर्ववेद का. ४/सू. ३५/मं. २

पदार्थ—(येन) जिसकी कृपा से (भूतकृतः) यथार्थ कर्मों के अनुष्ठाता लोग (मृत्युं) मृत्यु को (अति अतरन्) पार कर जाते हैं, (यम्) जिसका योगी लोग (तपसा) तप से, और (श्रमेण) श्रम से (अनु अविन्दन्) ज्ञान प्राप्त करते हैं। जो (ब्रह्म) सबसे महान होने से ब्रह्म है और (पूर्वम्) अनादि है, (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञान के लिए (यं पपाच) जिसको उपासक अभ्यास अर्थात् परिपक्व करते हैं, (तेन ओदनेन) उस ओदन रूप ब्रह्म की कृपा से (मृत्युम् अति तराणि) मैं मृत्यु को पार कर जाऊं।

भावार्थ—सबसे महान उस अनादि ब्रह्म की कृपा से मृत्यु के बन्धन अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छूटकर ब्रह्मानन्द का भोग किया जाता है। इसलिए ऋषियों ने प्रार्थना की है—मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ॥ शत. ब्रा. (१४/३/१/३०) जब तक उस अखंड ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तब तक जन्म-मरण के इस दुःखमय संसार से कदापि छुटकारा नहीं मिल सकता है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जान ।

अथर्ववेद का. ७/सू. ८०/मं. ३

पदार्थ—(प्रजापते) प्रजाओं के स्वामी ब्रह्म ! (त्वत्) तुझसे या तुम्हारे अतिरिक्त तुझसे (अन्यः) दूसरे किसी ने (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) समस्त रूपवाले पदार्थों को (परिभूः) अपनी सत्ता से व्यापक होकर (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में 'परिभूः' पद से तात्पर्य सत्ता के व्यापकत्व से है, स्वरूप के प्रकृति मंडल में व्यापकत्व से नहीं। अल्प शक्ति वाला जीव कदापि इन रूपवान सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रों और अन्य पदार्थों का निर्माण नहीं कर सकता है। एक मात्र ब्रह्म ही ऐसा चेतन अविनाशी तत्व है, जो अपनी अनन्त सत्ता के द्वारा सभी दृश्य-अदृश्य पदार्थों का निर्माता है।

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।

अथर्ववेद का. ९/सू. ४/मं. ४

पदार्थ—(वत्सानां पिता)¹ समस्त लोकों का पालक (अध्व्यानां पतिः) अविनाशी शक्तियों का स्वामी, (अथो) और (महताम्) बड़े-बड़े (गर्गराणाम्) ब्रह्मज्ञान के गुरुजनों का भी (पिता) पालक हैं ।

भावार्थ—अविनाशी अक्षर ब्रह्म की शक्तियां भी अविनाशी ही हैं । सारे संसार का मूल स्रोत ब्रह्म है ।

सः एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । योग सू. (समाधिपाद सू. २६) वह ब्रह्म बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषों का भी गुरु ही है । उसकी सत्ता के आधार में ही समस्त लोकों का पालन होता है ।

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शमहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥

ऋ. ७/३५/१३, अथर्ववेद का. १९/सू. ११/मं. ३

पदार्थ—(एकपात्) अपनी शक्ति के एक चतुर्थांश द्वारा चराचर जगत को धारण करने वाला (देवः) प्रकाशमय अक्षर ब्रह्म (नः शम् अस्तु) हमें शान्तिदायक हो । (अहिः बुध्न्यः) अविनाशी ब्रह्म (शम्) शान्ति प्रदान करे । (सम् उद्रः) समस्त संसार की उत्पत्ति तथा लय का कारण रूप ब्रह्म (शम्) हमें शान्ति प्रदान करें । (पेरुः) समस्त दुखों से पार उतारने वाला (अपांनपात्) आपोमय प्राणों को धारण कराने वाला ब्रह्म (नः शम्) हमें शान्ति दे । (देवगोपा) सूर्य, पृथ्वी, पंच प्राण आदि समस्त देवों का रक्षक (पृश्निः)² समस्त रसों और ज्योतिर्मय पिण्डों का आश्रय ब्रह्म (नः शम्) हमें शान्ति प्रदान करें ।

भावार्थ—प्रकृति के इस परिवर्तनशील संसार में कहीं भी शान्ति नहीं है । शान्ति का मूल स्रोत तो वह अविनाशी, समस्त लोकों का आश्रय एक अद्वितीय ब्रह्म हैं । प्रस्तुत ऋचा में उस ब्रह्म से शान्ति प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है ।

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद् रेजन्ते भुवनानि विश्वा ।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः ॥

अथर्ववेद का. २०/सू. ३४/मं. १७

पदार्थ—(यः) जो ब्रह्म (सोमकामः) ब्रह्मानन्द रस की कामना करने वाले योगिजनों को अतिप्रिय, (हर्यश्वः) कान्तिमान, (सूरिः) सबका प्रेरक है । (यस्मात्)

¹ पिता पाता वा पालयिता वा । निरुक्त अ. ४१ पा. ३ ख. २१

² पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्पृष्टा रसान् । निरुक्त (अ. २/पा. ४ ख. १४) साधारण नामसु द्वितीयं नाम 'पृश्निः' आदित्यो भवति । कुत इति निरुच्यते-प्राश्नुत एनं वर्णः । एतं प्रकर्षेण व्याप्नोति वर्णः शुभ्रो वर्णः, इति नैरुक्ताः । "घृणिः पृश्निपार्ष्णि चूर्णिभूर्णयः" (उणादि. ४/५२) नित्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । तत्र 'प्र-अश् नि' प्राश्निः पूर्वापर दीर्घदिशयुक्तस्य रेफस्य सम्प्रसारणं भवति 'पृश्निः' इति नैरुक्ता मन्यन्ते । निरुक्त सम्मर्श पृ. १०४

जिससे (विश्वा भुवनानि) शक्ति प्राप्त कर समस्त लोक (रेजन्ते) चलायमान हैं । (यः शम्बरं जघान) जो आवरणकारी अज्ञान का नाश करता है, (यः च शुष्णं) और जो प्राणों का शोषण करने वाली क्षुधा पिपासा को अन्न प्रदान करके नाश करता है, (यः) जो (एकवीरः) एक मात्र सर्वशक्तिमान है, (जनास) हे मनुष्यो ! (स इन्द्रः)¹ वह ऐश्वर्यवान् ब्रह्म है ।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में ‘इन्द्र’ पद का प्रयोग पुराण कल्पित इन्द्र के लिए नहीं, अपितु वेदोक्त अक्षर ब्रह्म के लिए किया गया है । वह ब्रह्म अनन्त शक्ति सम्पन्न तथा कान्तिमान है । ब्रह्मानन्द के इच्छुक उपासक जन उस अद्वितीय ब्रह्म के साक्षात्कार की ही सर्वदा कामना करते हैं ।

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च ।
धर्ता च विधर्ता च विधारयः ॥

यजुर्वेद अ. १७/मं. ८२

पदार्थ—(ऋतः) सत्य का जानने वाला (च) भी, (सत्यः) श्रेष्ठों में श्रेष्ठ (च) भी, (ध्रुवः) दृढः निश्चय युक्त (च) भी, (धरुणः) सबका आधार (च) भी, (धर्ता) धारण करने वाला (च) भी, (विधर्ता) विशेष कर धारण करने वाला अर्थात् धारकों का भी धारक (च) भी और (विधारयः) विशेष करके सब व्यवहार का धारण करने वाला ब्रह्म है ।

भावार्थ—अक्षर ब्रह्म भ्रान्तित्व से रहित, अद्वितीय तथा अपनी सत्ता से असंख्य लोकों को धारण करने वाला है ।

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ॥

ऋ. ८/१०१/११, साम. ऐन्द्रकाण्ड प्र. ३/५/४ (२७६)

पदार्थ—(सूर्य)² हे सूर्यो के सूर्य ! (बट्) यह सत्य है कि आप (महान् असि) महान हैं । (आदित्य) हे अविनाशी ! (बट्) सत्य है कि आप (महान् असि) महान हैं । (महः ते सतः) क्योंकि आप वस्तुतः महान हैं अतः आपकी ही (महिमा) महिमा सर्वत्र है । (पनिष्टम) स्तुति करने योग्यों में सबसे श्रेष्ठ ! (देव)³ क्रीडावत् सहज स्वभाव से सृष्टि को बनाने वाले ! आप अपनी (महान) महिमा के कारण (महान् असि) महान हैं ।

¹ (इदि परमैश्वर्ये) इस धातु से ‘रन्’ प्रत्यय करने से ‘इन्द्र’ शब्द सिद्ध होता है । य इन्द्रति परमैश्वर्यवान् भवति सः इन्द्रः जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है उस ब्रह्म का नाम इन्द्र है ।

² सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (यजु ७/४२)

³ दिवु क्रीडा विजिगीषाव्यवहारद्युति स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । यो दीव्यति क्रीडति सः देवः ॥

भावार्थ—अनादि, अविनाशी ब्रह्म की ही सत्ता से सूर्य आदि प्रकाशमान नक्षत्र चमकते हैं। अतः प्रस्तुत ऋचा में उसे सूर्यो का भी सूर्य कहा गया है। क्रीड़ा के रूप में असंख्यों लोकों की उत्पत्ति तथा उनका विनाश करने के कारण उसे 'देव' पद से सम्बोधित किया गया है। निःसंदेह वह ब्रह्म अपरिमित महिमा से युक्त है।

त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

ऋ. १/१७/५८, सामवेद आरण्यक काण्ड प्र. ६/१/५ (५९०)

पदार्थ—(सोम) हे ब्रह्म ! (पवमानेन) पवित्र करने वाले (त्वया) आपकी कृपा से (भरे) इस जीवन में (शश्वत्) सर्वदा (वयम्) हम (कृतम्) उत्तम कर्म ही (विचिनुयाम) संग्रह करें। (मित्रः) स्नेहवान (वरुणः)^१ उपासकों द्वारा स्वीकार कर्ता, (अदितिः)^२ अखण्ड (सिन्धुः) समुद्र के समान सबका आश्रय, (पृथिवी) सब जगत का विस्तार करने वाला (उत) और (द्यौः) सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप (नः) हमें (तत्) वह अभिलषित फल (मामहन्ताम्) प्रदान करें।

भावार्थ—सूर्य के समान प्रकाशमान, अखण्ड वह अविनाशी ब्रह्म अपने उपासकों से स्नेह करने वाला, उनका स्वीकार कर्ता, सर्वश्रेष्ठ, सबका आश्रय है। सम्पूर्ण जगत का विस्तारक होने के कारण प्रस्तुत ऋचा में उसे 'पृथिवी' पद से सम्बोधित किया गया है। मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ पदों का प्रयोग ब्रह्म की विशेषताओं का वर्णन करने के लिए हुआ है। प्राकृतिक पृथिवी, सूर्य और सिन्धु आदि का वर्णन करने के लिए नहीं, अपितु ये सभी पद ब्रह्म के गुणात्मक नामों के वाचक हैं।

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

ऋ. १०/१०/२-३, यजु. ३१/२-३, साम. आरण्यक का. अ. ६/४/५ (६१९)

पदार्थ—(यत्) जो (भूतम्) उत्पन्न हुआ, (च यत्) और जो (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला है, और जो (इदम्) यह वर्तमान जगत है, (सर्वम्) इस सब के प्रति (पुरुष^३ एव) पुरुष ही अपना विक्रम दर्शा रहा है। (सर्वा भूतानि) सभी चराचर प्राणी तथा प्राकृतिक लोक (अस्य) इस पुरुष के (पादः) एक पाद के

^१ (वृज् वरणे, वर ईप्सायाम) उणादि 'उनन' प्रत्यय यः सर्वान्-शिष्टान् मुमुक्षुन्धर्मात्मनो वृणोत्यवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्त्रियते वर्यते वा स वरुणः। वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः। (पृथु विस्तारे) यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति तस्मात् स पृथिवी

^२ नविद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः।

^३ पुरुषं पुरिश्य इत्याचक्षीरन् (नि. अ. १/ खं. १३) पुरुषः पुरिषादः पुरिश्यः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तर पुरुषमभिप्रेत्य। यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्। (निरुक्त अ. २ खं. २) पृष्ठ ७६

संकल्प से निर्मित हैं और (अस्य) इस पुरुष के (त्रिपाद्) तीन पाद (अमृतम्) उत्पत्ति तथा विनाश से रहित (दिवि) अपने अखंड प्रकाशमय स्वरूप में विद्यमान रहते हैं।

भावार्थ—प्रकृति मंडल के अन्तर्गत आने वाले असंख्यों लोक-लोकान्तर अक्षर ब्रह्म के चौथे पाद अव्याकृत के संकल्प से उत्पन्न प्रकृति द्वारा निर्मित हैं। इसमें ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। प्राकृतिक जगत् का उपादान कारण अव्याकृत नहीं है अपितु निमित्त कारण है। चौथे पाद से निर्मित इस जड़ जगत् में ब्रह्म की सत्ता दर्शित होती है। अव्याकृत भी अखंड एवं प्रकृति से परे है। शेष इसके तीनों पाद (सत्-स्वरूप, केवल एवं सबलिक) प्रकाशमय अखंड हैं जिनमें अक्षर ब्रह्म की अखंड लीला हुआ करती है।

प्रश्न—क्या सत् + चित् + आनन्द को त्रिपाद् अमृत नहीं कहा जा सकता है ?

उत्तर—कदापि नहीं ! क्योंकि सामवेद (आरण्यक काण्ड प्र. ६ द. ४ मं. ४) में पुरुष अर्थात् ब्रह्म को ‘त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः’ कहा गया है। वस्तुतः त्रिपाद अमृत सबलिक, केवल तथा सत् स्वरूप ही है जिसके ऊपर अक्षर ब्रह्म का मूल स्वरूप है। इससे भी परे अक्षरातीत पूर्णब्रह्म है जिसे मुण्डोपनिषद् (दि. मु./खं. १) में ‘अक्षरात् परतः परः’ कहा गया है। अक्षरातीत पूर्णब्रह्म ही सत् + चित् + आनन्द है। उससे परे कुछ भी नहीं। यदि त्रिपाद् अमृत को सत् + चित् + आनन्द माना जाये तो ‘त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः’ इस वेदोक्त कथन से पुरुष सूक्त के वास्तविक सत्य अर्थ के प्रति विरोधाभास हो जाएगा।

प्रश्न—अक्षर ब्रह्म का चौथा पाद अव्याकृत भी चेतन, एकरस, अखण्ड है, पुनः उसके द्वारा पैदा हुआ प्रकृति का यह ब्रह्माण्ड स्वरूप से परिवर्तनशील तथा नाश की ओर उन्मुख क्यों रहता है ?

उत्तर—अव्याकृत की सृष्टि रचना की इच्छा को प्रकृति का मूल अर्थात् मूल प्रकृति कहते हैं। उस चेतन मूल प्रकृति (अक्षर ब्रह्म के मन स्वरूप अव्याकृत के संकल्प) से त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति उत्पन्न होती है जो इस सृष्टि का उपादान कारण है। कारण प्रकृति में विक्षोभ से परमाणुओं में कम्प होता है जिससे महत्त्व की रचना होती है और सृष्टि उत्पत्ति का क्रम आगे बढ़ता है। अत्यन्त सूक्ष्म कम्पनशील परमाणुओं से बना होने के कारण यह सम्पूर्ण जगत् सर्वदा परिवर्तनशील तथा विनाश की ओर उन्मुख रहता है, जबकि अव्याकृत के स्वरूप में कभी भी विकृति नहीं आ सकती है क्योंकि अक्षर ब्रह्म का चौथा पाद होने के कारण वह भी त्रिगुणातीत है।

प्रश्न—पूर्वोक्त ऋचा में कथित “पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्” का वास्तविक अर्थ यह है कि जो उत्पन्न जगत् है और भविष्य में उत्पन्न होने

वाला है, वह सब पुरुष ही है अर्थात् इस जगत् में पुरुष (ब्रह्म) ओत-प्रोत हो रहा है।

उत्तर—‘पुरुष एव इदं सर्वं’ का अर्थ यह है कि जो कुछ भी इस जगत् में उत्पन्न हुआ है और भविष्य में होगा, यह सब कुछ ब्रह्म के चौथे पाद के द्वारा प्रकट हुआ है। इस जड़ जगत् में ब्रह्म की सत्ता ओत-प्रोत है। उसकी सत्ता से एक कण भी रहित नहीं हैं। पुरुष को तो त्रिपाद अमृत से ऊपर बतलाया गया है तथा इस जड़ जगत् को चौथे पाद के द्वारा उत्पन्न हुआ माना गया है। देखिए यजुर्वेद (अ. ३१ मं. ४) ‘त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।’ पुनः इस जड़ जगत् में पुरुष को ओत-प्रेत मानन अनुचित हैं।

प्रश्न—ततो विराडजायत विराजोऽअधि पुरुषः। यजुर्वेद (अ. ३१/मं. ५) में पुरुष को ब्रह्माण्ड के अन्दर प्रकट हुआ माना गया है, पुनः उसे त्रिपाद अमृत के ऊपर क्यों कहते हैं ?

उत्तर—प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्माण्ड के अन्दर जिस पुरुष के प्रकट होने का वर्णन है वह अक्षर ब्रह्म नहीं, अपितु गीतोक्त प्रथम पुरुष नारायण हैं। गीता में तीनों पुरुषों का स्पष्ट वर्णन हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कुटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोक त्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

गीता अ. १५/श्लोक १६, १७

कूटस्थ अक्षर त्रिपाद अमृत के ऊपर है तथा प्रस्तुत वेद मन्त्र में वर्णित (ब्रह्माण्ड में प्रकट हुआ) पुरुष गीतोक्त प्रथम पुरुष है। इन दोनों से परे अक्षरातीत पूर्णब्रह्म हैं।

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

ऋ. १०/९०/३-२, यजु ३१/३-२, सा. आरण्यक का. ६/४/६ (६२०)

पदार्थ—(तावान्) यह दृश्य-अदृश्य ब्रह्माण्ड (अस्य) इस ब्रह्म की (महिमा) केवल महिमा का सूचक है। (पूरुषः) पुरुष तो (ततः) उस ब्रह्माण्ड से (ज्यायान्) बहुत बड़ा है। (उत) और वह ब्रह्म (अमृतत्वस्य) जीवों के मोक्षसुख का भी (ईशानः) स्वामी है। (यद्) जो मोक्ष सुख भी (अन्नेन) अन्नमय शरीर के आधार पर (अतिरोहति) प्ररोहित होता है।

भावार्थ—असंख्य ब्रह्माण्डों से परिपूर्ण सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल का परिमाण ज्ञात करना मानवीय बुद्धि के द्वारा असम्भव है । किन्तु ये सारे ब्रह्माण्ड उस महान ब्रह्म के यशोगान के प्रतीक हैं । इससे भी परे असीमित विस्तार का शब्दातीत, त्रिगुणातीत बेहद भूमि (अक्षर के चारों पाद) है, जिसके परे अक्षर ब्रह्म का मूल स्वरूप है । महाशून्य को पार करके ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले जीवों के मोक्ष सुख का स्वामी भी ब्रह्म है । अन्नमय शरीर ही मोक्ष का साधन है ।

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।

विश्वकर्मा विश्वदेवो महौ असि ॥

ऋ. ८/१८/२, अथर्व. २०/६२/६, सा. उत्तरार्चिक प्र. ३/सू. २२/मं. २ (१०२६)

पदार्थ—(इन्द्र)^१ हे अखिल ऐश्वर्य युक्त ब्रह्म ! (त्वम्) आप (अभिभूः असि) सबसे अधिक सामर्थ्यवान् हैं । (त्वम्) आपने ही (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयः) चमकाया है । (विश्वकर्मा) आप ही सबके कर्ता, (विश्वदेवः) सबके उपास्य, ब्रह्म हैं । (महान् असि) आप सबसे महान हैं ।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में ‘इन्द्र’ पद का प्रयोग अक्षर ब्रह्म के लिए किया गया है । पुराणों के कथित देवताओं के राजा इन्द्र से इस मन्त्र का कोई भी सम्बन्ध नहीं है । सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण इस मन्त्र में अक्षर ब्रह्म को ‘इन्द्र’ कहकर सम्बोधित किया गया है । अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की सत्ता का स्वरूप होने के कारण अक्षर ब्रह्म के समान कोई भी सामर्थ्यवान् नहीं है । उसी की सत्ता से सूर्य, नक्षत्र सभी प्रकाशित होते हैं । सभी जीवों का वही उपास्य एवं महानतम् पूज्य प्रभु है ।

प्रश्न—पौराणिक कथाओं में वर्णित ‘विश्वकर्मा’^२ नामक देवता जिनकी आजकल पूजा होती है, क्या वेद में वर्णित विश्वकर्मा से भिन्न हैं ?

उत्तर—वर्तमान समय में पौराणिक शिल्पकार जिस विश्वकर्मा को अपना पूज्य देव मानकर पूजा करते हैं, वह वैदिक काल के एक विद्वान हैं, जिनकी गणना अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र की संहिताओं के रचनाकारों (विश्वकर्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मय) में की जाती है । जिस विश्वकर्मा की आजकल पौराणिक लोग मूर्तियां बनाकर पूजा करते हैं, वह मात्र जीव है । किन्तु सामवेद के पूर्वोक्त मन्त्र में वर्णित विश्वकर्मा पद का प्रयोग अनादि अक्षर ब्रह्म के लिए ही किया गया है । वैदिक साहित्य में विश्वकर्मा का अर्थ होता है—सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरो एवं चर-अचर प्राणी मात्र का कर्ता अक्षर ब्रह्म । ‘विश्वकर्मा’ शब्द की व्याख्या करते

^१ (इदि परमैश्वर्ये) इस धातु से ‘रन्’ प्रत्यय करने से ‘इन्द्र’ शब्द सिद्ध होता है । य इन्द्रति परमैश्वर्यान् भवति सः इन्द्रः ।

^२ विश्वकर्मा पद नाम ॥ (अ. ५ खं. ४) विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता ॥ निरुक्त अ. १० पां. ३ खं. २५

हुए निरुक्त के व्याख्याकार स्वामी ब्रह्मामुनि अपने ग्रन्थ 'निरुक्त सम्मर्श' के पृष्ठ ७४४ पर लिखते हैं—

विश्वकर्मा प्रजापतिः परमात्मदेवो विमना विभूतमना अतिशयमनन-
शक्तिमान् ।

यस्मिन् विश्वकर्मणि प्रजापतौ परमात्मदेवे सप्त-ऋषीणानीन्द्रियाणि
पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि नासिका प्रभृतीनि मनो बुद्धिश्चेति सप्त किलैकी भवन्ति य
एभ्यः परोऽतीन्द्रियो विश्वस्यात्मा विश्वकर्मा परमात्माऽस्ति ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स बले हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥

ऋ.८/९३/८, अथर्व. २०/४७/२, सा. उत्तरार्चिक प्र.५/ख.६/सू.१०/मं./२ (१२२३)

पदार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् ब्रह्म (दामने) समस्त सुख देने में
(कृतः) समर्थ, (ओजिष्ठः) अतिशय ओजस्वी है । (सः) वह (बले) बल की प्राप्ति के
निमित्त (हितः) उपासक का हित चिन्तक है । (द्युम्नी) यशस्वी है, (श्लोकी)
वेदवाणियों का स्वामी है । (सः सोम्यः) वह सौम्य स्वभाव वाला है ।

भावार्थ—वह सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का स्वामी अपने उपासकों को सभी सुख
प्रदान करने में समर्थ है । वह सर्वदा ही उपासकों का कल्याणकर्ता है । सम्पूर्ण
सत्य ज्ञान का स्वामी भी वही है ।

गिरा वज्रो न सम्भृतः सबलो अनपच्युतः ।

ववक्ष उग्रो अस्तुतः ।

ऋ.८/९३/९, अथर्व. २०/४७/३, सा. उत्तरार्चिक प्र.५/ खण्ड ६/ सू.१०/मं.३/(१२
२४)

पदार्थ—वह ब्रह्म पाप-वृत्र के विनाश के लिए (वज्रः न) वज्र के समान
है । (गिरा) स्तुति वाणियों द्वारा (सम्भृतः) अपनाया जाता है । (सबलः) बलशाली
है, (अनपच्युतः) कूटस्थ है, (अस्तुतः) अविनाशी है, (उग्रः) उग्र रूप होकर दृढ़ता
से (ववक्षे) संसार को धारण करता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार वज्र अमोघ अस्त्र है उसी प्रकार अनादि,
अविनाशी, कूटस्थ ब्रह्म की उपासना से जीव पाप से रहित हो जाता है । यद्यपि
शुभ-अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, किन्तु ब्रह्म की उपासना से वह
निर्मल अन्तःकरण वाला हो जाता है तथा भविष्य में पाप नहीं कर पाता है ।
इसके अतिरिक्त वह संचित तथा क्रियमाण कर्मों को भी अपनी योगाग्नि से भस्य
कर देता है । उसे मात्र प्रारब्ध कर्मों को ही भोगना पड़ता है । वह अपनी अनन्त
सत्ता द्वारा असंख्यों लोक-लोकान्तरों को सहजतया ही धारण करता है ।

समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम् ।

सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः ॥

ऋ. ८/५२/१०, सा. उत्तरार्चिक प्र. ८/ ख. २/सू. ७/ मं. २ (१६७८)

पदार्थ—(इन्द्रः) ब्रह्म ने (बृहतीः) बड़ी-बड़ी (रायः) शक्तियां (सम् अधूनुत) प्रेरित की हैं (उत) और (क्षोणी) बहुत से लोकों को आकाश मण्डल में चला रखा है । (समु सूर्यम्) सूर्य को भी चला रखा है । (शुचयः) निर्मल^१, (शुक्रासः) निष्पाप, (गवाशिरः) ज्ञान का आश्रय करने वाले, (सोमाः) ब्रह्मानन्द की कामना करने वाले उपासक जन उस (इन्द्रम्) ब्रह्म को (सम् अमन्दिषुः) प्रसन्न करते हैं ।

भावार्थ—ब्रह्म अनन्त शक्ति का मूल स्रोत है । उसकी सत्ता के अधीनस्थ सृष्टि के असंख्यों नक्षत्र आकाश में गतिमान हैं । जिन निर्मल अन्तःकरण युक्त पुरुषों को ब्रह्मानन्द की कामना होती है, वे अपनी उत्तम स्तुति वाली वाणियों के द्वारा उस अविनाशी ब्रह्म की स्तुति करते हैं ।

प्रश्न—प्रसन्न होना और अप्रसन्न होना जीव के लक्षण है, ब्रह्म के नहीं । पुनः मुमुक्षु प्राणी ब्रह्म को अपनी उपासना के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा क्यों करते हैं ?

उत्तर—जिस प्रकार अग्नि के पास जाने पर उसकी उष्णता का अनुभव होता है, उसी प्रकार उस निर्विकार, शुद्ध स्वरूप वाले ब्रह्म की उपासना करने से उपासक भी निर्विकार होने लगता है । पूर्णतया निर्विकार हुए बिना ब्रह्म का साक्षात्कार असम्भव है । किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार होना और निर्विकारिता प्राप्त करना ब्रह्म की कृपा पर निर्भर है । ब्रह्म की कृपा उपासक की उपासना पर निर्भर करती है । उस कृपा को प्राप्त करना ही लौकिक दृष्टि से ब्रह्म को प्रसन्न करना है ।

न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।

अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ।

ऋग्वेद मंडल ७/सू. ३२/मं. २३

पदार्थ—(मघवन्) ज्ञान, शक्ति आदि अनन्त धन युक्त (इन्द्र) अखिल ऐश्वर्य युक्ति ब्रह्म ! (त्वावान् अन्यः) आपके समान अन्य कोई भी दूसरा (दिव्यः न) दिव्य, शुद्ध स्वरूप नहीं है । (न पार्थिवः) और न प्रकृति में हुआ ही है (न जनिष्यते) और न कभी होगा । (अश्वायन्तः) महान विद्वानों द्वारा कामना किए जाने वाले, (वाजिनः) विज्ञान वाले, (गव्यन्तः) तथा उत्तम वाणी की इच्छा करने वाले हम (त्वा हवामहे) तुम्हारी प्रशंसा करते हैं ।

^१ इतरः शुचिः शुद्धः एतस्मादेव शुचधातोर्विज्ञेयः । यतो ह्यस्मात् पापकं मलिनत्वं निष्पिक्तं निःश्रितं निःसृतं कृतम् । निरुक्त सम्मर्श पृ. सं. ३५८

भावार्थ—इस मन्त्र से उन जैन आदि मतों का खण्डन होता है जिनका यही कथन होता है कि जब जीव योग, तप आदि के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है, तो वही ब्रह्म हो जाता और कोई अनादि ब्रह्म नहीं है। इसका उत्तर इस मन्त्र में दिया गया है। मुक्त जीव अनेक होते हैं, किन्तु ब्रह्म तो सर्वदा एक ही रहता है। मुक्त जीवों के पहले यदि कोई अनादि ब्रह्म नहीं था तो सृष्टि किसने पैदा की तथा उसका संचालक कौन था ? वस्तुतः जीव कितना भी विज्ञानी तथा योगसिद्ध क्यों न हो जाय, किन्तु वह अनादि ब्रह्म की तरह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सृष्टिकर्ता कदापि नहीं बन सकता। वही ब्रह्म संसार के प्राणियों का उपास्य है।

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदाचन ।

सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ।

ऋग्वेद का १०/सू. ४८/मं. ५

पदार्थ—(अहं इन्द्रः) अखिल ऐश्वर्ययुक्त (मैं) ब्रह्म (धनं न इत् परा जिग्ये) अनन्त ज्ञान, शक्ति तथा अविनाशीपन रूपी धन को कभी नहीं हारता (हूँ) (न मृत्यवे अव तस्थे) और न कभी मृत्यु के नीचे हुआ हार पाता हूँ। हे विद्वानो ! आप लोग (सोमं सुन्वन्तः) मुझे सर्वोत्पादक की उपासना करते हुए (मा इत् याचत) मुझसे नाना याचनाएं किया करो। हे (पूरवः) मनुष्यो ! आप लोग (मे सख्ये न रिषाथन) मेरे सख्य भाव में रहकर कभी विनाश को प्राप्त मत हो।

भावार्थ—ब्रह्म का स्वरूप अखण्ड एकरस है। वह अनादि काल से जैसा था, वैसा ही अब भी है तथा अनन्त काल के पश्चात् भी वैसा ही रहेगा। उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति में कभी भी कमी नहीं आ सकती। उसकी उपासना करके, साक्षात्कार करने वाले अविनाशी धाम को प्राप्त होते हैं।

अक्षर ब्रह्म विषयक यह तृतीय समुल्लास संपूर्ण हुआ। इसके आगे ब्रह्म के धाम-विषय पर लिखा जायेगा।

चतुर्थ समुल्लास

ब्रह्म का धाम

दुनियां जो छाया मिने, सो करे अटकलें अनेक ।
छाया सूर न देखहीं, पीछे कहे ताए रूप न रेख ॥
क्यों सब्द आगे चले, तुम कर देखो विचार ।
छाया पार किरना रहें, सूरज किरनों पार ॥
पैदास जुलमत काल की, सो तो है सब नास ।
खेलें काल के मुख में, ताए अब हीं करोगो ग्रास ॥
हक सूरत नूर के पार है, तहां सब्द न पोहोंचे बुध ।
चौदे तबक छाया मिने, इनें नहीं सूर की सुध ॥

सनंध प्र. २९ चौ. ३१-३४

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्टेऽवचाकशत् ।

अथर्ववेद का. १३/सू. ४/मं. १

पदार्थ—(सः) वह (सविता) सूर्य के समान प्रकाशमान परमात्मा (स्वः) परम सुखमय धाम में (एति)^१ व्याप्त है । (दिवः पृष्ठे) प्रकाशमय लोक के पृष्ठ भाग में सूर्य के समान वह मोक्षधाम में (अवचाकशत्)^२ प्रकाशित है या द्रष्टा है ।

भावार्थ—अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्वयं को पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिव को छोड़कर आनन्दमय प्रकाशमय लोक में जाने के लिए कहा गया है । प्रस्तुत ऋचा में सूर्य के समान प्रकाशमान ब्रह्म को पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा दिव से भी परे आनन्दमय, प्रकाशमय, मोक्षधाम में विराजमान कहा गया है । सूर्य का तो मात्र दृष्टान्त दिया गया है, अन्यथा करोड़ों सूर्य, ब्रह्म के तेज के सामने फीके पड़ जायेंगे । पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा दिव प्रकृति मण्डल के अन्तर्गत ही हैं । दिव प्रकृति मण्डल का अन्तिम भाग है जिसके परे आनन्दमय, प्रकाशमय धाम में ब्रह्म है ।

प्रश्न—ब्रह्म का स्वरूप केवल चेतन लोक में ही क्यों है ? प्रकृति के इस नश्वर ब्रह्माण्ड में क्यों नहीं ?

^१ एति गतिकर्मा । निघण्टु अ. २ ख. १४ । अवचाकशत् पश्यति कर्मा । निघण्टु अ. ३ ख. ११

^२ 'पृष्ठात् पृथिव्या अहम् अन्तरिक्षमारुहम् अन्तरिक्षात् दिवमारुहम् । दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वः ज्योतिरगाम् अहम् ।' अथर्ववेद ४-१४-३

उत्तर—सृष्टि रचना में ब्रह्म निमित्त कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है। जिस प्रकार निमित्त कारण कुम्भकार उपादान कारण मिट्टी से कोई घड़ा बनाता है, तो वह घड़े के अन्दर तो नहीं बैठा होता है, अपितु उसका स्वरूप घड़े के बाहर ही होता है। वैसे ही ब्रह्म भी अपने स्वरूप से प्रकृति से परे है। इस कार्य जगत को वह मात्र द्रष्टा होकर देखता है। जिसके संकल्प मात्र से करोड़ों ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और प्रलय होता है, तो यह कदापि सम्भव नहीं है कि उन ब्रह्माण्डों में भी ब्रह्म का स्वरूप हो।

सत सुपने में क्यों कर आवे, सत सांई है न्यारा।

तुम पारब्रह्म सों परच्या नाहीं, तो क्यों उतरोगे पारा ॥

किरंतन प्र. ३२, चौ. २

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणाऽर्वाङ् पश्यति।

प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिज्ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. १९

पदार्थ—(सत्येन) वह महान ब्रह्म अपने तेजोमय स्वरूप से (उर्ध्वः) सबसे ऊपर विराजमान होकर (तपति) तपता है और (ब्रह्मणा) वेद-ज्ञान द्वारा (अर्वाङ्) इस निचले कार्य जगत को (विपश्यति) नाना प्रकार से प्रकाशित करता है। वह (प्राणेन) प्राणरूप वायु द्वारा (तिर्यङ्) तिर्यक् जगत को भी (प्राणति) जीवन प्रदान करता है। (यस्मिन्) उसमें ही (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ अर्थात् सर्वप्रथम उद्भूत वेद का ज्ञान (अधिश्चितम्) स्थित है।

भावार्थ—प्रकृति के इस जड़ संसार से परे चेतन लोक हैं जहां मात्र ब्रह्म का स्वरूप ही सर्वत्र लीला कर रहा है। उसकी सत्ता से इस जड़ जगत का संचालन होता है। सृष्टि में सबसे पहले वेद का ज्ञान अवतरित हुआ, इसलिए उसे 'ज्येष्ठ' पद से सम्बोधित किया गया है।

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्धृतपृष्ठा मधुश्रुतः।

स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥

अथर्ववेद का. ९/सू. ५/मं. १५

पदार्थ—हे (अज) आत्मन ! (एताः) ये (सोम्याः) परब्रह्म की (देवीः) कमनीय, (धृत-पृष्ठाः) प्रकाश स्वरूप, (मधुश्रुतः) मधुर, आनन्द रस को बहाने वाली (धाराः) आनन्द रस की धाराएं (त्वा उपयन्तु) तुझे प्राप्त हों। वह परब्रह्म (नाकस्य^१ पृष्ठे) परमधाम में विराजमान है। उसने (सप्तरश्मौ अधि) सूर्य की सप्त

^१ कथं 'नाकः' उच्यते 'कम्' इति सुखस्य नाम तत्प्रतिषिद्धम्-अकम्-न दुखं तद् दुखं प्रतिषिध्येत-प्रतिषिध्यते। 'न-अकम्-नाकम्-सुखमेव, न दुखं लेशोऽपि'। अत्र प्रमाणं दीयते "न वा अमुं" अमुं लोकं गतवते किमपि नैव-अकं तस्मात् तत् खलु नाकम्। निरुक्त सम्मर्थ अं. २/पा. ४ खं. १४ की व्याख्या में।

रश्मियों के भी ऊपर (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथ्वी और द्यौ को (स्तभान्) अपनी सत्ता से थाम रखा है।

भावार्थ—पृथ्वी और भूलोक से भी परे योगमाया का चेतन लोक एवं उससे भी परे अक्षरातीत का परमधाम है जिसमें अक्षर एवं अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का मूल स्वरूप है।

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।

अथर्ववेद का. ९/सू. ५/मं. १०

पदार्थ—वह ब्रह्म (ददिवांसम्) आत्म-समर्पण करने वाले को (त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे) त्रिपाद् अमृतस्वरूप प्रकाशमय सुखमय धाम में ले जाता है। वह (अजः) परमात्मा (नाकस्य पृष्ठे)^१ सुखमय, आनन्दमय धाम में विराजमान है।

भावार्थ—त्रिपाद् अमृतस्वरूप, प्रकाशमान, सुखमय (सत् स्वरूप, केवल तथा सबलिक) में विराजमान ब्रह्म को सर्वस्व समर्पित होकर भक्ति के द्वारा उपासना करने वाले प्राणी योगमाया के ब्रह्माण्ड में स्थित सुखमय लोकों को प्राप्त करते हैं। इस ऋचा में 'त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे' का प्रयोग योगमाया के ब्रह्माण्ड के लिये ही किया गया है।

कोई ना परखे छल को, जिन छल में हैं आप ।

तो न्यारा खसम जो छल थें, सो क्यों पाइए साख्यात् ॥

कलश हिन्दुस्तानी प्र. २ चौ. ३३

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्व१राभरत् ।

चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. २१

पदार्थ—(अग्रे) सृष्टि के पूर्व (सः) वह ब्रह्म (अपात्) अविज्ञेय रूप (सम् अभवत्) रहा और (अग्रे) सृष्टि के उत्पन्न होने के पूर्व वह (स्वः) सुखमय, प्रकाशमय धाम को (आभरत्) धारण करता था। वह (चतुष्पात् भूत्वा) चार पादों वाला होकर (भोग्यः) और सब संसार का भोक्ता बनकर (सर्वम्) समस्त संसार को (भोजनम्) अपना भोजन बनाकर अपने चौथे पाद में (आदत्त)^२ प्रलय में ले लेता है।

^१ “पृष्ठं स्पृश धातोः स्पृश धातोः “तिथपृष्ठगूथ यूथप्रोथः” (उणादि २/१२) थक् प्रत्ययान्तो निपात्यते निपातनात् स्पृशः पृथ्- आदि सकारस्य लोपः पृष्ठम् । यतः पृष्ठमङ्गैः सह संस्पृष्टं भवति । निरुक्त सम्मर्थ अ. ४/पा. १/खं. ३ की व्याख्या।

^२ अत्ता चराचरग्रहणात् । वे. द. अ. १ पा. २ सू. ९। चराचर के ग्रहण करने से ब्रह्म को खाने वाला (भोक्ता) कहा गया है।

भावार्थ—अक्षर ब्रह्म का मूल स्वरूप परमधाम के अन्दर ही है। उसके चार पाद हैं जिसमें तीसरे और चौथे पाद के द्वारा सृष्टि उत्पन्न होती है तथा पुनः प्रलय को प्राप्त हो जाती है। तो यह कदापि सम्भव नहीं है कि उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले इस जगत् में ब्रह्म का स्वरूप हो सके। यह सारी सृष्टि माया की है, जिससे परे अक्षर के अविनाशी चारों पाद तथा उससे भी परे परमधाम में उसका मूल स्वरूप है, न कि इस जड़ संसार में।

प्रश्न—चतुष्पाद का यह वर्णन अक्षर ब्रह्म का है या अव्याकृत का ?

उत्तर—इस पूर्वोक्त ऋचा का विनियोग अक्षर ब्रह्म के मूल स्वरूप के लिए किया जाएगा न कि उसके चौथे पाद अव्याकृत के लिए, क्योंकि यह मन्त्र अथर्ववेद के जिस सूक्त में है उसका देवता (प्रतिपाद्य विषय) आत्मा है। अतः इस पूरे सूक्त का विनियोग अक्षर ब्रह्म और अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के लिए ही होगा।

प्रश्न—अक्षर ब्रह्म जिस प्रकाशमय, आनन्दमय, परमधाम में है वह कहाँ पर है ?

उत्तर—“त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः” यजुर्वेद (अ. ३१ मं. ४) के अनुसार पुरुष (ब्रह्म) त्रिपाद् अमृत (सबलिक, केवल और सत् स्वरूप) के ऊपर हैं। मुण्डकोपनिषद्. (द्वि. सु. द्वितीय खण्ड) के अनुसार— “दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योन्यात्मा प्रतिष्ठितः”। अर्थात् दिव्य ब्रह्मपुर में ब्रह्म है। ब्रह्म एक है, अतः ब्रह्मपुरी भी एक ही होगी। यह स्पष्ट है कि योगमाया के ब्रह्मांड (अव्याकृत, सबलिक, केवल और सत् स्वरूप) के ऊपर दिव्य ब्रह्मपुर (परमधाम) है, जिसमें अक्षर तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप है। वेद में वर्णित ब्रह्मपुरी के लक्षणों पर चिन्तन-मनन करने से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगा कि ब्रह्म तथा ब्रह्मपुरी इस प्रकृति के संसार में नहीं हैं।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

अथर्ववेद का. १०/सू. २/मं. २९

पदार्थ—(यः) जो (वै) निश्चय ही (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (अमृतेन) अमृत से (आवृतां) घिरी हुई (ताम्) उस (पुरम्) पुरी को (वेद) जान लेता है, (तस्मै) उसे (ब्रह्म च) वह ब्रह्म और (ब्राह्माः) ब्रह्म के उपासक जन (चक्षुः) ज्ञान-चक्षु, (प्राणम् च) जीवन-सामर्थ्य और (प्रजाम्) प्रजा को (ददुः) प्रदान करते हैं।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में ‘अमृत’ पद का प्रयोग ‘ब्रह्म के स्वरूप’ को दर्शाने के लिए किया गया है। उस ब्रह्मपुरी को अमृत से परिपूर्ण कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि वह ब्रह्मपुरी इस मानव शरीर या प्रकृति के ब्रह्माण्ड में कहीं भी नहीं है। क्योंकि यदि अमृत से परिपूर्ण वह ब्रह्मपुरी शरीर तथा ब्रह्माण्ड

में होती, तो कभी भी शरीर और ब्रह्माण्ड का नाश नहीं होता। फिर सभी शरीरों के अन्दर एक-एक ब्रह्मपुरी मानने पर असंख्य ब्रह्मपुरियां हो जाएंगी और उनमें स्थित ब्रह्म भी असंख्य हो जाएंगे। केवल मानव की जनसंख्या ही इस समय अरबों में है, अन्य प्राणियों की संख्या तो असीमित है। ब्रह्म का असंख्य माना जाना वेद को कदापि मान्य नहीं है। अतः यह पूर्णतया स्पष्ट है कि वह ब्रह्मपुरी मानव या किसी भी प्राणी के शरीर या प्रकृति के इस ब्रह्माण्ड में नहीं हैं।

उपर तले मांहे बाहेर, दसो दिसा सब एह ।
छोड़ याको कोई ना कहे, ठौर खसम का जेह ॥

क. हि. प्र. २ चौ. १९

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. २/मं. ३०

पदार्थ—(यः) जो (ब्रह्मणः पुरं वेद) ब्रह्म की उस पुरी को जानता है (यस्याः) जिसका स्वामी (पुरुषः उच्यते) साक्षात् परब्रह्म कहा जाता है, (तम्) उसको (चक्षुः) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय गण एवं (प्राणः) प्राण (जरसः पुरा) जरावस्था से पूर्व (न जहाति) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—इस प्रकृति के संसार में ऊपर नीचे सर्वत्र माया ही है। इससे परे ब्रह्मपुरी कहाँ है और कैसी है? इस रहस्य को जो जान लेता है वह वृद्धावस्था से भी बाद की उम्र वाली अवस्था से पहले अपने नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित नहीं हो पाता है। संसार के कण-कण में ब्रह्मपुरी एवं ब्रह्म का अस्तित्व मानने वाले लोग कभी भी अल्पायु में प्राण-त्याग नहीं कर पाते यदि वे यह यथार्थ रूप में जान जाते कि ब्रह्मपुरी इस प्रकृति मण्डल से परे हैं।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. २/मं. ३१

पदार्थ—(अष्टाचक्रा) आठ चक्रों और (नवद्वारा) नवद्वारों से युक्त (देवानाम्)^१ अर्थात् जो अपने आनन्द स्वरूप वालों की (अयोध्या) किसी से युद्ध के द्वारा विजय न की जाने वाली (पूः) पुरी है। (तस्यां) उसमें (हिरण्ययः) तेजः

^१ दिवु क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युतिस्तुति। मोहमद-स्वप्नकान्तिगतिषु। इस धातु से देव शब्द सिद्ध होता है अर्थात् आप आनन्द स्वरूप और दूसरों को आनन्द देने वाला। यो दीव्यति स देवः। अर्थात् जो अपने स्वरूप में आप ही क्रीड़ा करता है।

स्वरूप (कोशः)¹ कोश (स्वर्गः) सुख स्वरूप है जो (ज्योतिषा आवृतः) ज्योति से ढका हुआ है ।

भावार्थ—इस ऋचा ‘देव’ पद का प्रयोग ब्रह्ममुनियों (ब्रह्म सृष्टियों) के लिए किया गया है । तेज, सौन्दर्य, एकत्व, शोभा, प्रेम, ज्ञान तथा मूल संबंध को आठ चक्र कहकर संबोधित किया गया है । इस ऋचा से पूर्व की ऋचाओं में यह वर्णित किया जा चुका है कि वह ब्रह्मपुरी अमृत से आवृत है तथा इस मन्त्र में उस ब्रह्मपुरी के अन्दर ही आठ चक्रों को माना गया है । अतः ब्रह्मपुरी के आठ चक्रों को मल-मूत्र से भरे इस नश्वर शरीर में मानना उचित नहीं है । ब्रह्मपुरी को अयोध्या इसलिए कहा गया है कि वह किसी भी जीव के द्वारा जीती नहीं गयी है अर्थात् अब तक किसी भी जीव ने उसमें प्रवेश नहीं किया है । नव द्वारों को परमधाम की नव भूमियों के लिए वर्णित किया गया है । उस ब्रह्मपुरी में शुक्रमयी (नूरमयी) ज्योति से आवृत आनन्दमय प्रकाशमय कोश है ।

सच्चिदानन्द परब्रह्म के अनन्त तेज, सौन्दर्य, एकत्व, शोभा, प्रेम, ज्ञान, आत्माओं से अटूट सम्बन्ध तथा प्रेममयी कृपा को दर्शाने के लिए इनके नाम पर परमधाम (ब्रह्मपुरी) में आठ सागरों की शोभा दर्शायी गयी है, जिन्हें चक्र कहा गया है ।

यद्यपि पुरुष शरीर में ९ द्वार अवश्य होते हैं किन्तु, आयुर्वेद के अनुसार स्त्री के शरीर में १२ द्वार होते हैं—

स्त्रीणां त्रीण्यधिकानि स्युः स्तनयोर्गभवर्त्मनः ।

सूक्ष्मच्छिद्राणि चान्यानि मतानि त्वचि जन्मिनाम् ॥

शाङ्गधर संहिता प्र. खं. ५/६९

स्त्रियों में तीन रन्ध्र विशेष होते हैं । इनमें दो रन्ध्र (छिद्र) स्तनों में तथा एक गर्भाशय में, इनके अलावा असंख्य रन्ध्र मानव की त्वचा में ही माने जाते हैं ।

प्रश्न यह होता है कि न्यायकारी परमात्मा ने महिलाओं के शरीर में ९ द्वार के स्थान पर १२ द्वार क्यों बनाये ? इस आधार पर तो उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार का अधिकारी ही नहीं मानना चाहिए । क्योंकि उपरोक्त ऋचा में नव द्वारों वाले पुरुष शरीर का वर्णन है, जिसमें ब्रह्मपुरी का अस्तित्व माना जाता है । अमीबा तथा बैक्टीरिया जैसे सूक्ष्म जीवाणुओं में आठ चक्रों एवं नव द्वारों का होना असम्भव है । जन्म से पूर्व माता के गर्भ में पलने वाला शिशु भी अपनी नाभि से निकली हुई नाल के द्वारा पाचक रसों का सेवक करके जीवित रहता है । इस

¹ कोश-कोशः कुष्णातेर्विकुषितो भवति । अयमपीतरः कोशः एतस्मादेव सञ्चय आचित मात्र मात्रो महान् भवति । निरुक्त अ. ५/पा. ४/खं. २६ ‘कुष निष्कर्षे’ (क्रयादि.) पचाद्यचि पकारस्व शकारछान्दसः इतरो लोक प्रसिद्धः कोशोऽप्येतस्मादेव धातोर्भवति सञ्चयः । निरुक्त सम्मर्थः । पृष्ठ ३४७

प्रकार उसे भी द्वार कहा जा सकता है। योगियों की दृष्टि में ब्रह्मरन्ध्र को दशवां द्वार माना जाता है। कठोपनिषद् (५/१) में एकादश द्वार का भी अस्तित्व माना गया है। ऐसी अवस्था में परमधाम को ही “नव भूम्यात्मर्क” (द्वार) मानना उचित होगा।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार एक एटम के नाभिक में प्रोटान्स तथा न्यूट्रान्स संकलित होते हैं जिनके चारों ओर इलेक्ट्रान्स २२०० किमी/सेकेण्ड के वर्ग से परिक्रमा करते हैं। यही सिद्धांत उपग्रहों, ग्रहों, सूर्यों तथा आकाशगंगाओं पर भी घटित होता है अर्थात् उपग्रह अपने ग्रह की, ग्रह सूर्य की तथा सूर्य आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता है। सौर मण्डल के द्वारा आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता है। सौर मण्डल के द्वारा आकाशगंगा के केन्द्र की एक परिक्रमा करने में २३० अरब वर्ष लगते हैं जबकि सौर मण्डल की गति ८२८००० किमी प्रति घंटा होती है।

इसी प्रकार स्वलीला अद्वैत सच्चिदानन्द परब्रह्म का अनन्त परमधाम उनके हृदय में बसता है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि यदि मानव को ब्रह्मज्ञान का प्रकाश मिल जाए तथा वह सर्वस्व समर्पण एवं प्रेम मार्ग का पथिक बनकर ब्रह्म का साक्षात्कार कर ले तो उसे अनन्त सूर्यों के समान प्रकाशमान ब्रह्मधाम का साक्षात्कार अपनी आत्मा के धाम हृदय में हो सकता है। इस दृष्टि से यदि लाक्षणिक रूप में कहा जाये कि उसके अन्दर ब्रह्मपुरी जैसी स्थिति बन गई है तो उचित है किन्तु यह कहना कि हर मानव का शरीर ही ब्रह्मपुरी है, उचित नहीं।

यद्यपि व्यष्टि रूप से मानव के हृदयकाश या एकादश द्वार (परम गुहा) में भी ब्रह्मपुरी को विद्यमान कहा जा सकता है, क्योंकि मात्र मानव तन में ही ब्रह्म का साक्षात्कार होना संभव है और इस प्रकार का कथन भावात्मक रूप से ही है। यही कारण है कि “अष्टाचक्रा नवद्वारा” का अभिप्राय मानव तन से ही लिया जाता है। किंतु, यथार्थ रूप से अखंड ब्रह्मपुरी तो मात्र अखंड धाम में ही है।

प्रश्न—असीम का अर्थ है-जिसकी कोई सीमा न हो। यदि आप परमधाम को आठ सागरों से घिरा हुआ मानते हैं तो स्वयं ही उसे सीमाबद्ध कर देते हैं। ऐसी स्थिति में परमात्मा तथा परमधाम की असीमता पर प्रश्न खड़ा हो जाता है।

उत्तर—जिस प्रकार एक चींटी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी इस पृथ्वी का परिमाण ज्ञात नहीं कर सकती या एक मेंढक सभी सागरों का परिमाण नहीं बता सकता है उसी प्रकार मानवीय बुद्धि के लिए भी यह सम्भव नहीं है कि वह सम्पूर्ण क्षर सृष्टि का परिमाण ज्ञात कर सके।

वर्तमान में हम जिस आकाशगंगा के पृथ्वी लोक में रहते हैं वह इस सृष्टि की एक छोटी सी एवं नई आकाशगंगा है। अभी सबसे दूर जिस आकाशगंगा का पता चला है वह हमारी आकाशगंगा से ९२०० करोड़ प्रकाश-वर्ष दूर है, प्रकाश-वर्ष वह दूरी है जिसमें ३ लाख किसी प्रति सेकेण्ड की माप से १ वर्ष में तय की जाए।

मानवीय बुद्धि के लिए ग्रह नक्षत्रों से युक्त अनन्त सी दिखने वाली यह सृष्टि भी क्षर जगत का मात्र १०% है। शेष ९०% के विषय के कोई भी अभी तक यह नहीं जान सका है कि वहां क्या है? इस १०% में भी ८०% केवल अन्धकार ही अन्धकार है जिसे आधुनिक विज्ञान डार्क मैटर और एनर्जी की संज्ञा देता है, जो दर्शनशास्त्र की भाषा में महत्त्व और अहंकार है, जिससे आकाशगंगाएँ प्रकट होती रहती हैं।

जब आज का तथाकथित शिक्षित मानव अपनी सम्पूर्ण बुद्धि तथा आधुनिकतम यन्त्रों का प्रयोग करके भी इस क्षर जगत (हृद) का विस्तार नहीं जान सकता तो इससे परे चतुष्पाद वभूति (बेहद) तथा परमधाम के अनन्त परिमाण के विषय में कैसे जान सकता है?

सम्पूर्ण परमधाम सच्चिदानन्द परब्रह्म की तरह ही स्वलीला अद्वैत है। वहां की प्रत्येक माप, शोभा, संख्या एवं तेज को किसी भी सीमा के बन्धन में नहीं बांधा जा सकता। आठ सागर परब्रह्म के आठ गुणों तेज, सौन्दर्य, एकतत्त्व, शोभा, प्रेम, ज्ञान, अखण्ड सम्बन्ध तथा कृपा को दर्शाने के लिए वर्णित किए गए हैं, जिन्हें सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। यह वर्णन तो वैसे ही है जैसे गंगा जी के जल को एक छोटी-सी शीशी में भरकर उसे गंगा कहा जाए। स्वलीला अद्वैत परमधाम के प्रत्येक कण से भी आठों सागरों की अनुभूति की जा सकती है। वस्तुतः अनन्त को मानवीय बुद्धि के लिए ग्राह्य बनाने हेतु इस प्रकार का वर्णन किया गया है।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यजरे त्रिप्रतिष्ठिते ।

तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. २/मं. ३२

पदार्थ—(तस्मिन्) उस (हिरण्यये कोशे) तेजोमय कोश में (त्रि-अरे) तीन अरे (त्रि-प्रतिष्ठिते) तीन में प्रतिष्ठित हैं। उसमें (यत् यक्षम्) जो परम पूजनीय तत्त्व, (आत्मन्वत्) परमात्मस्वरूप है, (तद् वै) उसका ही निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (विदुः) ज्ञान किया करते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मपुरी के अन्दर स्थित उस तेजोमय कोश में तीन अरे (अक्षर ब्रह्म, अक्षरातीत तथा आनन्द अंग) त्रि में प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् सत्+चित्+आनन्द

के त्रैत में स्थित हैं । उसमें सत्य स्वरूप वाला पूजनीय अक्षर ब्रह्म है, जिसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।

प्रश्न—मानव शरीर में भी आठचक्र तथा नवद्वार हैं । अतः मानव शरीर को ही ब्रह्मपुरी मानना चाहिए क्योंकि वेद में भी मानव शरीर के अन्दर जीव तथा ब्रह्म के अस्तित्व का वर्णन किया गया है । देखिए—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।

अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा ३ वर्धमानः ॥

ऋ. मंडल ६/सू. ९/मं. ४

पदार्थ—जो (ध्रुवः) दृढ (निषत्तः) स्थित (प्रथमः) प्रथम (होता) देने या ग्रहण करने वाला (अयम्) यह (मर्त्येषु) मरण धर्म युक्त शरीरों में (इदम्) इस प्रत्यक्ष (अमृतम्) नाश से रहित (ज्योतिः) स्वतः प्रकाशित ब्रह्म है, (इमम्) इसको (पश्यत) देखिए और जो (अयम्) यह (अमर्त्यः) मरण धर्म से रहित (तन्वा) शरीर से (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (आ) चारों ओर से (जज्ञे) प्रकट होता हैं (सः) वह जीव है ।

उत्तर—बाहेर निकसो तो आप नहीं, और मांहे नरक के कुंड ।

ब्रह्म तो यामें न पाइए, ए क्यों कहिए ब्रह्म घर पिंड ॥

किरंतन प्र. ३४ चौ. १४

मरणधर्मा प्राणियों के शरीर के अन्दर न तो ब्रह्मपुरी मानी जा सकती है और न ब्रह्म का स्वरूप ही । यदि शरीर में ही ब्रह्म को माना जाये, तो केवल मानव शरीर में ही क्यों ? अमीबा और बैक्टीरिया जैसे अतिसूक्ष्म आकार के शरीरधारी जीवों के अन्दर क्यों नहीं ? यदि अमीबा तथा बैक्टीरिया के अन्दर भी ब्रह्मपुरी को मानें, तो आठचक्र और नवद्वारों से युक्त ब्रह्मपुरी का विनियोग उनके शरीरों में करना सम्भव नहीं है । वेद में ब्रह्मपुरी को अत्यधिक तेजस्विनी, अति मनोहारिणी तथा अमृत से आवृत कहा गया है, जो किसी भी पंचभौतिक तन या इस त्रिगुणात्मक जगत में होनी असम्भव है । असंख्य प्राणियों के अन्दर ब्रह्मपुरी तथा ब्रह्म का स्वरूप मानने पर असंख्य ब्रह्मपुरियां हो जायेगी तथा उसमें विराजमान ब्रह्म भी खण्ड-खण्ड हो जाएगा । अखण्ड एकरस ब्रह्म स्वरूप में प्राकृतिक जड़ पदार्थों का स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप प्राकृतिक आवरणों से सर्वथा पृथक् है । क्या अनन्त सत्ता से युक्त तथा असंख्य सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान ब्रह्म का स्वरूप पंचभौतिक शरीरों के अन्दर छिप सकेगा ?

शरीर में स्थित चैतन्य को अमृत कहने से उसे ब्रह्म नहीं माना जा सकता क्योंकि अथर्ववेद (का. १/सू. ४ /मं. ४) में जल के अन्दर भी अमृत (अमर जीवनी

शक्ति) माना गया है। “अप्सु अन्तः अमृतम् अप्सु भेषजम्” । यदि यह माना जाये कि शरीर में स्थित जीव के अन्दर अन्तर्यामी के रूप में अविनाशी ब्रह्म है, तो उचित नहीं होगा। क्योंकि—

‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।’ तैत्तिरीय उप. (ब्रह्मानं. अनु. ६)

‘अनेन जीवेन आत्मना अनुप्राविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ।’ छा.(६/३/२)

उपनिषदों के कथनों में ‘अनुप्राविशत्’ तथा ‘अनुप्राविश्य’ शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिसका अर्थ होता है कि पीछे से प्रवेश किया। ब्रह्म को यदि जगत, शरीर तथा जीव के अन्दर अनुप्राविष्ट (पश्चात् प्रवेश किया) हुआ मानें, तो इससे ब्रह्म की सर्व व्यापकता तथा अखण्डता पर ही सन्देह होता है। फिर यदि ब्रह्म पहले इस जगत, शरीर तथा जीव के अन्दर नहीं था, तभी तो वह बाद में इसमें प्रवेश कर सकता था। क्योंकि शरीर तथा जगत की रचना से पूर्व तो उसमें ब्रह्म नहीं था, तो इससे पहले ब्रह्म का स्वरूप कहाँ था? यदि यह कहा जाये कि जगत तथा शरीर की रचना से पूर्व वह कारण प्रकृति में व्यापक था, तो क्या कार्य रूप घड़े के बनने से पूर्व निमित्त कारण कुम्भकार, उपादान कारण मिट्टी के अन्दर व्यापक रूप से छिपा हुआ था?

वस्तुतः शरीर में स्थित चैतन्य गीतोक्त प्रथम पुरुष (विराट् पुरुष) का अंश है। गीता में भी—“ममैव अंशों जीवलोके जीवभूतः सनातनः” । (अ. १५ श्लोक ७) कहकर इस कथन की पुष्टि की गयी है कि सभी प्राणी इस क्षर सृष्टि का संचालन करने वाले विराट् पुरुष के अंश से हैं। अतः स्वाभाविक है कि सभी जीवों में अन्तर्यामी के रूप में विराट् पुरुष (नारायण) है। गीता (अ. १५ श्लोक १६) के अनुसार कूटस्थ अक्षर ब्रह्म विराट् पुरुष से भी परे है। इस प्रकार वैदिक दृष्टि से देखने पर मानव तन में ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध नहीं होता, अपितु चैतन्य जीव तथा उसमें अन्तर्यामी रूप से स्थित विराट् पुरुष है। सभी प्राणियों के उत्पन्न होने का सम्बन्ध किस प्रकार विराट् पुरुष या मोहतत्व के अन्दर स्थित (नारायण) से है। इसकी व्याख्या देखिए प्रथम समुल्लास में। यदि यह शंका की जाये कि ऋग्वेद (६/९/४) में प्रयुक्त “होता^१” शब्द से मात्र ब्रह्म का ही ग्रहण हो सकता है क्योंकि—सर्वजगते सर्व पदार्थानां दातारम् । वर्तमान प्रलययोः समये सर्वस्य जगतं आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम् । हु दानादनयोः । आदाने चेत्येके । अस्माद्धातोरयं अस्माद्धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते । अदनं भक्षणं न किन्तु चराचरस्य जगतो ग्रहणं तत्कर्ता परमेश्वरोत्तेत्युच्यते । अत्र प्रमाणम् । अत्ता चराचर ग्रहणात् । इति वेदान्त शास्त्रस्य सूत्रम् । अ. १/पा. २/सू. ९ ॥

अर्थात् जो सब जगत के जीवों को सब पदार्थ देने वाला है तथा जो वर्तमान और प्रलय में सब जगत का ग्रहण और धारण करने वाला है, इससे ब्रह्म

^१ अयं होता प्रथमः ।

का नाम 'होता' है। 'हु दानादनयोः आदाने चेत्येके' में 'हु' धातु से तृच् प्रत्यय करने से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है। तो इसका समाधान यह है कि अनन्त शक्ति वाले, उस अविनाशी ब्रह्म की सत्ता का इस प्राकृतिक जगत में प्रतिनिधि स्वरूप विराट् पुरुष (ईश्वर, प्रणव, शबल ब्रह्म) है। 'होता' शब्द का प्रयोग विराट् पुरुष के लिए ही होना चाहिए, क्योंकि इस प्राकृतिक जगत में ब्रह्म की सत्ता का प्रतिनिधि होने के कारण जीवों में वह सर्वोच्च सत्ता है।

वह विराट् पुरुष सब जगत के जीवों को सब पदार्थों को देने वाला है तथा वर्तमान समय में जगत को धारण भी कर रहा है। विराट् पुरुष का अस्तित्व मानने से 'एकमेव अद्वितीयम् ब्रह्म' के कथन से कोई विरोधाभास नहीं हो सकता, क्योंकि विराट् पुरुष (गीतोक्त प्रथम पुरुष) तो अव्याकृत से मोहतत्व के अन्दर प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य हैं, जिसका संकेत अथर्ववेद (का. ९/सू. ९/मं. १७, का. ८/सू. ९/ मं. ६, तथा का. ८/ सू. ९/ मं. १) में किया गया है। चैतन्य होने के कारण वह 'अमृतम् ज्योतिः' कहा ही जाएगा। मोहतत्व के अन्दर ब्रह्म का स्वरूप मानना वैदिक सिद्धान्त के विपरीत है। मनुस्मृति (अध्याय १, श्लोक १०) के अनुसार भी मोहतत्व में विराजमान नारायण (विराट् पुरुष) है। वेद में ब्रह्म की सत्ता के द्वारा इस शरीर का निर्माण होना अवश्य माना गया है, किन्तु उसका अखण्ड स्वरूप इस प्राकृतिक जगत तथा शरीर से परे चेतन ब्रह्मधाम में ही है—

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।

चित्त्वा चित्यं हन्वोः पुरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः॥

अथर्ववेद का. १०/सू. २/मं. ८

पदार्थ—(यतमः) जो ब्रह्म (अस्य) इस पुरुष देह के (मस्तिष्कम्) मस्तिष्क को, (ललाटम्) माथे को, और (यः) जो (प्रथमः) सबसे प्रथम विद्यमान इस पुरुष के (ककाटिकाम्) गले की घेंटी और (कपालम्) खोपड़ी को और (पुरुषस्य) पुरुष देह के (हन्वोः) दोनों जबड़ों के बीच की (चित्यम्) रचना को (चित्त्वा) बनाकर (दिवं) प्रकाश स्वरूप मोक्षधाम में (रुरोह) स्वयं विराजमान है, (सः देवः कतमः) वह प्रकाश स्वरूप ब्रह्म कौन सा है ?

भावार्थ—यद्यपि इस शरीर का रचनाकार तो विराट् पुरुष है किन्तु अक्षर ब्रह्म की सत्ता का प्रतिनिधि होने के कारण मूलतः जगत का रचनाकार ब्रह्म ही माना जाएगा। वह ब्रह्म अपने अखण्ड स्वरूप से ब्रह्मपुरी में ही है, इस प्राकृतिक शरीर में नहीं।

स भूमिस्सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

यजु. ३१/मं. १

पदार्थ—(सः) वह ब्रह्म (भूमिम्) भूगोल को (सर्वतः) सर्वत्र, (स्पृत्वा) अपनी सत्ता से पूर्ण करके (दशाङ्गुलम्) पांच स्थूल भूत तथा पांच सूक्ष्म भूत से युक्त १० अवयव वाले ब्रह्माण्ड तथा शरीर से (अति अतिष्ठत्) पृथक् स्थित है।

भावार्थ—दशाङ्गुल शब्द हृदय तथा ब्रह्माण्ड का वाचक हैं। पांच स्थूल भूत (आकाश + वायु + अग्नि + जल + पृथ्वी) तथा पांच सूक्ष्म भूत (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध) शरीर तथा ब्रह्माण्ड दोनों में हैं और ब्रह्म का स्वरूप इन दोनों से परे ही माना गया है। जगत् तथा शरीर के अन्दर ब्रह्म की मात्र सत्ता व्यापक है। इस मन्त्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस पंचभौतिक शरीर के अन्दर अणु एकदेशी चेतन जीव तो अवश्य है, किन्तु ब्रह्म नहीं।

**प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥**

अथर्ववेद का. १०/सू. २/मं. ३३

पदार्थ—(प्र-भ्राजमानाम्) अतिशय तेज से प्रकाशमान, (हरिणीम्) अति मनोहारिणी, (यशसा) यशोरूप तेज से (सं-परिवृताम्) चारों ओर से घिरी हुई, (हिरण्ययीम्) अति तेजस्विनी, (अपराजिताम्) किसी से भी न जीती गई उस ब्रह्मपुरी में (ब्रह्म) ब्रह्म (विवेश) प्रवेश किये हुए हैं।

भावार्थ—प्रकृति से परे वह चेतन ब्रह्मपुरी चेतन और अविनाशी ब्रह्म की तरह ही असंख्य सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान तथा मनोहारिणी हैं। ब्रह्मपुरी का स्वरूप भी ब्रह्म की तरह ही शुक्रमयी (नूरमयी) है। अतः इस नष्ट होने वाले जड़ जगत् तथा शरीर में ब्रह्म मानना सही नहीं होगा।

**पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥**

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. ४३

पदार्थ—(पुण्डरीकं) कमल के समान मनोहर वह दिव्य ब्रह्मपुरी (नव-द्वारम्) नव भूमियों वाला है तथा (त्रिभिः गुणेभिः आवृतम्) तीनों गुणों सत् + चित् + आनन्द से आवृत है। (तस्मिन्) उसमें (यद् यक्षम्) जो पूजनीय (आत्मन्वत्)¹ अक्षर ब्रह्म के स्वरूप वाला अक्षरातीत पूर्णब्रह्म है, (तत्) उसको (ब्रह्मविदः वै) ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही (विदुः) जानते हैं।

भावार्थ—इस ऋचा में ब्रह्मपुरी को उसकी मनोहारिता के कारण 'पुण्डरीक' अर्थात् कमल के दृष्टान्त से वर्णित किया गया है। वह दिव्य ब्रह्मपुर (सत् + चित् + आनन्द) के द्वारा ओत-प्रोत है। वैदिक साहित्य में अक्षर ब्रह्म को

¹ 'अत सातत्यगमने' योजति व्यापनोति स आत्मा ।

‘आत्मा’ शब्द से भी वर्णित किया गया है। जैसे—“आत्मा वा इदम् एकः अग्र आसीत्”। जो ब्रह्म चेतन लोक में एकरस व्यापक हो, उसे आत्मा कहा गया है। उस दिव्य ब्रह्मपुर में अक्षर ब्रह्म के स्वरूप की तरह ही अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप है जिसका पूर्ण विस्तृत ज्ञान ब्रह्ममुनियों को ही होता है।

प्रश्न—वेद में निराकार से परे चेतन ब्रह्मपुरी का ज्ञान नहीं है क्योंकि—

तबक चौदे देखे वेदों, निराकार लों वचन।

उनमान आगे केहेके, फेर पड़े मांहीं सुन ॥

कलश हिन्दुस्तानी प्र. १७ चौ. २३

उत्तर—श्रीमुखवाणी की इस चौपाई का यदि सूक्ष्म अर्थ देखा जाये तो ‘तबक चौदे देखे वेदों’ में ‘वेदों’ शब्द से तात्पर्य वेदों की मूल संहिता से न लेकर संहिता भाग की व्याख्या में ऋषियों द्वारा लिखे गये शाखाओं, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं षड्दर्शन से हैं। ब्रह्म के स्वरूप एवं धाम के विषय में मानवीय बुद्धि स्पष्ट सत्य निर्णय नहीं कर पाती है। ऋषियों ने ब्रह्म के स्वरूप एवं धाम के विषय में जितना जाना, उतना ही अपने ग्रन्थों में वे लिख सके। ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थों को भी वैदिक साहित्य में ही माना जाता है, किन्तु वेद की मूल संहिता उनसे भिन्न है। श्री प्राणनाथ जी का कथन “तबक चौदे देखे वेदों निराकार लो वचन” ऋषियों द्वारा रचित वैदिक साहित्य की ओर ही संकेत करता है, वेद की मूल संहिता की ओर नहीं। क्योंकि उन्होंने स्वयं वाणी में अथर्ववेद में परमधाम के वर्णन होने का संकेत किया है।

अर्स बका की हकीकत, मांहीं लिखी कतेब वेद।

खोले जमाने का खावंद, और खोल न सके कोई भेद ॥

लिख्या वेद कतेब में, सोई खोले जिन सिर खिताब।

देसी मुक्त सबन को, करके अदल हिसाब ॥

श्रृंगार प्र. ३ चौ. ५०-५१

जोलों ताला खुले नहीं, द्वार अथरवन कतेब।

पाई ना तरफ हक बका, ना कछू खेल फरेब ॥

खिलवत प्र. १४ चौ. ६६

अर्थात् अथर्ववेद में अखण्ड परमधाम का वर्णन तो है किन्तु उसका स्पष्ट वर्णन ‘श्री प्राणनाथ जी’ के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सका। ब्रह्म के स्वरूप एवं धाम सम्बन्धी रहस्य तो ‘तारतम’ के बिना कदापि नहीं खुल सकते—

निगमें गम कही ब्रह्म की, क्यों समझे खाबी दम।

खुलासा प्र. १२ चौ. ३६

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ॥

अथर्ववेद का. २/सू. १/मं. ४

पदार्थ—(द्यावा-पृथिवी) द्यु और पृथिवी लोक का (परि) परित्याग कर मैं (सद्यः) शीघ्र ही (आयम्) इस ब्रह्म की ओर आता हूँ और (ऋतस्य) सत्य के (प्रथमजाम्) उत्पादक की (उपातिष्ठे) उपासना करता हूँ । (वक्तरि) वक्ता में (वाचम् इव) वाणी की भांति (भुवनेष्ठाः) सभी भुवनों में सत्ता वाला (एषः) यह ब्रह्म (धास्युः) सृष्टि संचालन की कामना से स्थित है । (ननु) निश्चय से (एषः) यह ब्रह्म (अग्निः) ज्ञान का प्रकाशक है ।

भावार्थ—वक्ता में जिस प्रकार वाणी निहित है, उसी प्रकार ब्रह्म की इच्छा में सृष्टि निहित है । जैसे वक्ता का स्वरूप उसके वक्तव्य से अलग होता है, वैसे ही ब्रह्म का स्वरूप उसकी इच्छा से उत्पन्न सृष्टि से पृथक् होता है । उसकी सत्ता के अन्तर्गत सभी ब्रह्माण्ड स्थित होते हैं । सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल को दो भागों में बांटा गया है । १- पृथ्वी लोक २- द्युलोक, इन दोनों से परे ही ब्रह्म का स्वरूप है, क्योंकि इस मन्त्र में कहा गया है कि पृथ्वी और द्युलोक का परित्याग करके ही मैं ब्रह्म की ओर आता हूँ । इस मन्त्र में 'भुवनेष्ठाः' पद से यदि शंका की जाये कि ब्रह्म सब जगत् में स्थित है, तो इसका समाधान यह है कि जगत् में ब्रह्म की सत्ता तो अवश्य है किन्तु स्वरूप नहीं । प्रकृति के सभी भुवनों से परे ही ब्रह्म का स्वरूप है । इसकी साक्षी में यह मन्त्र दृष्टव्य है—

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥

अथर्ववेद का. २/सू. १/मं. ५

पदार्थ—(विश्वा भुवनानि) सब भुवनों का (परि) परित्याग कर (आयाम्) मैं इस ब्रह्म की ओर आया हूँ ताकि (विततम्) सर्वत्र विस्तृत (ऋतस्य तन्तुम्) सत्य के तन्तु को (दृशे) देख पाऊँ । (समाने) समग्र संसार के (योनौ) आश्रयरूप ब्रह्म के जिस (यत्र) लोक में (अमृतम्) मुक्ति के आनन्द को (आनशानाः) भोगते हुए (देवाः) दिव्य पुरुष (ऐरयन्त) विचरते हैं ।²

भावार्थ—सम्पूर्ण भुवनों से परे ही उस ब्रह्म का स्वरूप है, जहां सदैव सत्य और अखण्ड की लीला होती है । हृद से परे बेहृद में उस अक्षर ब्रह्म की

¹ ब्रह्मग्निः—(शतपथ ब्रा. १/२/११) आत्मा वाग्निः (शतपथ ब्रा. २/३/३)

² इस सम्बन्ध में यह मन्त्र दृष्टव्य है—

अति त्री सोम रोचना रोहन्न भ्राजसे दिवम् ।

इष्णन्तसूर्यं न चोदयः ।

(ऋ. मंडल ९/सू. १७/मं. ५)

लीला होती है, जिसमें उसका साक्षात्कार करके मुक्ति प्राप्त करने वाले दिव्य पुरुष ब्रह्मानन्द का भोग करते हुए विचरण करते हैं।

प्रश्न—त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।

अथर्ववेद का. ४/सू. ३३/मं. ६

अर्थात् (त्वं) तुम (विश्वतः मुख) सब ओर मुखों वाले या सर्वव्यापक सर्वोपदेष्टा, (विश्वतः) सब प्रकार से (परिभूः असि) सर्वत्र व्यापक हो ।

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि ब्रह्म केवल चेतन लोक में ही नहीं अपितु जड़ जगत में भी सर्वत्र एकरस विद्यमान है ?

उत्तर—प्रस्तुत ऋचा में 'विश्वतोमुख' पद से तात्पर्य यह है कि एक ही ब्रह्म प्रकृति के सभी प्राणियों का ज्ञान दाता है । यद्यपि उसका स्वरूप प्रकृति से परे है, किन्तु उसकी सत्ता के अन्तर्गत असंख्य ब्रह्माण्ड बनते हैं और प्राणियों में सत्य ज्ञान का कारण वही है । इसीलिए उसे 'विश्वतोमुख' कहा गया है । 'विश्वतः परिभूः' मात्र उसकी सत्ता के सर्व व्यापकत्व को दर्शाने के लिए कहा गया है । सत्ता के व्यापक होने का यह अर्थ नहीं है कि उसका स्वरूप भी इस जड़ जगत में व्यापक हो ।

कोई कहे ए कछुए नाहीं, तो ए भी क्यों बनि आवे ।

जो यामे ब्रह्म सत्ता न होती, तो अधखिन रहने न पावे ॥

कोई कहे ए सबे ब्रह्म, तब तो अग्यान कछुए नाहीं ।

तो खट शास्त्र हुए काहे को, मोहे ऐसी आवत मन मांहीं ॥

किरंतन प्र. २९ चौ. ५-६

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥

अथर्ववेद का. ६/सू. ३४/मं. ३

पदार्थ—(यः) जो ब्रह्म (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर (धन्वतिरः) द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक को भी पार करके (अति-रोचते) सबसे अधिक प्रकाशमान हो रहा है, (सः नः द्विषः अति पर्षत्) वह हमें मनोविकार रूपी शत्रुओं से पार कर दे ।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में अन्तरिक्ष और द्युलोक से भी परे ब्रह्म को अखण्ड प्रकाशमान कहा गया है । द्युलोक प्रकृति मण्डल का अन्तिम भाग है, जिसके परे मात्र ब्रह्म का ही स्वरूप है प्रकृति का नहीं । इस प्रकृति मण्डल में मात्र जड़ प्रकृति एवं जीव का स्वरूप है, ब्रह्म का नहीं ।

खसम जो न्यारा द्वैत से, और ठौरों सब द्वैत ।
किने ना कहा ठौर नेहेचल, तो पाइए कैसी रीत ॥

कलश हिन्दुस्तानी प्र. २ चौ. २३

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।

अथर्ववेद का. ६/सू. ३४/मं. ४

पदार्थ—(यः) जो ब्रह्म (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभि विपश्यति) साक्षात् देख रहा है (सं पश्यति च) और खूब अच्छी तरह देखता है ।

भावार्थ—दृष्टा (देखने वाला) का दृश्य से परे होना अनिवार्य है । असंख्य ब्रह्माण्ड ब्रह्म की दृष्टि में एक परमाणु के समान ही हैं । वह कूटस्थ ब्रह्म जिन लोकों को देखता हैं उनमें ही उसको कण-कण में व्यापक मानना भूल है । वस्तुतः वह दृश्यमान सभी लोकों से परे मात्र चेतन लोक में ही है ।

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।

तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥

अथर्ववेद का. ७/सू. ४१/मं. १

पदार्थ—(श्येनः) ज्ञानवान्, (नृचक्षाः) सब मनुष्यों का दृष्टा, (अवसान-दर्शः) अवसान अर्थात् प्रलयकाल में भी सब कर्म फलों का दृष्टा, (धन्वानि) भोग भूमियों को (अति) अतिक्रमण करके (अपः) ज्ञानजल को (ततर्द) बरसाता है और (विश्वानि) समस्त (अवरा) नीचे के (रजांसि) लोकों को (तरन्) पार करता हुआ अर्थात् प्रकृति मण्डल की जहां स्थिति नहीं है, वहां पर रहता हुआ (सख्या इन्द्रेण) अपने मित्र शुद्ध जीव के द्वारा (शिवः)^१ यह कल्याणकारी ब्रह्म (आ जगम्यात्) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जड़-प्रकृति से बनी हुई यह सारी सृष्टि जीवों के कर्मफल भोग के लिए है । इस सृष्टि के सभी भुवनों से परे योगमाया का ब्रह्मांड (चेतन बेहद भूमि) है, जो महाप्रलय में भी नष्ट नहीं होता है । सामान्यतः जीव महाशून्य को पार नहीं कर पाता है किन्तु ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की कृपा से यदि वह महाशून्य को पार कर लेता है, तो प्रकृति से परे चेतन लोक में कल्याणकारी ब्रह्म का सानिध्य प्राप्त करता है ।

प्रश्न—यह कथन कि इस जगत के अन्दर मात्र ब्रह्म की सत्ता ही है, स्वरूप नहीं, इसका क्या प्रमाण है ?

^१ 'शिव कल्याणे' इस धातु से शिव शब्द सिद्ध होता है । बहुलमेतन्निदर्शनम् ॥ (धातुपाठ, चुरादिगण)

उत्तर—इस सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल में ब्रह्म की सत्ता से सारी क्रियाएँ सम्पादित होती रहती हैं। यदि ब्रह्म इस जगत के कण-कण में होता, तो लौह-अग्निवत् सारा जगत ही ब्रह्ममय होता। पुनः ब्रह्म की शासन सत्ता किस पर चलती ? क्या अपने ब्रह्मरूप जगत पर ? वस्तुतः इस जड़ प्रकृति में ब्रह्म का नूरमयी (शुक्रमयी) स्वरूप आ ही नहीं सकता।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महत्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥

कठोपनिषद् षष्ठी वल्ली श्लोक २-३

अर्थ—(इदम्) यह (यत् किञ्च) जो कुछ (जगत्) ब्रह्माण्ड है, (सर्वम्) सब (प्राणे) ब्रह्म की सत्ता में (एजति) गतिमान है और उसी निमित्त कारण ब्रह्म से (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ है। यह ब्रह्म (उद्यतम् वज्रम् इव) हाथ में वज्र धारण किए हुए की भांति (महत्) महान (भयम्) भय देने वाला है। (ये) जो मनुष्य (एतत्) इसको (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (अमृताः) मृत्यु के पार हो जाते हैं।

(अस्य) इस ब्रह्म के (भयात्) भय से (अग्निः तपति) अग्नि तपता है। (भयात् सूर्यः तपति) भय से सूर्य तपता है। (भयात्) और इसके भय से (इन्द्रः च वायुः च) विद्युत और वायु अपना कार्य करते हैं। और (पंचमः मृत्युः धावति) पांचवीं मृत्यु दौड़ती है अर्थात् अपना कार्य करती है।

भावार्थ—कठोपनिषद् के इस कथन से यह सिद्ध है कि उस ब्रह्म की सत्ता से प्रकृति के सारे कार्यशील द्रव्य (विद्युत, सूर्य, वायु, अग्नि इत्यादि) निरन्तर कार्यरत हैं। उसमें कहीं भी भूल नहीं होती है। यदि विद्युत, सूर्य आदि के अन्दर ब्रह्म का स्वरूप माना जाये, तो ब्रह्म के भय से उन्हें रहने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे लौह-अग्निवत् ब्रह्म के साधर्म्य को प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—जिस प्रकार घड़े में आकाश है और आकाश में घड़ा है, उसी प्रकार जगत में ब्रह्म है और ब्रह्म में जगत। जैसे घड़ा नष्ट हो जाने पर भी आकाश से अलग नहीं हो सकता, किन्तु उसका स्वरूप आकाश से भिन्न है, वैसे ही यह जड़ जगत भी स्वरूप में चेतन ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी ब्रह्म से अलग नहीं है।

उत्तर—घड़ा भी जड़ पदार्थ है तथा आकाश भी, किन्तु घड़े के अन्दर आकाश के व्यापक होने से आकाश का गुण (शब्द) घड़े से प्रकट होता है। आकाश अन्य शेष सभी चार तत्वों में व्यापक होता है, जिसके कारण सभी तत्वों से आकाश के गुण शब्द की अनुभूति होती है। यदि ब्रह्म को जगत में व्यापक माना जाये, तो जगत में भी ब्रह्म के गुणों चेतनता, सर्वज्ञता, अखण्डता,

निर्विकारिता आदि का समावेश होना चाहिए, किन्तु ब्रह्म के इन गुणों में से एक भी गुण जड़ जगत में नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि जड़ जगत में न तो ब्रह्म है और न ब्रह्म में जड़ जगत, अपितु दोनों का स्वरूप सर्वदा अलग ही है और सर्वदा अलग ही रहेगा।

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।

विश्वा हि माया अवसि स्वधावन्भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥

ऋ. ६/५८/१, सामवेद आग्नेय काण्ड प्र. १/खं. ८/मं ३ (७५)

पदार्थ—हे ब्रह्म ! (ते) तुम्हारा, (शुक्रं) शुभ्ररूप, नूरमयी स्वरूप (अन्यत्) संसार से भिन्न दूसरा है और (ते) तुम्हारे, (यजतम्) संसार-यज्ञ की रचना (अन्यत्) उससे भिन्न दूसरा रूप है। (विषुरूपे) ये दोनों ही विषम रूपों वाले हैं, (अहनी) जैसे कि दिन-रात विषम रूपों वाले हैं, तो भी आप (द्यौः इव असि) सूर्य के सदृश सदा स्व प्रकाशी हैं। (स्वधावन्) हे स्वाश्रित सत्ता वाले ! (पूषन्) हे पुष्टि देने वाले ! आप ही (विश्वाः मायाः) सब प्रकार के ज्ञान विज्ञानों के रक्षक हैं। (इह) इस संसार में (ते) तुम्हारा (रातिः) दिया दान (भद्रा अस्तु) सबके लिए, सुखदायी तथा कल्याणकारी हो।

भावार्थ—इस मन्त्र में दिन और रात के दृष्टान्त से ब्रह्म के अखण्ड शुक्रमयी स्वरूप तथा जड़ जगत के परिवर्तनशील विनाशी स्वरूप का वर्णन किया गया है। जिस समय जहां रात होती है, उसी समय वहां पर दिन नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध है कि जहां ब्रह्म का अखंड चेतन स्वरूप है वहां माया का यह जड़ संसार नहीं है और जहां माया का स्वरूप यह जड़ संसार है, वहां निर्विकार चेतन ब्रह्म का स्वरूप नहीं।

प्रश्न—वेद में क्या प्रमाण है कि ब्रह्म न तो शरीर में है और न जगत में ?

उत्तर—अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः ।

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

ऋ. ८/ ४५/३, सामवेद उतरार्चिक प्र. ५/खं. १२/सू. २१/मं. ३ (१३४०)

पदार्थ—(युवा) सदा युवा (इन्द्रः) ब्रह्म (येषाम्) जिन उपासकों का (सखा) स्नेही सखा बन जाता है, वे उपासक जब (युधा) कामादिक आसुरी योद्धाओं से (आवृतम्) आवृत हो जाते हैं, तब (शूरः) पराक्रमशील ब्रह्म (सत्वभिः) अपनी शक्तियों से उन्हें (आजति) परास्त कर देता है। ब्रह्म को (अयुद्धः इत्) काम, क्रोधादिक योद्धाओं के साथ युद्ध नहीं करना पड़ता है, अपितु वे उसकी कृपा से ही विदीर्ण हो जाते हैं।

भावार्थ—सदा युवा स्वरूप वाला वह ब्रह्म अपने उपासकों को मायिक विकारों (काम, क्रोध, मोह आदि) से रक्षा करता है। जब ब्रह्म की कृपा से ही

उपासक को विषय-विकार प्रभावित नहीं कर पाते हैं, तो इससे यह स्पष्ट है कि जीवों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। यदि जीव के अन्दर सूक्ष्म रूप से ब्रह्म का स्वरूप होता, तो जिस प्रकार अग्नि में लोहा डालने पर दोनों का स्वरूप एक ही तरह का हो जाता है उसी प्रकार जीव भी अज्ञान और विकारों से रहित ब्रह्म की तरह शुद्ध, निर्विकार स्वरूप वाला होना चाहिए। यदि यह शंका की जाये कि जब जीव अपने अन्तःकरण तथा इन्द्रियों द्वारा बुरे कर्म करता है, तो उसे भय, शंका तथा लज्जा का अनुभव होता है और अच्छे कामों में अभयता, आनन्द और उत्साह उत्पन्न होता है, तो यह सब जीव की ओर से नहीं, अपितु उसके अन्दर सूक्ष्म रूप से विराजमान ब्रह्म की शिक्षा के रूप में होता है।

इसका समाधान यह है कि जहां सूर्य होता है, वहां अन्धकार नहीं हो सकता है। ब्रह्म का वास जहां होगा, वहां माया के विषय विकारों का कदापि प्रभाव नहीं पड़ सकता। यदि ब्रह्म की प्रेरणा रूप शिक्षा का जीव के ऊपर प्रभाव नहीं पड़ता है, तो ब्रह्म की सर्वशक्तिमानता पर सन्देह होता है। जिस ब्रह्म की उपासना मात्र से जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, तो यह सम्भव नहीं कि अन्दर रहने पर भी वह कदापि मायिक विकारों से ग्रसित हो जाये। चैतन्य जीव अपने मूल शुद्ध स्वरूप में मायिक विकारों से रहित है, किन्तु प्रकृति के बन्धन में हो जाने के कारण आनन्द की खोज में उसमें भोग की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे-जैसे वह प्रकृति के भोगों को भोगता जाता है, वैसे ही वैसे उसके चित्त में भोग के संस्कार दृढ़ होते जाते हैं। अच्छे या बुरे कर्मों के करते समय उसके अन्दर संस्कारों का अन्तर्द्वन्द्व होता है। यदि आध्यात्मिकता के संस्कार अधिक प्रबल हैं, तो वह बुरे कर्म कदापि नहीं कर सकेगा। यदि वासना के संस्कारों की अपेक्षा शुभ आध्यात्मिक संस्कार निर्बल हैं, तो संकोच तथा भय की अवस्था में भी वह बुरे कर्म कर लेता है। जन्म जन्मान्तरों की संचित वासना के संस्कारों का जब तक विनाश नहीं होता, तब तक जीव अवश्य ही बुरे कर्म करेगा।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।

नैनमूदध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥

यजुर्वेद अ. ३२/मं. २

पदार्थ—जिस (विद्युतः) विद्युत के समान प्रकाशमान (पुरुषात्) ब्रह्म से (सर्वे) सब (निमेषाः) निमेष, कला, काष्ठ आदि काल के अवयव (अधि, जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं, (एनम्) इस ब्रह्म को कोई भी (न) न (उध्वम्) ऊपर (न तिर्य्यञ्चम्) और न तिरछा या नीचे तथा (न मध्ये) न मध्य में अपितु (परि जग्रभत्) इन सबसे परे ही ग्रहण कर सकता है।

भावार्थ—विद्युत के तुल्य प्रकाशमान् उस ब्रह्म से जो यह जगत् उत्पन्न हुआ है, उसमें ऊपर, नीचे या मध्य में कहीं भी उसका स्वरूप नहीं है अपितु सर्वत्र त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा उसके अन्दर कर्मफल भोग के बन्धन में पड़े जीव हैं। ‘परि’ का अर्थ परे होता है, सब ओर नहीं जैसे—

‘उद्वयम् तमसस्परि’ अथर्ववेद (७/५३/७) में “तमसः परि” का अर्थ है सम्पूर्ण अन्धकार से पृथक्।

(आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्) यजुर्वेद ३१/१८ में “तमसःपरस्तात्” का अर्थ है प्रकृति के अन्धकार से पृथक्।

‘परि’ उपसर्गः सर्वतोभावमाह। परिक्राम्यति, परिधत्ते, परिषिञ्चति, परिधिः, परिक्रमा, इति लोके। निरुक्त सम्मर्श

इन शब्दों पर सूक्ष्म चिन्तन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि परिधि किसी वृत्त के चारों ओर बाह्य आकार पर निर्भर है। यदि किसी गोल गेंद के बाह्य चारों ओर के आकार को मापा जाये तो वह परिधि है। अन्दर प्रवेश करने पर की गई माप उसकी त्रिज्या या व्यास होगी। इसी प्रकार यदि हथेली पर रखकर उसे धारण किया जाये तो हथेली गेंद के अन्दर घुसी नहीं होती है, अपितु गेंद के बाह्य आकार को स्पर्श किए रहती है। यदि कोई पौराणिक भक्त किसी मूर्ति की परिक्रमा करता है तो वह मूर्ति के आकार से पृथक् रह कर ही परिक्रमा कर सकता है। मूर्ति के स्वरूप के अन्दर प्रवेश करके परिक्रमा करना असम्भव है, क्योंकि ऐसा करने पर मूर्ति ही खण्डित हो जाएगी। इस प्रकार परिधि, परिक्रमा, परिधत्ते आदि सभी में ‘परि’ उपसर्ग का प्रयोग उस कथित वस्तु से सर्वदा पृथक् होने से हैं, उसमें व्यापक होने से नहीं। इस प्रकार “परि द्यावा पृथिवी” (यजु. ३१/१२) का अर्थ होगा सम्पूर्ण द्युलोक तथा सम्पूर्ण पृथ्वी से पृथक्।

परि विश्वा भुवनानि। (अथर्व. २/१/५) का अर्थ होगा सम्पूर्ण भुवनों से पृथक्।

बृहतः पाजसः परि। (ऋ. १०/३७/८) में परि का अर्थ है ऊपर।

अक्षरात् परतः परः (मुण्डकोपनिषद् २/१/२) का अर्थ होगा अक्षर से परे।

यजुर्वेद (अ. ३२/मं. २) में कहा गया है कि वह ब्रह्म न तो ऊपर है, न तिरछे या नीचे या मध्य में। इससे यह स्पष्ट है कि वह इस कार्य जगत् से परे ही ग्रहण हो सकता है तथा “परि जग्रभत्” का अर्थ है इस सम्पूर्ण उत्पन्न हुए निमेषों से पृथक्। यह मन्त्र भी ब्रह्म के स्वरूप को प्रकृति के इस जगत् से पृथक् ही सिद्ध कर रहा है।

प्रश्न—ईशावास्यमिदम् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

यजुर्वेद अ. ४०/मं. १

अर्थात् प्राप्त होने वाली इस सृष्टि में यह जो भी जगत है, ऐश्वर्यवान् परमात्मा के द्वारा व्यापित है। इस से सिद्ध है कि इस जड़ जगत में भी कण-कण में ब्रह्म है।

उत्तर—सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया में ब्रह्म निमित्त कारण तथा प्रकृति उपादान कारण होती है। यह सम्पूर्ण जगत प्रकृति का ही विकार है। उस शुद्ध स्वरूप वाले ब्रह्म का इस वैकारिक जगत में स्वरूप मानना उचित नहीं, यद्यपि उसकी सत्ता प्रकृति के कण-कण में हैं। यजुर्वेद के उपरोक्त मन्त्र में ब्रह्म की सत्ता को जगत में व्यापक बताया गया है, स्वरूप को नहीं, क्योंकि जहां सूर्य होगा, वहां अन्धेरा नहीं रहेगा।

कोई कहे ए पुरुष प्रकृति, मिल रचियो खेल एह।
तो सूरज दृष्टे क्यों रहे अंधेरी, ए भी बड़ा संदेह ॥

किरंतन प्र. २९ चौ. ७

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥

अथर्ववेद का. ९/सू. ९/मं. २२

पदार्थ—(यत्र) जहां अर्थात् जिस ब्रह्मधाम में रहते हुए (सुपर्णाः) उत्तम ब्रह्मज्ञानी (अनिमेषम्)^१ निरन्तर (अमृतस्य) उस अविनाशी अमृतरस के (भक्षम्) उपभोग को (विदथा) अपने ज्ञान सामर्थ्य से (अभिस्वरन्ति) प्राप्त करते हैं। (एना) वह (विश्वस्य) समस्त (भुवनस्य गोपाः) भुवनों का पालक (धीरः) धीर वह ब्रह्म (मा पाकम्) मुझ मुमुक्षु को (अत्र) यहां अर्थात् इस संसार में (आविवेश) स्थित करता है।

भावार्थ—इस मन्त्र में 'यत्र' पद का प्रयोग प्रकृति से परे चेतन लोक (बेहद) के लिए किया गया है जहां ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म के अमृतरस का निरन्तर भोग करते हैं। अक्षर ब्रह्म के तृतीय पाद सबलिक से आया हुआ चैतन्य ही प्रकृति मण्डल के सारे जीवों का कारण हैं। जीव मोक्ष प्राप्त करके उसी ब्रह्मानन्द की कामना करता है। यदि इस प्रकृति के ब्रह्माण्ड में ब्रह्म होता, तो यह भी अखण्ड और आनन्दमय होता तथा कोई मोक्ष की कामना नहीं करता। इस मन्त्र में 'अत्र' पद का प्रयोग इस भौतिक जगत के लिए किया गया है। जगत के लिए 'अत्र' और ब्रह्मधाम के लिए 'यत्र' का प्रयोग होना यह सिद्ध करता है कि ब्रह्म और उसका धाम इस भौतिक जगत से परे है।

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।

अथर्ववेद का. ९/सू. १०/मं. २५

^१ अनिमेषम्-निरन्तरम्। निरुक्त सम्मर्शः अ. ३/पा. २/ख. १२ की व्याख्या में।

पदार्थ—मैं तत्त्वदर्शी ऋषि (विषूवता) नाना प्रकार की उत्पत्ति क्रिया से युक्त (एना अवरेण) इस प्रत्यक्ष कार्य रूप जगत से (परः) परे (शकमयम्) शक्तिमय (धूमम्) इस संसार को गति देने वाले परमात्मा को निमित्त कारण रूप से (आरात्) साक्षात् (अपश्यम्) देखा हूँ ।

भावार्थ—आदित्यस्वरूप, तेजोमय वह ब्रह्म, सदा परिवर्तनशील इस कार्यरूप जगत से सर्वथा परे ही है । उसका सत्यस्वरूप इस परिवर्तनशील कार्य जगत में नहीं आ सकता है ।

सत सुपने में क्यों कर आवे, सत सांई है न्यारा ।
तुम पारब्रह्म सों परच्या नाहीं, तो क्यों उतरोगे पारा ॥

किरंतन प्र. ३२ चौ. २

कोई कहे ए सबे सुपना, न्यारा खावंद है और ।
तो ए सुपना जब उड़ गया, तब खावंद है किस ठौर ।
उपर तले मांहे बाहेर, दसो दिसा सब माया ।
खट प्रमान थें ब्रह्म रहित है, सो क्यों कर दृढाया ॥

किरंतन प्र. २९ चौ. ८-९

वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥

अथर्ववेद का. १३/सू. १/मं. ४४

पदार्थ—हे (अमर्त्य) मरण धर्म से रहित आत्मन् ! (तत्) उस (ते) अपने स्वरूप को (वेद) तू जान ! (यत्) जिससे (ते) तेरा (दिवि) तेजोमय अविनाशी धाम में (आक्रमणम्) गमन हो और उसको भी जान (यत्) जो (ते) तेरे (सधस्थम्) सदा साथ रहने वाला परमात्मा (परमे व्योमन्)^१ परम पद में विराजमान है ।

पदार्थ—वेद के अनेक मन्त्रों में ‘परम् व्योम’ शब्द का प्रयोग हुआ है । परम व्योम मात्र प्रकृति से परे चेतन लोक के लिए ही प्रयुक्त होता है । अथर्ववेद (का. १७ सू. १ मं. १९) में कहा गया है कि परम व्योम अमृत स्वरूप है । ‘परम पद’ बेहद से परे ‘परमधाम’ को ही कहा जाता है क्योंकि—“पर के परे परम पद, सो कहिए प्रणाम” । आत्मा के सदा साथ रहने वाला परब्रह्म उस परमधाम में ही है । जब इस प्रकृति मण्डल में परमधाम ही नहीं, तो इस जड़ जगत के कण-कण में परब्रह्म का स्वरूप मानना बहुत बड़ी भूल होगी ।

प्रश्न—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

^१ व्योमन् - (वि + ओमन्) सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् । अथर्ववेद का. १७/सू. १/मं. १९

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

कठोपनिषद् पंचमी वल्ली श्लोक ९

अर्थात् जैसे एक अग्नि लोक-लोक में व्याप्त हुआ प्रत्येक रूपवान वस्तु के तुल्य रूप वाला हो रहा है, वैसे ही एक सबका अन्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक रूप के सदृश रूप वाला है, परन्तु वह इन सबसे पृथक् ही है। उपनिषद् के इस कथन से यह सिद्ध है कि इस जगत के कण-कण में ब्रह्म का स्वरूप विद्यमान है।

उत्तर—भाई रे ब्रह्मग्यानी ब्रह्म देखलाओ, तुम सकल में सांई देख्या।

ए संसार सकल है सुपना, तो तुम पारब्रह्म क्यों पेख्या ॥

काल आवत कबूं ब्रह्म भवन में, तुम क्यों न विचारो सोई।

अखण्ड सांई जो यामें होता, तो भंग ब्रह्माण्ड को न होई ॥

किरंतन प्र. ३२ चौ. १, ६

अग्नि एक जड़ तत्व है और वह जिन-जिन पदार्थों में स्थूल, सूक्ष्म या कारण रूप से विद्यमान है, वे भी जड़ ही हैं। तथापि अग्नि के गुण उस व्याप्य पदार्थ में अवश्य आ जाते हैं। यदि ब्रह्म का स्वरूप भी इस जड़ जगत के कण-कण में व्यापक होता, तो जिस प्रकार ब्रह्म अविनाशी है, उसी प्रकार यह जगत भी अविनाशी होना चाहिए। जिस प्रकार ब्रह्म दुखों से रहित है, उसी प्रकार जगत को भी होना चाहिए। जब एक चेतन जीव के शरीर में रहने से वह चेतन रहता है तथा निकल जाने पर जड़ हो जाता है, तो ब्रह्म भी यदि इस जड़ जगत के कण-कण में होता, तो सारा संसार ही चेतन होता। वेद में आनन्दमय मोक्षधाम में ही ब्रह्म का स्वरूप माना गया है—

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम्।

अथर्ववेद का. १०/सू. २/मं. २०

पदार्थ—(श्रोत्रियम्) वेद के विद्वान श्रोत्रिय पुरुष को (केन) किस रीति से मुमुक्षु प्राप्त करता है और (इमम्) इस (परमेष्ठिनम्) परम मोक्ष धाम में विराजमान ब्रह्म को (केन आप्नोति) किस मार्ग से प्राप्त करता है ?

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में यह प्रश्न किया गया है कि परम मोक्ष धाम में विद्यमान ब्रह्म किस प्रकार प्राप्त होता है ? ‘परमेष्ठिनम्’ पद का प्रयोग इस जड़ संसार से परे चेतन लोक (योगमाया) के ब्रह्माण्ड के लिए किया गया है, जहां अक्षर ब्रह्म के चारों पादों का अविनाशी स्वरूप हैं।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।

अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मैधां दधातु मे। अग्नये स्वाहा ॥

अथर्ववेद का. १९/सू. ४३/मं. १

पदार्थ—(यत्र) जहां (ब्रह्मविदः) ब्रह्म को जानने वाले (दीक्षया¹ तपसा सह) दीक्षा और तप के सहित (यान्ति) जाते हैं, (तत्र) वहां (अग्निः) सर्व प्रकाशक ब्रह्म (मा नयतु) मुझे ले जाये। (अग्निः) वह ज्ञान स्वरूप ब्रह्म (मे) मुझे (मेधां) उत्तम बुद्धि को (दधातु) धारण करावे। (अग्नये स्वाहा) उस ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से मैं यह प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ—ब्रह्मतत्त्व को जानने वालों का पंचभौतिक शरीर इस जड़ संसार में ही उत्पन्न होता है। यदि यह जिज्ञासा की जाये कि वे कहां जाते हैं तो इसका उत्तर यह है कि वे इस जड़ प्रकृति से परे चेतन ब्रह्मलोक (योगमाया के ब्रह्माण्ड) में जाते हैं, जहां वे ब्रह्मरस का उपभोग करते हैं। यदि यह शंका की जाये कि दीक्षा और तप के साथ वे ब्रह्मलोक नहीं जा सकते तो इसका समाधान यह है कि दीक्षा और तप कोई पंचभौतिक पदार्थ नहीं है जो उनके चैतन्य के साथ ब्रह्मलोक जाने में बांधक बन सके। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्म और उसका धाम इस जड़ जगत में नहीं है अन्यथा इससे परे ले जाने के लिए प्रार्थना नहीं की जाती। ब्राह्मण ग्रन्थों का कथन है—

असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिः गमय, मृत्योर्मांमृतं गमयेति ॥

बृह. उ. १/३/२८, शतपथ ब्रा. १४/३/१/३०

अर्थात् हे परमात्मन् ! मुझे इस असत्य जगत से सत्य की ओर ले चलो, प्रकृति के इस तमस से परे ब्रह्मधाम की चेतन ज्योति की ओर ले चलो तथा मृत्यु से ग्रसित इस प्रकृति के संसार से परे अपने अविनाशी धाम में ले चलो।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारूहन् ।

प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥

अथर्ववेद का. १८/सू. १/मं. ६१

पदार्थ—(यथा पथा) जिस प्रकार के मार्ग से (भूर्जयः) इस भूलोक को या ‘भूः’ अर्थात् जन्म ग्रहण करने रूप भव बन्धन को विजय करने वाले (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष (द्याम्) प्रकाश स्वरूप मोक्षधाम में (प्रययुः) प्रयाण करते हैं, उसी प्रकार के मार्ग से जो लोग (दिवः) प्रकाशमान दिव्य (पृष्ठानि) लोकों को (आरूहन्) जाते हैं, (एते) वे (इतः) इस लोक से (उद् आरूहन्) ऊपर को जाते हैं।

भावार्थ—प्रकृति के बन्धनों से हमेशा के लिए मुक्त हो जाना ही मुक्ति है। मुक्त हो जाने वाले ब्रह्मज्ञानी पुरुष अखण्ड, सुखमय, प्रकाशमय ब्रह्मधाम को प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहा गया है कि ‘वे इस लोक से ऊपर जाते हैं।’ इसका तात्पर्य यह है कि वे इस विनाशी जगत को छोड़कर प्रकृति से परे अविनाशी ब्रह्मधाम (योगमाया के ब्रह्माण्ड) में जाते हैं। जहां सर्वत्र ब्रह्म का

¹ ब्रतेन दीक्षाम् आप्नोति । यजुर्वेद अ. १९ मं. ३०

अखण्ड स्वरूप है, वहीं ब्रह्मधाम है। पुनः प्रकृति के इस जड़ जगत में ब्रह्म व ब्रह्मधाम की कल्पना करना भी अनुचित है।

प्रश्न—ब्रह्मधाम को प्राप्त करने वाला मुक्त पुरुष पुनः कभी भव बन्धन में नहीं आता। मुक्ति का अर्थ ही है कि सर्वत्र इच्छानुसार बिना बाधा के अव्याहत गति वाला होना। जब वह योगमाया के ब्रह्माण्ड से बाहर ही नहीं जा सकता तो उसे मुक्ति नहीं अपितु बन्धन कहना चाहिए।

उत्तर—प्रकृति के असंख्यों ब्रह्माण्ड हृद के अन्तर्गत ही आते हैं। हमारे सौर मंडल में स्थित सूर्य एक छोटा-सा सूर्य है और इस आकाशगंगा में लगभग तीन अरब सूर्य हैं। प्रकृति मण्डल की सभी आकाशगंगाओं में हमारी आकाशगंगा एक छोटी-सी आकाशगंगा है। प्रकृति मण्डल की लम्बाई-चौड़ाई ज्ञान करना मानवीय बुद्धि से परे है। किन्तु यह सम्पूर्ण मण्डल भी हृद अर्थात् सीमा वाला कहा जाता है।

इससे परे योगमाया का चेतन ब्रह्माण्ड है, जो बेहद कहलाता है अर्थात् सीमा से रहित। बेहद से परे अक्षरातीत का परमधाम है। जहां से न तो कोई यहां आ सकता है और न यहां से कोई वहां जा सकता है। योगमाया के ब्रह्माण्ड का विस्तार मालूम करना असम्भव है। मुक्त पुरुष चाहे कितना भी उसमें विचरण क्यों न करे, किन्तु वह उसका ओर-छोर नहीं पा सकता।

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।

ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. १२

पदार्थ—(अनन्तम्) सीमा रहित कारण (अन्तवत् च) और सीमा युक्त कार्य ये दोनों ही (सम् अन्ते) परस्पर सीमायुक्त हैं। वस्तुतः (अनन्तम्) अन्तरहित कारण पदार्थ ही है, जो (पुरुत्र) नाना रूपों में (विततम्) प्रकट रूप से फैला है, परन्तु कारण और कार्य (ते) उन दोनों प्रकार के जगत को (नाकपालः) मोक्ष धाम का पालक वह ब्रह्म (अस्य) इस विश्व के (भूतम्) अतीत को और (भव्यम्) भविष्य को (विद्वान्) जानता है, वह दोनों में (विचिन्वन्) विवेक करता हुआ (ते) उन दोनों को (चरति) वश में किये हुए हैं।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व कारण प्रकृति का विस्तार मालूम करना तारतम ज्ञान से रहित मानवीय बुद्धि के लिए असम्भव होता है, क्योंकि कारण प्रकृति से जिस महत्त्व की उत्पत्ति होती है, उसी से असंख्य ब्रह्माण्डों की रचना होती है। इसलिए कारण प्रकृति को 'अनन्त' विशेषण दिया गया है। यद्यपि ब्रह्म की ज्ञान दृष्टि में अनन्त पद प्रकृति के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है, किन्तु जीव के लिए अवश्य है। इस मन्त्र में अनन्त पद का प्रयोग बेहद भूमि योगमाया के लिए भी

किया जा सकता है। यह सम्पूर्ण कार्य जगत कारण प्रकृति का ही विकास है। इन दोनों का संचालक मोक्षधाम का पालक ब्रह्म हैं, जो इन दोनों से परे हैं। कार्य जगत के कण-कण में तो जड़ प्रकृति का ही स्वरूप फैला हुआ है। पुनः इस प्रकृति से परे चेतन ब्रह्म को जगत के कण-कण में मानना भ्रम ही है।

ऊपर तले मांहे बाहेर, दसो दिसा सब एह ।

छोड़ याको कोई ना कहे, ठौर खसम का जेह ॥

कलश हिन्दुस्तानी प्र. २ चौ. १९

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।

अथर्ववेद का. ११/सू. ५/मं. १०

पदार्थ—(अन्यः) एक वेद ज्ञान (अर्वाक्) यहां है और (अन्यः) दूसरा स्वयं ब्रह्म (दिवः पृष्ठात् परः) द्यौलोक से भी परे है। (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाले पुरुष के (निधी) ये दो खजाने हैं (गुहा निहितौ) जो कि गुहा में निहित हैं।

भावार्थ—मनुस्मृति (१/१३) के अनुसार इस कार्य जगत के दो भाग होते हैं—

१. द्युलोक २. भूलोक। द्युलोक प्रकृति मण्डल की अन्तिम सीमा है। प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म का स्वरूप द्यौलोक से भी परे बताया गया है। पुनः उस अविनाशी चेतन ब्रह्म को जड़ जगत में मानना अनुचित है।

आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि ॥

ऋ. ८/६/३०, सामवेद आग्नेय का. प्र. १/२/१० (२०)

पदार्थ—(परो दिवि) द्युलोक से भी परे (यत्) जो (इध्यते) प्रकाशमान है, (आत् इत्) मानसिक शुद्ध भावनाओं तथा तदनुसार किए कर्मों के परस्पर मेल हो जाने के पश्चात् ही उपासक (प्रत्नस्य) सनातन, (रेतसः ज्योतिः) जगत के बीज रूप परमात्मा-ज्योति का (वासरम्) जो दिन के समान प्रकाशमान है, (पश्यन्ति) दर्शन कर सकते हैं।

भावार्थ—दिन के समय जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैला रहता है, उसी प्रकार द्युलोक (प्रकृति) से परे उस ब्रह्मधाम में ब्रह्म का शुक्रमयी (नूरमयी) प्रकाश सर्वत्र फैला रहता है। उस चेतन ब्रह्म का अखण्ड प्रकाशमान स्वरूप इस जड़ प्रकृति में नहीं है।

अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि । सोमो देवो न सूर्यः ॥

ऋ. ९/५४/३, सामवेद उत्तरार्चिक प्र. १/खं. ५/सू. १६/मं. ३ (७५७)

पदार्थ—(अयं) यह (देवो सूर्यः न) सूर्य के सदृश प्रकाशमान, आदित्य वर्णवाला, आनन्दमय (सोमः)^१ ब्रह्म है। (विश्वानि भुवना उपरि) समस्त लोकों के ऊपर (पुनानः) उनको गति देता हुआ (तिष्ठति) उन पर अधिष्ठाता के रूप में विराजमान है।

भावार्थ—आदित्यवर्ण वाला वह ब्रह्म समस्त भुवनों के ऊपर प्रकृति से परे चेतन-धाम में स्थित है। उसकी सत्ता से सभी लोक-लोकान्तरों में गति हो रही है, किन्तु वह स्वयं गति में नहीं है। मन्त्र में प्रयुक्त 'विश्वानि भुवना उपरि' पद से यह सिद्ध है कि वह ब्रह्म इन जड़ लोकों में व्यापक नहीं, अपितु उनसे परे चेतन लोक में ही स्वरूप से विराजमान है।

उध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थाद्विश्वा रूपा प्रतिचक्षाणो अस्य ।

भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत्प्रारूरुचद्रोदसी मातरा शुचिः ॥

ऋग्वेद मंडल ९/सू. ८५/मं. १२

पदार्थ—(गन्धर्वः) शक्ति को धारण करने वाला ब्रह्म (उध्वः) सबसे ऊंचे (नाके अधि अस्थात्) परम आनन्दमय धाम में विराजता हैं। वह (अस्य) इस जगत के (विश्वा रूपा प्रतिचक्षाणः) समस्त रूपों को देखता रहता है। वह (शुक्रेण शोचिषा) नूरमयी शुद्धकारी कान्ति से (वि अद्यौत्) चमकता है। वह (भानुः) कान्तिमान, (शुचिः) पवित्र (मातरा रोदसी)^२ माता के समान द्यावा और पृथिवी को (प्रारूरुचत्) चमकाता है।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि वह सर्वशक्तिमान ब्रह्म तो प्रकृति से सर्वथा परे परम आनन्दमय धाम में अपने शुक्रमयी स्वरूप से विराजमान है। वह कूटस्थ होकर प्रकृति मण्डल के ब्रह्माण्डों को देखता है। इस दृश्यमान जगत में उसका शुक्रमयी स्वरूप नहीं है। उसकी सत्ता के द्वारा निर्मित प्रकाशमान नक्षत्रों से प्रकृति मण्डल में प्रकाश हुआ करता है।

प्रश्न—अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।

ऋग्वेद (मण्डल १०/सू. १२५/मं. ८) के इस मन्त्र में यह कहा गया है कि (अहम् वातः इव प्रवामि) मैं वायु की भांति सर्वत्र व्याप्ता हूँ। मैं (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों का (आरभमाणा) निर्माण करता हूँ। अर्थात् सृष्टि को उत्पन्न करने वाला ब्रह्म वायु की तरह सर्वव्यापक है। उसे मात्र ब्रह्मधाम में ही मानना और इस जगत में न मानना ठीक नहीं है?

^१ सोम पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । ऋ. ९/९६/५

^२ द्यावापृथिव्यौ रोदसी ।

उत्तर—वायु एक अत्यन्त सूक्ष्म जड़ तत्व है, किन्तु वह जिनमें व्यापक हैं, उन व्याप्य पदार्थों में भी उसके गुण अवश्य हैं। यदि इस जगत के कण-कण में ब्रह्म का स्वरूप होता तो सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्मरूप होता। जिस प्रकार अग्नि में लोहा डाल देने पर उसमें और अग्नि के स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार यदि ब्रह्म का स्वरूप भी जगत में ओत-प्रोत होता, तो लौह-अग्निवत् ब्रह्म और जगत का भी स्वरूप एक समान हो जाता। ब्रह्म व्यापक अवश्य है किन्तु उसका स्वरूप प्रकृति से परे बेहद में तथा अक्षरातीत का स्वरूप उससे भी परे परमधाम में है। इस जड़ प्रकृति के संसार में मात्र उसकी सत्ता ही कण-कण में हैं। प्रस्तुत ऋचा में कहा गया है कि परमात्मा समस्त भुवनों का निर्माता है। तो यह जिज्ञासा होती है कि जिसके संकल्प मात्र से असंख्यों ब्रह्माण्ड बनते हैं, उन बनने वाले समस्त भुवनों से उसका स्वरूप परे ही होना चाहिए, उसके अन्दर नहीं। क्योंकि वह सृष्टि की उत्पत्ति का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। जो बनता है वह अवश्य नष्ट होता है। ब्रह्म की न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश ही होता है। इसलिए ब्रह्म का स्वरूप उत्पत्ति और विनाश से रहित मात्र चेतन लोक (बेहद धाम और परमधाम) में ही मानना पड़ेगा। इसी मन्त्र में आगे कहा गया है—

‘परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव’।

अर्थात् मैं परमात्मा (दिवा परः) द्युलोक से पार, (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वी से भी पर, (एतावती महिना) इतनी बड़ी महत्ता से युक्त (सं बभूव) सम्पन्न हूँ। मन्त्र के इस कथन से भी यह सिद्ध है कि ब्रह्म का स्वरूप इस जड़ जगत (द्युलोक तथा पृथ्वी) से भी परे मात्र चेतन लोक में ही है।

प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारान्यत्पूतो अत्येष्यव्यान्।

ऋ. मण्डल ९/सू. ९७/मं. ३१

पदार्थ—(यत् पूतः) जो तू पवित्र हे परमात्मा ! (अव्यान् वारान्) प्रकृति के बने आवरणों को पार करके (अत्येषि) विराजता है, (ते मधुमतीः धाराः प्र असृग्रन्) तेरी मधुमयी ज्ञान की वाणियां सुखद रूप से प्रकट होती हैं।

भावार्थ—इस ऋचा में ब्रह्म का स्वरूप प्रकृति से बने आवरणों अर्थात् संपूर्ण कार्य जगत से परे ही बताया गया है। महाप्रलय में विनाश को प्राप्त होने वाले इस कार्य जगत के कण-कण में ब्रह्म का स्वरूप कदापि नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जहां काल की सत्ता होगी वहां ब्रह्म का स्वरूप नहीं। जहां ब्रह्म का अखण्ड स्वरूप होगा, वहां माया या काल का कोई भी प्रभाव नहीं होगा।

पारब्रह्म जित रहत है, तित आवे नाहीं काल।

उतपन सब होसी फना, ए तो पांचों ही पंपाल ॥

किरंतन प्र. ३४ चौ. २२

तो कहा तीत सब्द से, जो कछु इतका पोहोंचे नाहें ।
असत ना मिले सत को, ऐसा लिख्या शास्त्रों माहें ॥

जो कछु पिंड ब्रह्माण्ड की, सब फना कही सास्त्रन ।
अखण्ड के पार जो अखण्ड, तहां क्यों पोहोंचे झूठ सुपन ॥

किरंतन प्र. ७३ चौ. १०-११

प्रश्न— यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
यः औषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥

श्वेता. उ. ३/१७

उपनिषद् के इस कथन से यह सिद्ध है अग्नि में, जल में, सम्पूर्ण विश्व में, औषधियों तथा वनस्पतियों में भी जिस ब्रह्म का स्वरूप है, उसे प्रणाम है ।

उत्तर—वस्तुतः ब्रह्म की सत्ता इस सम्पूर्ण विश्व में, अग्नि में, जल में तथा औषधियों एवं वनस्पतियों में हैं, किन्तु उसका स्वरूप कदापि नहीं । वेद की मूल संहिता का ही कथन सर्वोपरि होता है । वेद में अमृतमय अर्थात् अविनाशी धाम में ही ब्रह्म का स्वरूप माना गया है-

कनिक्रददनु पन्थामृतस्य शुक्रो वि भास्यमृतस्य धाम ।

ऋग्वेद मण्डल ९/सू. ९७/मं. ३२

पदार्थ—हे ब्रह्म ! तू (ऋतस्य पन्थाम् अनु कनिक्रदत्) सत्य के मार्ग का निरन्तर उपदेश करता हुआ स्वयं (शुक्रः)^१ नूरमयी स्वरूप से प्रकाशवान होकर (अमृतस्य धाम वि भासि) अविनाशी अमृत-स्वरूप धाम को प्रकाशित करते हो ।

भावार्थ—यह सम्पूर्ण कार्य जगत महाप्रलय में नष्ट हो जाता है । इससे परे अक्षरब्रह्म के चारों पादों का अखण्ड स्वरूप हैं, जो महाप्रलय में भी नष्ट नहीं हो सकता उससे भी परे अक्षरातीत का यह परमधाम है जिसमें अक्षर ब्रह्म का मूल स्वरूप अपने नूरमयी स्वरूप से शोभायमान है । अरबी भाषा के 'नूर' शब्द को वैदिक साहित्य में 'शुक्र' कहा जाता है ।

यत्र ज्योतिरजस्त्रं यस्मिन्लोके स्वर्हितम् ।

तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

ऋ. मण्डल ९/सू. ११३/मं. ७

पदार्थ—(पवमान) हे ब्रह्म ! (यत्र) जहां (अजस्त्रं ज्योतिः) शाश्वत अखण्ड ज्योति है, (यस्मिन् लोके) जिस लोक में सदा (स्वः हितम्) आनन्द ही निहित है, (तस्मिन्) उस (अमृते अक्षिते लोके) मृत्यु से रहित, विनाश रहित लोक में (माम्

^१ तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । कठोपनिषद् षष्ठी वल्ली श्लोक १ ।

धेहि) मुझे रखिए । (इन्द्राय! इन्द्रो परि स्रव) हे जीव ! तू उस ब्रह्म के प्रति सर्वदा प्रवाहित रह अर्थात् उससे संयुक्त रह ।

भावार्थ—प्रस्तुत ऋचा के पदार्थ से ही स्पष्ट है कि वेद में प्रकृति से परे उस ब्रह्मधाम का वर्णन किया गया है, जिसका कभी भी विनाश नहीं होता है । वहां अनादि काल से ही ब्रह्म के स्वरूप की अखण्ड ज्योति है । जहां दुख का नामोनिशान भी नहीं अपितु मात्र अखण्ड आनन्द ही आनन्द है । ऐसे लक्षणों वाले उस ब्रह्मधाम में ब्रह्म का ही स्वरूप सर्वत्र लीला करता है । प्रकृति के इस दुखमय, विनाशी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मधाम और ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना हास्यास्पद है ।

जित दूजी कोई है नहीं, एकै साहेब हक ।

तो तिन को दूजी बिना, कौन कहे बुजरक ॥

खुलासा प्र. १७ चौ. ५५

यह चौपाई मात्र दृष्टान्त के लिए उद्धृत की गई है अन्यथा इसका विनियोग अक्षरातीत के लिए होता है ।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।

यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्द्रो परि स्रव ॥

ऋग्वेद मण्डल ९/सू. ११३/मं. ८

पदार्थ—(यत्र वैवस्वतः राजा) जहां वह प्रकाशमान सबका स्वामी विराजता है, (यत्र) जहां (अवरोधनं दिवः) ज्ञान की सदा स्थिति है, (यत्र अमूः) जहां वे (यह्वती^२ आपः^३) महान् व्यापक शक्तियां हैं, (तत्र माम् अमृतं कृधि) हे ब्रह्म ! उस अविनाशी लोक में मुझे भी मरण-रहित बना । (इन्द्राय इन्द्रो परि स्रव) हे जीव ! तुम इस ब्रह्म के प्रति सतत् प्रवाहित रह ।

भावार्थ—प्रकृति के बन्धन में पड़कर जन्म-मरण के चक्र में दुखी रहने वाला जीव ब्रह्म से उस त्रिगुणातीत अविनाशी धाम में, जहां सर्वत्र ब्रह्म का ही स्वरूप है, स्वयं को रखने के लिए प्रार्थना करता है । प्रकृति से परे योगमाया के ब्रह्माण्ड में अक्षर ब्रह्म की चारों अखण्ड शक्तियों (चारों पादों) का स्वरूप हैं ।

^१ (इदि परमैश्वर्ये) इस धातु से 'रन्' प्रत्यय करने से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है । य इन्द्रति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः ।

^२ यह्व इति महतो नाम धेयं यातश्च हूतश्च भवति । "यह्व महन्नाम" निरुक्त अ. ८/पा. २/खं. ८ (निघण्टु ३/३) यातश्च हूतश्च । 'या' धातोः 'डः' प्रत्ययः कर्तरि भूते "अन्येष्वपि दृश्यते अन्येभ्योऽपि दृश्यते" वा. (अष्टा. ३/२/१०१) 'ह्वेञ्' ह्वा ततोऽपि 'डः' कर्मणि भूते । यातः प्राप्तश्च भवति, आहूतश्च भवति, यः सर्वत्र प्राप्तो भवति यश्च सर्वत्र आहूतो भवति स महान् हि भवति । निरुक्त सम्मर्थः अ. ८/पा. २/खं. ८ की व्याख्या ।

^३ 'आप्लु व्याप्तौ' इस धातु से 'अप्' शब्द सिद्ध होता है । वह सदा स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त हैं ।

योगमाया में प्राकृतिक दुखों का लेश भी नहीं है। इस संसार में यदि ब्रह्म का स्वरूप होता, तो संसार न तो जड़ होता, और न दुखमय ही।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।

लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मा मृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

ऋ. मण्डल ९/सू. ११३/मं. ९

पदार्थ—(त्रिनाके त्रिदिवे) सुखस्वरूप, त्रिपाद, अमृतमय, प्रकाशमय, ब्रह्मधाम में (यत्र) जहां (अनुकामं चरणं) कामनानुसार विचरण हो, (यत्र) जहां या जिस लोक में (लोकाः दिवः ज्योतिष्मन्तः) वे ज्योतिष्मान् मुक्त जीव हैं, (तत्र माम् अमृतं कृधि) वहां मुझको जरा मृत्यु से रहित कर। (इन्द्राय इन्दो परिस्रव) हे जीव ! तुम इस ब्रह्म के प्रति सदा प्रवाहित रह (ब्रह्म के प्रति संलग्न रह)।

भावार्थ—इस मन्त्र में 'त्रिनाके त्रिदिवे' पद का प्रयोग योगमाया के ब्रह्माण्ड में स्थित त्रिपाद अमृत (सत् स्वरूप, केवल तथा सबलिक) के लिए किया गया है। यजुर्वेद (अध्याय ३१/मं. ३) में "त्रिपादस्यामृतं दिवि" का उल्लेख भी इसी "त्रिनाके त्रिदिवे" के लिए किया गया है। अक्षर ब्रह्म का चौथा पाद अव्याकृत भी शेष तीन पादों की तरह ही प्रकाशमय तथा अखण्ड हैं। इन चारों पादों में ब्रह्म का स्वरूप कण-कण में विराजमान हैं, जिसमें मुक्त जीव (हंस) उस अक्षर ब्रह्म की अखण्ड लीलाओं का अनुभव करते हुए ब्रह्मानन्द का उपभोग करते हैं। जीव के द्वारा भी उसी अविनाशी धाम में स्वयं को रखने के लिए प्रार्थना की गई है, जिससे वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाये। योगमाया के उस अखण्ड ब्रह्माण्ड में ब्रह्म का जो नूरमयी स्वरूप है, उसे इस प्राकृतिक जगत के कण-कण में कहना सत्य सिद्धान्त के विपरीत हैं।

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रघ्नस्य विष्टपम् ।

स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

ऋ. मंडल ९/सू. ११३/मं. १०

पदार्थ—(यत्र कामाः) जहां सब प्रकार की अभिलाषाएं और (निकामाः च) इच्छाएं पूर्ण हों, (यत्र) जहां (ब्रघ्नस्य) ब्रह्मज्ञान का (विष्टपम्) सर्वोच्च पद है, (यत्र) जहां (स्वधा च तृप्तिः च) हंस अवस्था प्राप्त जीव को सुख देनेवाली सामग्री हैं और अपार तृप्ति है, (तत्र) वहां उस लोक में, हे ब्रह्म ! (माम्) मुझे (अमृतं) अविनाशी (कृधि) कीजिए। (इन्द्राय इन्दो परि स्रव) हे जीव ! तुम उस ब्रह्म के प्रति सतत् प्रवाहित रह।

भावार्थ—इस प्राकृतिक जगत में इच्छाओं के भोग से इच्छाएं शांत नहीं होती हैं अपितु आग में घी डालने से जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला और अधिक तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार विषयों के भोगने से और अधिक भोगने की कामना

होती है। प्रकृति से परे वह चेतन ब्रह्मधाम ही ऐसा है, जहां सभी कामनाएं पूर्ण भी होती हैं तथा सर्वदा तृप्ति एवं शान्ति बनी रहती हैं, क्योंकि वहां के कण-कण में मात्र ब्रह्म का ही स्वरूप है। यदि इस प्राकृतिक जगत में भी ब्रह्म का स्वरूप कण-कण में होता, तो विषयों के भोग की कामना, अतृप्ति, अशान्ति जैसे मायिक विकारों से जीवों को कदापि ग्रसित नहीं होना पड़ता।

प्रश्न—ऋग्वेद मण्डल ९/सू. ११३/ मं. ७-११ तक के मन्त्रों का विनियोग योगमाया के ब्रह्माण्ड (अक्षर के चारों पादों) में क्यों किया गया है ? परमधाम के लिए क्यों नहीं ?

उत्तर—इस सूक्त के आठवें मन्त्र में अक्षर ब्रह्म की महान् व्यापक शक्तियों का वर्णन किया गया है, जो परमधाम के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वहां सत्ता का नहीं अपितु प्रेम की लीला होती है। इस सूक्त में जीव के द्वारा यह प्रार्थना की गई है कि हे ब्रह्म ! आप मुझे, अपने उस पवित्र, अविनाशी लोक में स्थापित कीजिए। परमधाम से न तो कोई आत्मा सशरीर यहां आ सकती है और न यहां का जीव उस अद्वैत परमधाम में ही जा सकता है। वह ब्रह्म साक्षात्कार करके योगमाया के ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ब्रह्म स्वरूपता का अनुभव अवश्य कर सकता है। जिस अद्वैत परमधाम में कोई जीव प्रवेश ही नहीं कर सकता, तो वह ब्रह्म से उसमें जाने के लिए प्रार्थना ही क्यों करेगा ? इसी सूक्त में वर्णित 'त्रिनाके त्रिदिवे' का प्रयोग भी अक्षर की त्रिपाद् विभूति (सत् स्वरूप, केवल तथा सबलिक) के लिए किया गया है। अतः स्पष्ट है कि इस सूक्त के मन्त्रों का विनियोग अक्षर ब्रह्म के चारों पादों (योगमाया के ब्रह्माण्ड) के लिए होगा, परमधाम के लिए नहीं।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।

कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

ऋग्वेद मंडल ९/सू. ११३/मं. ११

पदार्थ—(यत्र आनन्दाः) जहां, जिस लोक में आनन्द और (मोदाः) हर्ष है, (मुदः प्रमुदः च आसते) जहां प्रसन्नता तथा प्रकृष्ट प्रसन्नता स्थित है, (यत्र) जहां (कामस्य) कामना करने वाले की (कामाः आप्ताः) सम्पूर्ण कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, (तत्र माम् अमृतं कृधि) हे ब्रह्म ! आप मुझे वहां, उस ब्रह्मधाम में अखण्ड कीजिए। (इन्द्राय इन्दो परिस्रव) हे जीव ! तुम उस ब्रह्म के प्रति सतत् प्रवाहित रह (संलग्न रह)।

भावार्थ—सभी तत्त्वज्ञानियों ने इस जगत को प्रायः दुःखमय ही माना है। यदि कहीं थोड़ा बहुत सुख है भी, तो वह क्षणिक और विषय जनित तथा परिणाम में दुःख देने वाला है। रोग, शोक, वियोग, जरावस्था, मृत्यु, विषय-विकारों से ग्रसित इस प्राकृतिक जगत में शाश्वत आनन्द तथा शाश्वत शान्ति की आशा

करना बहुत बड़ी भूल है। इस जगत् में कोई भी व्यक्ति पूर्णकाम न तो हुआ है और न होगा। एक मात्र परब्रह्म ही पूर्णकाम है। उस परब्रह्म की सत्ता के स्वरूप अक्षर ब्रह्म के धाम में ही अखण्ड मुक्ति को प्राप्त हुए जीवों की सम्पूर्ण कामनाएं पूर्ण हो सकती हैं, इस प्राकृतिक जगत् में कदापि नहीं। वेद के इस मन्त्रोक्त आशय से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस प्राकृतिक जगत् से भिन्न कोई चेतन-लोक (ब्रह्मधाम) अवश्य है, जहां शाश्वत शान्ति, शाश्वत आनन्द तथा पूर्णकामता है।

प्रश्न—आनन्द तो मात्र परमधाम में है, अक्षर ब्रह्म के योगमाया के ब्रह्माण्ड में नहीं, क्योंकि वह तो परब्रह्म की सत्ता का स्वरूप है ?

उत्तर—यद्यपि अनन्य प्रेम तथा आनन्द का अनन्त स्रोत परमधाम ही है, किन्तु प्रकृति से परे त्रिगुणातीत होने के कारण योगमाया का ब्रह्माण्ड भी दुख-द्वन्द्वों से सर्वथा रहित है। जीव सृष्टि के लिए उसमें भी अपार आनन्द है।

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्न आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥

ऋग्वेद मण्डल १०/सू. ८२/मं. ५

पदार्थ—वह ब्रह्म (दिवा परः) द्युलोक से भी परे, और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वी से भी परे। (यत्) जो (देवेभिः असुरैः)^१ ज्ञानी और प्राणी बल से जीने वालों से (परः अस्ति) परे है। (आपः) व्यापक प्रकृति के परमाणु (कं स्विद्) किसी (प्रथमं गर्भं) प्रथम गर्भ को (दध्ने) धारण करते हैं, (यत्र) जिसमें कि (विश्वे देवाः) समस्त प्रकाशवान् सूर्यादि लोक और समस्त विद्वान् (सम् अपश्यन्त) अपने आप को आश्रित देखते हैं।

भावार्थ—अक्षर ब्रह्म की सत्ता की अखण्ड लीला योगमाया के ब्रह्माण्ड में होती है। योगमाया के चौथे पाद अव्याकृत के द्वारा प्रकृति की उत्पत्ति होती है, जिससे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। उस कारण प्रकृति के अन्दर योगमाया के तृतीय पाद सबलिक (चतुर्थ पाद अव्याकृत) से चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। वह महत्तत्त्व का समुद्र एक तेज वाले अण्डाकार के रूप में परिणित हो जाता है। उसी से सम्पूर्ण जगत् तथा प्राणी उत्पन्न होते हैं। मनुस्मृति (१-८, ९) भी इस कथन की पुष्टि करती है। पुनः जिस जगत् की रचना ही उस जड़ प्रकृति से हुई है, उसमें ब्रह्म का स्वरूप मानना भूल है। इस सम्पूर्ण कार्य जगत् के दो भाग होते हैं १. द्युलोक तथा २. भूलोक। प्रस्तुत ऋचा में ब्रह्म का स्वरूप द्युलोक, पृथ्वी तथा इस जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों से परे ही कहा गया है।

^१ “असेरुरन्” (उणादि १/४२) इति ‘असु क्षेपणे’ (दिवा.) ततः ‘उरन्’ अथवा ‘असुः प्राणः’ यतोऽस्तः शरीरे क्षिप्तो वर्तते। तेन तद्वन्तः प्राणवन्तोऽसुराः प्राणिनः मतुवर्धियो रः प्रत्ययः। तं च प्राणपोषणपराः। निरुक्त (अ. ३/पा. २/खं. ८) की व्याख्या में।

प्रश्न—सविता पश्चात्तात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात् ।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥

ऋ. मण्डल १०/सू. ३६/मं. १४

इस मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि सृष्टिकर्ता अविनाशी अक्षर ब्रह्म आगे, पीछे, ऊपर नीचे सर्वत्र हैं, किन्तु यह तभी सम्भव होगा यदि उसका स्वरूप इस जगत के कण-कण में माना जाये ।

उत्तर—इस ऋचा का विनियोग इस प्राकृतिक जगत के लिए नहीं अपितु बेहद (योगमाया के ब्रह्माण्ड) के लिए किया जाएगा । वहां के कण-कण में अविनाशी ब्रह्म का ही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है । इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ यह है—

(सविता पुरस्तात्) सर्वोत्पादक ब्रह्म आगे है, (सविता पश्चात्तात्) वह सर्वोत्पादक ब्रह्म पीछे है । (सविता^१ उतरात्तात्) सर्वोत्पादक ब्रह्म उत्तर या ऊपर है, (सविता अधरात्तात्) वह सर्वोत्पादक ब्रह्म नीचे या दक्षिण है । (सविता नः सर्वतातिं सुवतु) ब्रह्मधाम में विराजमान वह ब्रह्म हमारा अभिलषित सुख प्रदान करे । (सविता नः दीर्घमायुः रासतां) वह सृष्टिकर्ता ब्रह्म हमें दीर्घ आयु प्रदान करें ।

यदि वह ब्रह्म इस जगत के कण-कण में व्यापक होता तो सारा जगत सुखमय तथा अविनाशी होता । पुनः उससे सुख तथा दीर्घ जीवन प्रदान करने के लिए प्रार्थना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

उर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ्चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि ।

ऋग्वेद मण्डल १०/सू. १२३/मं. ७

पदार्थ—(गन्धर्वः) सूर्य और भूमि आदि लोकों को अपनी सत्ता से धारण करने वाला वह अविनाशी ब्रह्म (नाके अधि) आनन्दमय धाम से (प्रत्यङ्) व्यापक होकर (अधि अस्थात्) सर्वोपरि विराजता है । वह (अस्य) इस जगत के (चित्रा) अद्भुत (आयुधानि) साधनों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (उर्ध्वः) सर्वोपरि विराजमान है ।

भावार्थ—यद्यपि ब्रह्म असंख्य लोकों को अपनी सत्ता के द्वारा अवश्य धारण करता है किन्तु उसका स्वरूप इस दुखमय जगत से परे आनन्दमय धाम में ही है ।

द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन्गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् ।

भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥

ऋग्वेद मण्डल १०/सू. १२३/मं. ८

^१ (पुत्र् अभिषवे, पूङ् प्राणिगर्भविमोचने) यश्चराचरं जगतं सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता ।

पदार्थ—(भानुः द्रप्सः)^१ सूर्यवत् कान्तिमान् आत्मा, (यत्) जो (समुद्रम् अभि) समुद्रवत् आनन्दरस के सागर परब्रह्म को लक्ष्य कर (गृध्रस्य) अभिलाषा की दृष्टि से (पश्यन्) देखती हुई उसी को (जिगाति) प्राप्त हो जाती है और (विधर्माणि) अपने सत्ता के स्वरूप के द्वारा विविध लोकों को धारण करने वाले (रजसि) उस तेजोमय परब्रह्म में (शुक्रेण शोचिषा चकानः) अति शुद्ध कान्ति में चमकती हुई (तृतीये रजति) तीसरे लोक में (प्रियाणि चक्रे) प्रिय सुखों को प्राप्त करती है।

भावार्थ—तीन लोक है १. कालमाया का ब्रह्माण्ड २. योगमाया का ब्रह्माण्ड ३. परमधाम। उस परमधाम के अन्तर्गत अपने नूरमयी (शुक्रमयी) स्वरूप से सूर्यवत् कान्तिमान् आत्माओं और अनादि अक्षरातीत परब्रह्म में आनन्द की लीलाएं होती हैं। इस जड़ जगत में जब एक सूर्य का तीखा प्रकाश इतना अधिक दाह कारक हैं, तो जिन आत्माओं की कान्ति ही सूर्यवत् है, उनके प्रियतम परब्रह्म का स्वरूप इस जड़ जगत के कण-कण में मानना कितनी बड़ी भूल हैं ?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

ऋग्वेद मण्डल १०/सू. १२९/मं. ७

पदार्थ—(इयं विसृष्टिः) यह विविध प्रकार की सृष्टि (यतः आबभूव) जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है, (यदि वा दधे) जो इस जगत को धारण कर रहा है, या यदि कोई (यदि वा न) इसे नहीं भी धारण कर रहा, तो (यः अस्य अध्यक्षः) जो इसका अध्यक्ष (परमे व्योमन्) परम पद में विद्यमान है, (सः अङ्ग वेद) वह तत्त्व जानता है (यदि वा न वेद) चाहे और कोई भले ही न जाने।

भावार्थ—इस सम्पूर्ण सृष्टि का मूल परम पद में विद्यमान अविनाशी ब्रह्म है। वही अपनी सत्ता से इसे धारण करता है। परम व्योम अमृतस्वरूप है। उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले इस जड़ जगत के कण-कण में ब्रह्म को व्यापक कदापि नहीं माना जा सकता।

प्रश्न—यदि इस जगत में ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, तो उसे विद्वान् जगत में ही व्यापक क्यों कहते हैं।

उत्तर—एकदेशी जीव अल्पज्ञ होता है। ब्रह्म के अन्दर सर्वज्ञता का गुण दर्शाने के लिए विद्वानों ने उसे कण-कण के अन्दर माना। ब्रह्मधाम में ब्रह्म का स्वरूप कण-कण में हैं, इस जड़ जगत में नहीं। मात्र ब्रह्मधाम में ही ब्रह्म का स्वरूप मानने पर भी उसकी सर्वज्ञता पर कोई निषेधात्मक प्रभाव कदापि नहीं पड़ सकता है, क्योंकि करोड़ों ब्रह्माण्ड ब्रह्म की दृष्टि में एक परमाणु के तुल्य हैं।

^१ द्रप्सः = स्तोको वै द्रप्सः। गो. २/२/१२

एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य ।

यजुर्वेद अ. १८/मं. ६०

पदार्थ—(सधस्थाः)^१ एक साथ स्थान में रहने वाले (देवाः) विद्वानों ! तुम (परमे व्योमन्) परम पद में विराजमान (एतम्) इस ब्रह्म को जानो और (अस्य) इसके (रूपम्) चेतन-स्वरूप को (विद) जानो ।

भावार्थ—अथर्ववेद (का. १७ सू. १ मं. १९) के अनुसार परमधाम प्रकृति से परे अमृतमय स्वरूप वाला है । इस मन्त्र में उसी परम-पद में ब्रह्म का स्वरूप घोषित किया गया है तथा दिव्य पुरुषों को उसका स्वरूप जानने का प्रयत्न करने के लिए कहा गया है ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

यजुर्वेद अ. ३१/मं. १८

पदार्थ—(तमसः परस्तात्) प्रकृति के अन्धकार से परे (आदित्यवर्णम्) आदित्य वर्ण वाले (महान्तम्) सबसे महान (पुरुषं) ब्रह्म को (अहम् वेद) मैं जानता हूँ ।

भावार्थ—यह सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल दुख और अज्ञान के गहन अन्धकार से परिपूर्ण है । इसके लिए “तमसः परस्तात्” पद का प्रयोग किया गया है । अतः स्पष्ट है कि आदित्य वर्ण वाला वह ब्रह्म प्रकृति के इस संसार से सर्वथा परे अपने चैतन्य, अविनाशी धाम में ही स्थित है ।

प्रश्न—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिम् सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥

यजुर्वेद अ. ३१/मं. १

इस मन्त्र से यह स्पष्टतः सिद्ध है कि ब्रह्म के अन्दर ही यह सम्पूर्ण जगत है, अर्थात् इस जगत में सर्वत्र ब्रह्म का स्वरूप है ?

उत्तर—इस मन्त्र में भी ब्रह्म की सत्ता के अन्तर्गत ही जगत को स्थित कहा गया है, स्वरूप के अन्दर नहीं । क्योंकि यदि यह दुखमय विनाशी जगत भी ब्रह्म के अन्दर होता, तो ब्रह्म के समान इसे भी सुखमय, अज्ञान से रहित तथा अखण्ड होना चाहिए । इस जगत के अन्दर स्थित मल-मूत्र जैसी गन्दी वस्तुओं के अन्दर तो असंख्यों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान ब्रह्म का स्वरूप कदापि प्रतीत नहीं होता । पुनः ब्रह्म के स्वरूप को जगत में एकरस पूर्ण कहना कितनी बड़ी भूल है । इस पूर्वोक्त मन्त्र का वास्तविक आशय यह है—

^१ कृणुते सधस्थ आ-आकुरुते सहस्थाने । नि. अ. ३ पा. ३ । खं. १४

पदार्थ—(सहस्रशीर्षा)^१ सभी प्राणियों के असंख्यों शिर (सहस्राक्षः) असंख्यों नेत्र और (सहस्रपात्) असंख्य पाद जिसकी सत्ता के बीच में है, सर्वत्र अपनी सत्ता से पूर्ण (सः) वह ब्रह्म (भूमिम् सर्वतस्पृत्वा) पृथ्वी तथा सब लोकों को धारण कर रहा है । (अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्) वह इस ब्रह्माण्ड से भी पृथक् स्थित है ।

पदार्थ—इस मन्त्र में पुरुष^२ शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं । जिसकी सत्ता में असंख्यों शिर, नेत्र तथा पग स्थित हैं, उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं । दशाङ्गुल शब्द हृदय तथा ब्रह्माण्ड का वाची है तथा अङ्गुलि शब्द अंग का अवयव वाची है । पांच स्थूल भूत तथा पांच सूक्ष्म भूत ये मिलकर जगत के १० अवयव हैं तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और दशवां जीव । इन सबसे परे ब्रह्म का स्वरूप है । अर्थात् न वह पिण्ड में है और न ब्रह्माण्ड में । प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म की सत्ता के अन्तर्गत, सम्पूर्ण जगत तथा प्राणियों को एवं उस सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत से परे ब्रह्म का स्वरूप निर्देशित किया गया है, ऐसा मानना चाहिए क्योंकि एक ही वेद मन्त्र के कथन में विरोधाभास कदापि नहीं हो सकता ।

स जातोऽअत्यचरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।

यजु. अ. ३१/मं. ५

पदार्थ—(स जातो अत्यरिच्यत्) वह विराट् ब्रह्म से अलग और ब्रह्म भी इस संसार से सदा अलग रहता है । (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् अपनी सत्ता से धारण कर रहा है ।

भावार्थ—जो यह प्रकृति मण्डल का ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, इससे भी परे ब्रह्म का स्वरूप है क्योंकि उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले जगत से परे अपने स्वरूप में वह वैसे ही एकरस स्थित है जैसे सूर्य अन्धकार से अलग है । ब्रह्म के गुण प्रकृति के इस वैकारिक जगत से पूर्णतया भिन्न हैं । अतः उसका स्वरूप भी इस जगत में नहीं है, अपितु उसने अपनी सत्ता से इसे धारण कर रखा है ।

प्रश्न—तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य ब्राह्मणः ॥

यजुर्वेद अ. ४०/मं. ५

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि वह परब्रह्म इस जगत के अन्दर बाहर सर्वत्र ओत-प्रोत हो रहा है ।

^१ सर्व वे सहस्रं सर्वस्य दातासीत्यादि । (शत. का. ७/अ. ५)

^२ पुरुषं पुरिषाय इत्याचक्षीरन् । (नि. अ. १/खं. १३) पुरुषः पुरिषादः पुरिषायः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरं पुरुषमभिप्रेत्य । “यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्” तै. आरण्यक १०/१०/२३ ॥ निरु. अ. २/खं. ३

मन्त्र के अर्थ पर दृष्टिपात् करने पर—

उत्तर—प्रस्तुत (तत्) वह ब्रह्म (एजति) चलायमान होता है, (तत् न एजति) वह नहीं चलता है। (तत् दूरे) वह दूर है (तत् उ अन्तिके) निश्चय ही वह नजदीक है। (तत्) वह (अस्य सर्वस्य अन्तः) इस परमधाम के पदार्थों के अन्दर है (तत् उ सर्वस्य अस्य ब्राह्मतः) निश्चय ही वह इस परमधाम के लीला रूप पदार्थों के बाहर हैं।

भावार्थ—इस मन्त्र का विनियोग इस प्राकृतिक जगत से सर्वथा परे परमधाम में ही होगा। जहां पर ब्रह्म का स्वरूप कण-कण में ओत-प्रोत हो रहा हैं। परमधाम के सभी पक्षों के अन्दर बाहर एक मात्र परब्रह्म का स्वरूप ही लीला कर रहा है। इसलिए उससे चलता हुआ भी कहा गया है और नहीं भी चलता हुआ कहा गया है। मन्त्र में प्रयुक्त पद (तत्) 'वह' से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जगत से परे किसी अन्यत्र धाम के लिए वर्णन किया गया है जहां पर ब्रह्म का स्वरूप है। यदि इस जगत के कण-कण में परब्रह्म का स्वरूप होता तो 'वह' के स्थान पर 'यह'(अयम्) का प्रयोग होता।

यह 'ब्रह्म का धाम' विषय में चतुर्थ समुल्लास सम्पूर्ण हुआ। आगे अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के विषय में लिखा जाएगा।

पंचम समुल्लास

अक्षरातीत पूर्णब्रह्म

ए जो न्यारा पारब्रह्म, इनकी भी करी रोसन ।
ए जो अक्षर अद्वैत, भी कहे तिनके पार वचन ॥

किरंतन प्र. ७४ चौ. २७

अक्षर अक्षरातीत कहावहीं, सो भी कहियत इत शब्द ।
शब्दातीत क्यों पावहीं, ए जो दुनिया हृद ॥

किरंतन प्र. १०७ चौ. ७

अक्षरातीत के मोहोल में, प्रेम इस्क बरतत ।
सो सुध अक्षर को नहीं, जो किन विध केलि करत ॥

किरंतन प्र. ७४ चौ. २९

यो वेतसं हिरण्यं तिष्ठन्तं सिलले वेद ।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ७/मं. ४१

पदार्थ—(यो) जो (सिलले) जल में (हिरण्यंवेतसं)^१ स्वर्ण का बेंत को (तिष्ठन्तं) स्थित (वेद) जानता है, (सः वै) वह ही (गुह्यः) गुह्य (प्रजापति) प्रजा का स्वामी है ।

भावार्थ^२—इस मन्त्र में पहेली के रूप में यह वर्णन किया गया है कि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म रूपी जल में स्वर्ण का बेंत रूपी अक्षर ब्रह्म स्थित है । गुह्य प्रजा का संकेत ब्रह्मसृष्टियों के लिए किया गया है । ब्रह्मसृष्टियों के एक मात्र प्रियतम अक्षरातीत पूर्णब्रह्म को ही यह पता है कि मैं स्वयं चिद्घन स्वरूप हूँ तथा मेरी सत्ता का स्वरूप अक्षर ब्रह्म है, तथा मेरे आनन्द का स्वरूप आत्माएं हैं । सत् + चित् + आनन्द का स्पष्ट रहस्य स्वयं अक्षरातीत पूर्णब्रह्म को छोड़कर सामान्य जीवों को ज्ञान नहीं है ।

^१ हिरण्यनामान्युत्तराणि पंचदश । हिरण्यं कस्माद्ध्रियत आयम्यमानमिति वा हितरमणं भवति वा हृदयरमणं भवति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्सा कर्मणः । निरुक्त अ. २/पा. ३/ख. १०

^२ इस मन्त्र का विनियोग मात्र अक्षर और अक्षरातीत के लिए ही किया जाएगा, मोहतत्व में स्थित नारायण के लिए कदापि नहीं, क्योंकि इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता (प्रति पाद्यविषय) स्कम्भ है जो केवल अक्षर तथा अक्षरातीत के लिए ही प्रयुक्त होगा ।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।

अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रुपयोः ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. २३

पदार्थ—(एनम्) इस परम पुरुष को (सनातनम्) सनातन पुरुष (आहुः) कहा करते हैं । परन्तु (उत अद्य) वह तो आज भी (पुनः नवः) नया का नया ही है । जैसे (अहोरात्रे प्रजायेते) दिन और रात प्रवाह रूप से सनातन काल से आते रहने पर भी बराबर नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं, तो भी (अन्यो अन्यस्य रुपयोः) अपने-अपने रूपों में सदा से वे समान रहते हैं ।

भावार्थ—अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म को सनातन पुरुष कहते हैं । उसकी सत्ता का स्वरूप अक्षर ब्रह्म भी सनातन ही है । अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के स्वरूप में न तो ह्रास होता है और न विकास । उसका स्वरूप सर्वदा एकरस वैसे ही रहता है जैसे (२४ घंटे) में रात-दिन का जो स्वरूप होता है अगले २४ घंटों में वैसा ही रहता है । रात-दिन का यह अपरिवर्तनीय स्वरूप प्रवाह से चला आ रहा है अर्थात् जिस प्रकार रात और दिन हमेशा नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं, उसी प्रकार अक्षरातीत पूर्णब्रह्म और अक्षर का स्वरूप भी अपरिवर्तनीय रूप में सर्वदा नया ही रहता है ।

प्रश्न—पंचभौतिक शरीर के अन्दर स्थित जीव अविनाशी होने के कारण अक्षर कहा जाता है । उससे परे परमात्मा है । अक्षर और अक्षरातीत को इस विश्व से परे परमधाम में एक ही स्वरूप वाला कहना अनुचित है ।

उत्तर—महाप्रलय तक तो जीव अविनाशी अवश्य हैं किन्तु महाप्रलय में वह अपने कारण विराट् पुरुष में लीन हो जाता है । (देखिए प्रथम समुल्लास) अक्षर शब्द का प्रयोग अनादि, अविनाशी कूटस्थ ब्रह्म के लिए ही होता है । मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक प्रथम खण्ड के अनुसार—

‘यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।

यथा सतः पुरुषात्केश लोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥’

अर्थात् जैसे मकड़ी जाला उत्पन्न करती है और अपने भीतर समेट लेती हैं, जैसे पृथ्वी पर ओषधियां उत्पन्न होती हैं तथा जैसे शरीर में जीव के विद्यमान होने से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अक्षर से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है ।

उपनिषद् के इस कथन के अनुसार सृष्टिकर्ता अविनाशी कूटस्थ ब्रह्म को ही अक्षर कहा जाता है । वेदान्त दर्शन भी ब्रह्म को सृष्टिकर्ता मानता है—

‘जन्माद्यस्य यतः’ (अ. १/पा. १/सू. २) अर्थात् जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार हो, वही ब्रह्म है। अल्पज्ञ जीव कदापि सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता है।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ।

मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड मन्त्र २। उपनिषद् के इस कथन में परमात्मा को अक्षर से भी परे कहा गया है। इससे यह स्पष्टतः निष्कर्ष निकलता है कि उस अनादि, अविनाशी, कूटस्थ अक्षर ब्रह्म से परे जो चिद्घन स्वरूप हैं, उन्हें ही अक्षरातीत पूर्णब्रह्म कहते हैं। सत् अर्थात् अक्षर ब्रह्म, चित् अर्थात् चिद्घन स्वरूप तथा आनन्द अंग-ये तीनों मिलकर सच्चिदानन्द अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म माने जाते हैं। अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की सत्ता का स्वरूप ही अक्षर ब्रह्म है, उनके आनन्द का स्वरूप अलग है तथा वह स्वयं चिद्घन स्वरूप हैं। उनका वह स्वरूप मात्र परमधाम में ही हैं, इस नश्वर जगत में नहीं।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।

उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. २९

पदार्थ—(पूर्णात्) पूर्णब्रह्म से (पूर्णम्) पूर्ण परमधाम (उद् अचति) प्रकाशित होता है। (पूर्णेन) पूर्णब्रह्म के द्वारा (पूर्णम्) पूर्ण परमधाम (सिच्यते) आनन्द और प्रेम रस से सींचा जाता है। (उतो) और (अद्य) आज (तत्) उस परब्रह्म का हम (विद्याम) ज्ञान प्राप्त करें (यतः) जिससे कि (तत्) वह परमधाम (परिषिच्यते) सींचा जा रहा है।

भावार्थ—केवल ब्रह्म अक्षरातीत, सत्-चित्त-आनन्द ब्रह्म।

ए कह्यो मोहे नेहेचे कर, इन आनन्द में हम तुम ॥

किरंतन प्र. ६५ चौ. १२

हृद बेहृद से परे अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का वह अनादि परमधाम पूर्ण है, उसमें न तो कुछ घट सकता है और न बढ़ सकता है। परब्रह्म का स्वरूप जिस प्रकार तेजोमयी (शुक्रमयी), अनन्य प्रेममयी और आनन्दमयी है, वही स्वरूप परमधाम का भी है अर्थात् पूर्णब्रह्म के इशक और आनन्द रस से सम्पूर्ण परमधाम ओत-प्रोत है। उसमें कभी भी कमी नहीं आ सकती है। बृहदारण्यकोपनिषद् (५/१/१) में उसी परमधाम के सम्बन्ध में कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते ॥

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥

अथर्ववेद का १०/सू. ८/मं. ३७

पदार्थ—(यस्मिन्) जिसमें (इमाः) ये समस्त (प्रजाः) प्रजाएं (ओताः) पिरोयी हुई हैं, (यः) जो विद्वान उस (विततम्) विस्तृत (सूत्रम्) प्रकृति रूपी सूत्र को (विद्यात्) जानता है और (यः) जो (सूत्रस्य सूत्रम्) उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, (सः) महत् ब्राह्मणं विद्यात्) वह महान् ब्रह्म को जानता है।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में जिज्ञासा के रूप में कहा गया है कि एक ऐसा विस्तृत सूत्र है, जिसमें समस्त जीव सृष्टि पिरोयी हुई है, किन्तु उस सूत्र का भी सम्बन्ध दूसरे सूत्र से है। जो उस दूसरे सूत्र को जानता है, वही पूर्णब्रह्म का वास्तविक ज्ञान जानता है कि वह कहां है, कैसा है तथा उसकी लीला क्या है?

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. ३८

पदार्थ—(अहम्) मैं (विततम्) उस व्यापक (सूत्रम्) प्रकृति रूपी सूत्र को (वेद) जानता हूँ। (यस्मिन्) जिसमें (ओताः प्रजाः इमाः) ये प्रजाएं पिरोयी हुई हैं। (अहम्) मैं (सूत्रस्य सूत्रम्) सूत्र के भी सूत्र को (वेद) जानता हूँ, (यद्) जो कि (महत् ब्राह्मणम्) महान् ब्रह्म है।

भावार्थ—प्रकृति के उस व्यापक सूत्र में समस्त जीव पिरोये हुए हैं अर्थात् प्रकृति की विकृति से उत्पन्न महत्त्व के बन्धन में समस्त जीव रहते हैं। इस प्रकृति का भी सूत्र वह अनादि अविनाशी अक्षर है, जिसके चौथे पाद अव्याकृत से इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति का सम्बन्ध है। 'सद्गुरु ब्रह्मानन्द हैं, सूत्र अक्षर रूप' का संकेत इसी दूसरे सूत्र से है। जो इस दूसरे सूत्र अक्षर ब्रह्म का ज्ञान जानता है, वही अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप, धाम तथा लीला जान सकता है।

प्रश्न—द्विजों द्वारा शरीर में धारण किये जाने वाले ३ या ६ धागे के सूत्र को ब्रह्मसूत्र कहते हैं।

उत्तर—कर्मकाण्ड के आर्ष-ग्रन्थों में उसे यज्ञोपवीत कहा गया है, ब्रह्मसूत्र नहीं। वह इस व्रत को धारण करने के लिए पहना जाता है कि मुझे कम से कम २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर सम्पूर्ण वेदादि विद्याओं और कलाओं का अध्ययन करना है। रुई के धागों से बना हुआ सूत्र कदापि ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकता।

वैदिक साहित्य में वेद शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' भी होता है। अतः ब्रह्मचर्य धारण करके ब्रह्म अर्थात् वेद का अध्ययन करने के लिए प्रतिज्ञा रूप में जो सूत्र धारण किया जाये, तो उसे ब्रह्मसूत्र कह सकते हैं। जीवन रूपी यज्ञ को

सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए अध्ययन हेतु प्रतिज्ञा रूप में जो सूत्र धारण किया जाता है, उसे यज्ञोपवीत कहते हैं। आर्ष ग्रन्थों में इसे इस प्रकार से वर्णित किया गया है—

यज्ञोपीतं परमं पवितं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्रं प्रतिमुंच शुभ्रं यज्ञोपवीतम् बलमस्तु तेजः ।

पारस्कर गृह्यसूत्र २/२/११

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।

स्वर्गस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. १

पदार्थ—(यः) जो (भूतं च भव्यं च) हुआ है और होगा (यः च सर्वम्) और जो सब पर (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है, (यस्य च केवलम्) और जिसका स्वरूप (स्वः) आनन्दमय है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) परब्रह्म को प्रणाम है ।

भावार्थ—पूर्णब्रह्म की ही सत्ता के स्वरूप अक्षर ब्रह्म की सत्ता हृद अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल में अधिष्ठित है। बेहृद में उसकी अखण्ड लीला होती है। परमधाम तथा पूर्णब्रह्म का स्वरूप प्रकृतिजन्य विकारों से सर्वथा रहित, त्रिगुणातीत तथा आनन्दमय है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ॥

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. ४४

पदार्थ—वह (स्वयंभूः)^१ अपनी निज सत्ता से स्थित, अनादि (अकामः) पूर्णकाम, (धीरः) धीर (अमृतः) अविनाशी, (रसेन तृप्तः) और आनन्दरस से परिपूर्ण है। (कुतश्चन उतः) वह कहीं से भी किसी प्रकार न्यून नहीं है। (तम्) उस (धीरम् अजरम् युवानम्) धीर, वृद्धावस्था से रहित नित्य, तरुण (आत्मानं)^२ परब्रह्म को (एव) ही (विद्वान्) जानकर विद्वान् पुरुष (मृत्योः) मृत्यु से (न बिभाय) नहीं डरता है।

भावार्थ—वैदिक साहित्य में 'आत्मा' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। परमधाम के कण-कण में अक्षरातीत परब्रह्म का स्वरूप व्यापक है। इसलिए उसे इस मन्त्र में 'आत्मा' कहकर वर्णित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में सृष्टि से पहले जो एक मात्र ब्रह्म था उसे भी 'आत्मा'^३ कहा गया है। पुनः उसी शतपथ

^१ भूः सतायाम्-यः स्वयं भवति सः स्वयं भूः ।

^२ अतः सातत्यगमने-योऽतति व्याप्नोति स आत्मा ।

^३ अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्योपनि। २, शत. वा. १४/४/५/१४) "आत्मा वा इदमग्र आसीत् ।" (बृ. आ. ३.० अ. १/ब्रा. ४/कं. १) ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । (शत. (११/१/११/१) य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो य

ब्राह्मण तथा कठोपनिषद् में शरीर में स्थित जीव को ही आत्मा कह दिया गया है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि 'आत्मा' पद का प्रयोग, वैदिक साहित्य में अक्षरातीत, अक्षर ब्रह्म तथा जीवों तीनों के लिए हुआ है। किन्तु प्रकरण के अनुसार ही अर्थ किया जाता है।

प्रस्तुत मन्त्र में अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म को स्वयंभू, पूर्णकाम, अमृत स्वरूप वाला अर्थात् अविनाशी तथा अनन्त एवं अखंड आनन्द का मूल स्रोत कहा गया है। उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे नित्य तरुण स्वरूप वाले हैं। उनमें न तो कभी वृद्धावस्था आयी है और न कभी आएगी। क्योंकि उनका स्वरूप पंचभौतिक नहीं, अपितु अविनाशी, चेतन, तेजोमयी, शुक्रमयी तत्त्व का है। जो उस अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह कदापि मृत्यु से नहीं डर सकता है।

यह अक्षरातीत पूर्णब्रह्म संबंधी पंचम समुल्लास संपूर्ण हुआ। इसके आगे अक्षर और अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के स्वरूप के विषय में लिखा जाएगा।

षष्ठम समुल्लास

ब्रह्म का स्वरूप

जो कछु कहिए वचने, सो तो सब अनित ।
वतन सरूप कोई ना कहे, तो क्यों कर जाइए तित ॥
ए जाए न उलंघी देखीती, ना कछु होए पेहेचान ।
तो दुल्हा कैसे पाइए, जाको नेक ना सुन्यो निसान ॥
खसम जो न्यारा द्वैत से, और ठौर सब द्वैत ।
किने ना कह्यो ठौर नेहेचल, तो पाइए कैसी रीत ॥

कलश हिन्दुस्तानी २/२०, २२, २३

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमा भासि रोचन ॥

ऋ. १-५०-४ साम. पूर्वा. प्र. ६-५-९, अथर्व १३.२.१९

पदार्थ—(रोचन) हे प्रकाशस्वरूप (सूर्य)। ब्रह्म ! तुम (तरणिः) सबको भवसागर से तारने वाले (विश्व-दर्शतः) सबके लिए दर्शनीय हो । तुम ही योगमाया के ब्रह्माण्ड में (ज्योतिः कृत् असि) ज्योति करने वाले हो । तुम (विश्वम् अभासि)^१ समस्त योगमाया के ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करते हो ।

भावार्थ—इस मन्त्र का विनियोग परमधाम के लिए न होकर योगमाया के ब्रह्माण्ड के लिए इसलिए होगा कि यजुर्वेद के अ. ७ मं. ४२ में 'सूर्य' पद का अर्थ अक्षर ब्रह्म होता है तथा अक्षर ब्रह्म की अखण्ड लीला उसके चारों पादों (योगमाया के ब्रह्माण्ड) में होती है । योगमाया के ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही अक्षर ब्रह्म का नूरमयी (शुक्रमयी) स्वरूप कण-कण में शोभायमान है । वहां पर सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि का जड़ प्रकाश नहीं है, अपितु सर्वत्र ही चेतन ब्रह्म का चेतन प्रकाश है । परमधाम में स्थित अक्षर ब्रह्म का वह मूलस्वरूप अत्यन्त दर्शनीय है । क्या निराकार भी दर्शनीय होता है ?

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि

अथर्ववेद का. १७/सू. १/मं. २०

^१ सूर्य आत्मा जगत्स्थस्थुषश्च (यजु. ७/४२)

^२ विश्वं त्मना विभृतो-सर्वमात्मना विभृतो । निरुक्त सम्मर्श अ. ३/पा. ४/खं. २२

पदार्थ—हे ब्रह्म ! तुम (शुक्रः असि) नूर हो, (भ्राजः असि) अति देदीप्यमान् हो ।

भावार्थ—अरबी साहित्य में जिसे नूर कहते हैं, वैदिक साहित्य में उसे ‘शुक्र’ कहा जाता है । ब्रह्म का स्वरूप नूरमय तथा अत्यन्त देदीप्यमान् है ।

रुचिरसि रोचोऽसि ।

अथर्ववेद का. १७/सू. १/मं. २१

पदार्थ—हे ब्रह्म ! तुम (रुचिः असि) कान्ति हो ! (रोचः असि) कान्तिमान् हो, अति मनोहर हो ।

भावार्थ—ब्रह्म को निराकार कहने वाले क्या उसे कान्तिमान और मनोहर कह सकते हैं ? बिना स्वरूप के किसी भी वस्तु के साथ ‘कान्तिमान तथा मनोहर’ जैसे विशेषणात्मक शब्दों का प्रयोग सम्भव ही नहीं है ।

प्रश्न—निराकार किसे कहते हैं ?

उत्तर—‘निर्’ और ‘आङ्’ पूर्वक ‘डुकृञ् करणे’ इस धातु से ‘निराकार’ शब्द सिद्ध होता है । ‘निर्गत आकारात् स निराकारः’ जिसका कोई भी आकार नहीं, उसे निराकार कहते हैं ।

प्रश्न—चारों वेदों की मूल संहिता में क्या ब्रह्म के लिए ‘निराकार’ शब्द प्रयुक्त हुआ है ?

उत्तर—वेदों की मूल संहिता में ब्रह्म के लिए ‘निराकार’ शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है और किसी भी ऐसे शब्द का वर्णन नहीं हुआ है जिसका अर्थ निराकार अथवा स्वरूप से रहित होता है । अपितु उसे (यजु. अ. १८ । मं. ६०) ‘विद रूपमस्य’ अर्थात् इसके स्वरूप को जानो तथा ‘सुरूपकृत्नुम्’ (ऋ. मंडल १ सू. ४ मं. १) कहा गया है, जिसका अर्थ होता है, सौन्दर्य का निर्माता । क्या सौन्दर्य का निर्माता स्वयं सौन्दर्य से रहित होगा ? जो सौन्दर्यवान् होगा, वह स्वरूप से रहित नहीं हो सकता । स्वरूप धारण करने वाला निराकार कभी नहीं माना जा सकता ।

प्रश्न—जब वेदों की मूल संहिता में ‘निराकार’ या उसका कोई समानार्थक शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, तो वेदानुयायी उसे निराकार क्यों कहते हैं ।

उत्तर—वेद तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के अनुसार ‘ब्रह्म सर्वज्ञ है ।’ विद्वानों के अनुसार—ब्रह्म को सर्वज्ञ तभी माना जा सकता है, यदि वह प्रकृति के अन्दर भी सर्वत्र हो, क्योंकि एकदेशी अल्पज्ञ होता है । जो सर्वत्र विद्यमान होगा वह सर्वव्यापक होगा । महाप्रलय में यह सम्पूर्ण कार्य जगत नष्ट होकर अपने कारण में लीन हो जाता है । महाप्रलय की भी अवस्था में ब्रह्म को अविनाशी तभी माना

जा सकता है जब वह प्रकृति मण्डल में स्थित आकाश तथा महत्त्व, अहंकार आदि से भी सूक्ष्म हो।

जो सूक्ष्मतम होगा, वह निःसंदेह निराकार होगा। अतः ब्रह्म को सर्वज्ञ और अविनाशी सिद्ध करने के लिए विवश होकर ब्रह्मत्त्व का मनन करने वालों को निराकार ही मानना पड़ा। वास्तविकता यह है कि—करोड़ों ब्रह्माण्ड ब्रह्म की ज्ञान-दृष्टि में एक परमाणु के ही तुल्य हैं। अपनी अनन्त ज्ञान-शक्ति से युक्त होने के कारण प्रकृति से परे होते हुए भी ब्रह्म सर्वज्ञ ही है। उदाहरणार्थ एक मानव अपनी सामान्य आंखों से बहुत थोड़ी दूर का ही दृश्य देख सकता है और दूरदर्शक यन्त्र (दूरबीन) की सहायता से कई किलोमीटर तक देख सकता है किन्तु योगसिद्ध महापुरुष अपनी योग-विधि से हजारों-लाखों किलोमीटर दूर स्थित किसी भी स्थान का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

वैसे ही अपने त्रिगुणातीत अविनाशी परमधाम में स्थित होने पर भी ब्रह्म की सर्वज्ञता पर कुछ भी निषेधात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है तथा इस कार्यरूप जगत से सर्वथा परे रहने के कारण महाप्रलय में भी उसकी अखण्डता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आर्ष ग्रन्थों में ब्रह्म को व्यापक कहने का आशय यह है कि उसका स्वरूप प्रकृति से परे योगमाया के ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्यापक है तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप परमधाम के कण-कण में व्यापक है। इस प्राकृतिक जगत में ब्रह्म की मात्र सत्ता व्यापक है, स्वरूप नहीं।

तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो।

अथर्ववेद का. ४/सू. २५/मं. ३

पदार्थ—हे (चित्रभानो) विचित्र प्रभा से युक्त ब्रह्म ! (तव व्रते) तुम्हारी व्यवस्था में रहकर (जनासः) समस्त जन (नि विशन्ते) नियम से रहते हैं। (उदिते) उदित होने पर अर्थात् तुम्हारा साक्षात्कार हो जाने पर (त्वयि) तुम्हारे आनन्द में (प्रेरते) गति करते हैं।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर ही हम सूर्य को देख पाते हैं। ब्रह्म के उदित होने का तात्पर्य ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। ब्रह्म के आनन्द में गति करने का अर्थ है ब्रह्मानन्द को प्राप्त करते रहना। जो ब्रह्म विचित्र प्रभा से युक्त है, उसको स्वरूप से रहित कहना ठीक नहीं है।

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।

मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूंस्त बोध्यापेः ॥

अथर्ववेद का. ४/ सू. ३२/मं. ६/ऋ. १०/८३/६

¹ योगज ज्ञान द्वारा दूर-दूर के सूक्ष्म तथा व्यवहित पदार्थों का भी प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। योग दर्शन (३/४९, ५४ तथा ४/३१)

पदार्थ—मैं (अयम्) यह (ते अस्मि) तेरा ही हूँ । आप (नः) हमसे (प्रतीचीनः) अदृश्य होकर भी (नः) हमें (अर्वाङ्) साक्षात् दर्शन (उप एहि) दीजिए । हे (सहुरे) बलशालिन् ! (विश्वदावन्) सब पदार्थ देने वाले (मन्यो) सर्वज्ञ ! (वज्रिन्) अधर्म-संहारक ! (नः) हमारे (अभि आ ववृत्स्व) सन्मुख आओ । हम दोनों मिलकर (दस्युन् हनाव) मनोविकार रूपी दस्युओं का विनाश करे, (उत) और (आपेः) मुझ को आप (बोधि) अपना समझें ।

भावार्थ—इस मन्त्र में उस अविनाशी ब्रह्म से यह प्रार्थना की गई है कि हे ब्रह्म ! आप मेरे सन्मुख आकार साक्षात् दर्शन दीजिए । प्रार्थी तथा ब्रह्म के बीच में प्रकृति का ओट (परदा) है । यदि ब्रह्म का स्वरूप ही नहीं तो वह दर्शन क्या देगा ? वस्तुतः वह स्वरूपवान है तभी उसके दर्शन की कामना की गई है ।

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्रणि जङ्घनाव भूरि ।

जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥

ऋ. १०/८३/७, अथर्ववेद का. ४/सू. ३२/मं. ७

पदार्थ—हे ब्रह्म ! आप (अभि प्रेहि) हमें दर्शन दीजिए और (दक्षिणतः नः भव) हमारे सदा दायें होकर रहिए । (अध, वृत्रणि) और विघ्नों को हम दोनों मिलकर (भूरि) बहुत अधिक (जङ्घनाव) विनाश करें । हे ब्रह्म ! (ते) तेरे (मध्वः) मधुर आनन्द रस के (अग्रं) सारभूत श्रेष्ठ (धरुणं) चिरस्थायी स्वरूप को (जुहोमिः) मैं प्राप्त करता हूँ । (उभौ) हम दोनों (उप-अंशुः) एकान्त में (प्रथमा) सबसे पूर्व उस मधुर रस का (पिबाव) पान करें ।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्म को दायें होने का वर्णन आलंकारिक है । इस कथन के द्वारा ब्रह्म के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है । ‘धरुण’ पद का प्रयोग ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप के लिए हुआ है । आनन्द रस को देने वाला और उसका पान करने वाला स्वरूप से रहित नहीं हो सकता है ।

प्रश्न—यदि ब्रह्म निराकार नहीं, तो क्या वह साकार है ?

उत्तर—वह साकार एवं निराकार की दोनों उपाधियों एवं मान्यताओं से परे हैं । प्रकृति मंडल में पंचभूतात्मक किसी भी पदार्थ को साकार कहते हैं । साकार पदार्थ का स्वरूप विनष्ट हो जाता है । महाप्रलय में जब आकाश ही नहीं रहता है, तो किसी भी साकार पदार्थ के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं है ।

प्रश्न—किस पदार्थ को निराकार कहते हैं ।

उत्तर—मोह अज्ञान भरमना, करम काल और सुन ।

ये नाम सारे नींद के, निराकार निरगुन ॥

कलश हि. प्र. २४ चौ. १९

कारण प्रकृति में विकृति से जिस महत्त्व की रचना होती है, उसका स्वरूप इतना सूक्ष्म होता है कि इन्द्रियातीत होने के कारण उसे ही निराकार कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पंच सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति अहंकार से होती है तथा अहंकार भी महत्त्व से उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि महत्त्व के स्वरूप को सामान्य मानवीय बुद्धि के लिए ग्राह्य न होने के कारण निराकार कहा जाता है।

प्रश्न—साकार एवं निराकार से परे ब्रह्म का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर—महाप्रलय में साकार एवं निराकार दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः इन दोनों से परे ही ब्रह्म का स्वरूप है, जो त्रिगुणातीत है। वेदों की मूल संहिता में उस स्वरूप को वाणी के माध्यम से व्यक्त करने के लिए ‘शुक्र (नूर)’, (यजुर्वेद में अ. १७/मं. ८०), ‘भर्गः’, (सामवेद उतरार्चिक प्र. ६-खं. ४ सू. १० मं. १) और ‘आदित्यवर्णम्:’ (यजुर्वेद अ. ३१ मं. १८) आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। जो ब्रह्म का स्वरूप है, वही उसके धाम का भी स्वरूप है। अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप जिस प्रकार तेजोमयी तथा प्रेममयी है, उसी प्रकार सम्पूर्ण परमधाम भी प्रेममयी और शुक्रमयी ही है। इसके विपरीत प्रकृति के इस त्रिगुणात्मक जगत में न तो ब्रह्म का स्वरूप है और न नूर (शुक्र) ही। अपितु यहां के जीवों का शरीर भी पंचभौतिक, त्रिगुणात्मक ही होता है। प्रकृति मण्डल के कण-कण में त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही स्वरूप सर्वत्र है।

जो ना कछु गम नाम न ठाम, सो सत सांई निराकार।

भरम के पिंड असत जो आपे, सो आप होत आकार ॥

किरंतन प्र. ४ चौ. ८

प्रश्न—जब ब्रह्म का स्वरूप नूरमयी (शुक्रमयी) है तो क्या उसकी कोई आकृति भी है ?

उत्तर—दुनी कहे हक को, वजूद नहीं मुतलक।

तो ए हुकम किनने किया, जो सूरत नाही हक ॥

खुलासा प्र. १६ चौ. २४

य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्।

इन्द्रः स नो युवा सखा ॥

सामवेद ऐन्द्र काण्ड प्र. २/ख. २/द. ४/मं. ३ (१२७)

पदार्थ—(यः) जो (इन्द्रः) ब्रह्म (सुनीती) उत्तम नीतियों द्वारा (तुर्वशम्)^१ अपनी हिंसक वृत्तियों को वश में करने वाले और (यदुम्) इस ओर यत्न करने वाले

^१ तुर्वशम्-तुर्वी (हिंसा) + वशम्।

उपासक को (परावतः) परे से अर्थात् विषयों से अपनी ओर (आनयत्) ले आता है, अपने अभिमुख कर लेता है, (सः) वह (युवा) सदा जवान स्वरूप वाला ब्रह्म (नः सखा) हमारा सखा है।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्म को युवा स्वरूप वाला कहा गया है, किन्तु उसका शरीर मनुष्यों के पंचभौतिक शरीर के लक्षणों से सर्वथा विपरीत है। ब्रह्म के युवा स्वरूप वाले शरीर में हड्डी, मांस रस, रक्त, तथा नस-नाडियां नहीं हैं। श्वास-प्रश्वास की क्रिया उसमें नहीं होती है और क्षुधा, तृषा भी उसको नहीं सताती है। वह छेदन, भेदन तथा मरण से पूर्णतया रहित है। न उसमें रंचमात्र भी ह्रास होता है और न विकास। अनादि काल से उसका स्वरूप वैसा ही है और अनन्त काल तक रहेगा। वह कभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि शारीरिक परिवर्तन पंचभौतिक त्रिगुणात्मक शरीरों में ही होते हैं, त्रिगुणातीत शुक्रमयी शरीरों में नहीं।

त्रीणिछन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।

अथर्ववेद का. १८/सू. १/मं. १७

पदार्थ—(त्रीणि) तीनों (छन्दांसि) छन्दों अर्थात् वेदों के (कवयः) क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष (पुरुरूपम्) नाना प्रकार से प्रकट होने वाले, (विश्वचक्षणम्) सबके द्रष्टा, (दर्शतम्) दर्शनीय ब्रह्म को लक्ष्य करके ही (वि, येतिरे) व्याख्या करते हैं।

भावार्थ—उस अविनाशी ब्रह्म का तेजोमयी स्वरूप ही योगमाया के ब्रह्माण्ड में अनेक रूपों में लीला करता है, इसलिए इस मन्त्र में उसे “पुरुरूपं”^१ पद से वर्णित किया गया है। वेदों में उस दर्शनीय (दर्शन करने योग्य) ब्रह्म को लक्ष्य करके ही वर्णन किया गया है। जो ब्रह्म दर्शनीय होगा, क्या वह स्वरूप से रहित होगा ?

प्रश्न—स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वती-
भ्यः समाभ्यः ॥

यजुर्वेद अ. ४०/मं. ८

इस मन्त्र में ब्रह्म को शरीर से रहित कहा गया है।

उत्तर—यह मन्त्र भी ब्रह्म के स्वरूप का द्योतक है इसका पदार्थ यह है—(सः) वह ब्रह्म (शुक्रम्) शुद्ध नूरमयी स्वरूप वाला (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से रहित, (अव्रणम्) छिद्र रहित और छिद्र न करने योग्य, (अस्नाविरम्) स्नायु आदि से रहित, (शुद्धम्) शुद्ध स्वरूप वाला, (अपापविद्धम्)

^१ पूरुत्वा दाश्वान् वोचे- बहुदाश्वांस्त्वामेवाभिहवयामि। निरुक्त अ. ५/पा. २/खं. ६

निष्पाप, (परि, अगात्) अपने ब्रह्मधाम में व्यापक, (कविः)। क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ, (मनीषी) मेधावी, (परिभूः) पापियों का तिरस्कार करने वाला और (स्वयम्भूः) अनादि स्वरूप वाला है। उसने (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) प्रवाह से सनातन प्रजाओं के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थ भाव से (अर्थान्) वेद द्वारा (व्यदधात्) सर्व विद्याओं का उपदेश किया है तथा प्रत्येक सर्ग में सृष्टि रचना करता है।

भावार्थ—स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-प्रकृति का ही स्वरूप होता है। ब्रह्म का स्वरूप प्रकृति से परे त्रिगुणातीत है। इस मन्त्र में ब्रह्म को 'अकायम्' अर्थात् शरीर रहित कहने का आशय यह है कि वह पंचभौतिक शरीर से रहित है। वह नूरमयी (शुक्रमयी) शरीर वाला है जो स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सभी प्राकृतिक अवस्थाओं से परे है। वह नूरमयी शरीर नस नाड़ियों, रक्त आदि प्राकृतिक विकारों से सर्वथा रहित है। उसमें छेदन-भेदन भी नहीं हो सकता है। यदि ब्रह्म का स्वरूप नहीं होता, तो उसे क्रान्तदर्शी, मनीषी और अनादि स्वरूप वाला नहीं कहा जा सकता।

धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान्।

अथर्ववेद का. १८/सू. १/मं. ३०

पदार्थ—आप (समिधा) अत्यधिक दीप्तिमान् (धूमकेतुः) समस्त बन्धनों से तोड़ने वाले ज्ञान से सम्पन्न, (भा-ऋजीकः) कान्ति से कान्तिमान्, (मन्द्रः) आनन्दघन, (होता) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि सभी पदार्थों के देने वाले, (नित्यः) नित्य विद्यमान स्वरूप वाले तथा (वाचा) वाणी द्वारा (यजीयान्)² स्तुति करने योग्य हैं।

भावार्थ—इस मन्त्र में अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अत्यधिक दीप्तिमान्, अपनी तेजोमयी कान्ति से शोभायमान, आनन्दघन तथा नित्य विद्यमान स्वरूप वाला है। ये लक्षण निराकार में कदापि प्रयुक्त नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न—जब वेद में 'अक्षर और अक्षरातीत पूर्णब्रह्म' के स्वरूपों का वर्णन है, तो उन दोनों का स्वरूप एक समान है या भिन्न-भिन्न ?

उत्तर—दोनों के स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं है। दोनों ही नूरमयी स्वरूप वाले हैं तथा दोनों का ही स्वरूप युवा है—

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. ४४

¹ 'कु शब्दे' इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। यः कौति शब्दयति सर्वा विद्या सः कविः। कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भ्रदमित्यादि ॥ नि. अ. १२ ख. १३/मनीषी-मेधाविनाम नि. अ. ३ ख. १५

² यजीयान् यष्टृतरः। निरुक्त अ. ८/पा. २/खं. ८

पदार्थ—(तम्) उस (धीरम् अजरम्) धीर, अजर, अमर, (युवानम्) नित्य तरुण (आत्मानं) परब्रह्म को (एव) ही (विद्वान्) जान कर विद्वान् पुरुष (मृत्योः) मृत्यु से (न बिभाय) नहीं डरता है।

भावार्थ—इस मन्त्र में अक्षरातीत पूर्णब्रह्म को नित्य तरुण (युवा स्वरूप वाला) कहा गया है। यदि कोई यह शंका करे कि 'युवानम्' पद का अर्थ युवा या तरुण नहीं, अपितु शक्तिशाली होता है, तो इसका समाधान यह है कि—

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ॥

अथर्ववेद का. ११/सू. ५/मं. १८

इस मन्त्र में 'युवानम्' पद का अर्थ 'पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुष' किया गया है। अर्थात् (कन्या) कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के पालन से उत्तम शिक्षा को प्राप्त करके युवावस्था में अपने सदृश (युवानम्) पूर्ण युवावस्था प्राप्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त करती है।

प्रश्न—“न त्वावां अन्यो न दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते”

यजु० २७/३६, ऋ. ७/३२/२३

“न द्वितीयो न तृतीयो न चतुर्थो अपि उच्यते”

अथर्ववेद का. १३/सू. ४(२)/ म. १६

“एकम् एव अद्वितीयं ब्रह्म”

ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दो. उ. ६/२/ १

उपरोक्त वैदिक कथनों से यह सिद्ध है कि परब्रह्म मात्र एक ही है दो, तीन, चार या पांच नहीं। एक अद्वितीय परब्रह्म के समान दूसरा न तो कोई हुआ है और न ही कभी होगा। ऐसी स्थिति में आप परब्रह्म के युगल स्वरूप की मिथ्या कल्पना क्यों करते हैं?

क्या परब्रह्म अनादिकाल से युगल स्वरूप है या लीला रूप में उसने अपने को दो रूपों में कर लिया?

उत्तर—इस प्रश्न के समाधान में मैत्रेयी और मौद्गल्य का यह संवाद¹ देखने योग्य है। अधीहि भोः। कः सविता का सावित्री?

हे गुरुदेव ! कृपा करके बतलाईये सविता और सावित्री में क्या भेद है?

इस पर मौद्गल्य ने उत्तर दिया—

¹ गोपथ ब्राह्मण १/३२-३४

मन एव सविता, वाक् सावित्री, यत्र ह्येव मनस्तद् वाक्, यत्र वै वाक् तन्मनः, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् । अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री, यत्र ह्येवाग्निस्तत् पृथिवी, यत्र वै पृथिवी तदग्निः इत्येते द्वे योनी एक मिथुनम् ।

अर्थात् मन सविता है और वाणी सावित्री है । जहां मन रहता है वहां वाणी रहती है । जहां वाणी रहती है, वहां मन रहता है । दोनों की योनी का एक जोड़ा है ।

अग्नि सविता है और पृथिवी सावित्री है । जहां अग्नि है वहां पृथिवी है । जहां पृथिवी है, वहां अग्नि है । इन दोनों की योनी का एक जोड़ा है ।

ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत । तत् तपस्व, यदि तद् व्रते ध्रियेत । तत्सत्ये प्रत्यतिष्ठत् । स सविता सावित्र्या ब्रह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्यदधात् ।

“तत् सवितुर्वरेण्यम्” इति सावित्र्याः प्रथमः पादः ।

अर्थात् ब्रह्म ने स्वयं सावित्री को अपनी शोभा, प्रतिष्ठा और आयतन के रूप में देखा । इस रहस्य को जानने के लिए यदि कर सकते हो, तो तप करने का व्रत लो । यह ब्रह्म सत्य में प्रतिष्ठित है । जो सत्य को जानना चाहते हैं, वे तप का व्रत लेते हैं । सविता (ब्रह्म) ने सावित्री के सहाय से ब्रह्मण को उत्पन्न किया । इस प्रकार सविता ने सावित्री को सब ओर से धारण कर लिया । सावित्री ने सविता को पति रूप में वर लिया । ब्रह्मण का सविता पिता और सावित्री माता है ।

इस प्रकार सावित्री का प्रथम चरण ‘तत् सवितुर्वरेण्यम्’ अर्थात् सविता के वरणरूप में है, जो वह सविता को अपने पतिरूप में वरण करती हैं ।

जिस प्रकार उपनिषद्कार ने ‘सविता और सावित्री’ को दो रूपों में होते हुए भी एक माना है । उसी प्रकार हम भी परब्रह्म को ‘एकं एवं अद्वितीयं’ मानते हुए भी युगल स्वरूप (श्री राज, श्यामा जी) के रूप में दर्शाते हैं ।

स्वलीलाद्वैत परब्रह्म का यह स्वरूप अनादिकाल से है और कभी किसी से किसी का प्रकटन नहीं हुआ । सच्चिदानंद स्वरूप परब्रह्म अनंत प्रेम का सागर है जिसके प्रेम का चिह्न स्वरूप ‘श्री राज’ है तो आनंद का स्वरूप ‘श्यामा जी’ । अर्थात् परमसत्य (ऋत्) के स्वरूप में एकमात्र परब्रह्म श्रीराज जी हैं तो सत्य (लीला रूप में) के स्वरूप में वह ‘राजश्यामा जी’ हैं ।

पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः । भक्षीमहि प्रजामिषम् ।

ऋग्वेद ७/९६/६

अर्थात् हम प्रजागण सबके लिए दर्शनीय उस परब्रह्म के आनंद का भोग करें ।

स्पष्ट है कि इस मंत्र में परब्रह्म को स्त्रीवाचक शब्द 'सरस्वती' से संबोधित किया गया है। जिस प्रकार इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, आदित्य आदि पुरुष वाचक शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होते हैं। उसी प्रकार सरस्वती, अदिति, पृथिवी, शक्ति, देवी, लक्ष्मी, श्री आदि स्त्री वाचक शब्द भी ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार स्त्रीलिंग, पुल्लिंग दोनों के स्वरूप में ब्रह्म की धारणा की गई है। ऐसी स्थिति में परब्रह्म को युगल स्वरूप के रूप में मानना वेद विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म को भी युवा स्वरूप वाला कहा गया है—

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ।

सामवेद ऐन्द्र का. प्र. २/द. ४/खं. २/मं. ९ (१३३)

पदार्थ—(ये) जो उपासक (अग्निम्) ब्रह्माग्नि को अपने अन्दर (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं। और (युवा) सदा युवा स्वरूप वाला (इन्द्रः) ब्रह्म (येषाम्) जिन उपासकों का (सखा) सखा है, वे (आनुषक्) निरन्तर (बर्हिः)¹ अपने ज्ञान का (आस्तृणन्ति) विस्तार करते हैं, (घ) यह निश्चित है।

भावार्थ—ब्रह्माग्नि को प्रदीप्त करने का आशय है कि ब्रह्म की उपासना द्वारा अपने मनोविकारों को दूर करना। इस मन्त्र में भी उस अविनाशी ब्रह्म को सदा युवा रहने वाला कहा गया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अक्षर ब्रह्म तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप एक ही है।

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत ।
स नः पर्षदति द्विषः ।

अथर्ववेद का. ६/सू. ३४/मं. ५

पदार्थ—(यः) जो (शुक्रः) शुक्रमयी स्वरूप वाला (अस्य) इस समस्त (रजसः पारे) रजः अर्थात् लोक समूह के पार (अग्निः) ज्ञान रूप से (अजायत) विद्यमान है, (सः नः) वह हमें (द्विषः) मानसिक विकार रूपी शत्रुओं के (अति पर्षत्) पार कर दें, मुक्त करें।

¹ 'बर्हिः' परिवर्हणात्-इति-अर्थप्रदर्शनं सधातुनिर्देशम् । "बर्ह प्राधान्ये" (चुरादि.) अथवा 'वृह वृद्धौ' (भ्वादि.) यद्वा "वृह उद्यमने" (तुदादि) ततः 'इसिः' प्रत्ययः (उणादि. २/११०) तत्र अन्तर्गतः परेरर्थोऽपि । परितः प्रधानं वस्तु, परितः सर्वतो वृद्धिनिमित्तं सर्वतो विस्तीर्यमाणं वस्तु वा, परितः उद्धृतं वस्तु । तत् किमपि यास्केन न सूचितम् । निरुक्त सम्मर्थः अ. ८/पा. २/खं. ९ की व्याख्या में

भावार्थ—इस सम्पूर्ण लोक समूह के पार अर्थात् समस्त प्रकृति मण्डल से परे अपने चैतन्य ब्रह्मधाम में तेजोमयी स्वरूप वाला है, प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप वह ब्रह्म विद्यमान है। इस मन्त्र में प्रयुक्त ‘शुक्रः’ पद स्पष्ट रूप से निराकार का निषेध कर रहा है।

**ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।
अजस्रं धर्ममीमहे ।**

अथर्ववेद का. ६/सू. ३६/मं. १, सामवेद उत्त. प्र. ८/४/१९/१ (१७०८)

पदार्थ—(ऋतावानम्) यथार्थ सत्य ज्ञानवान्, (ऋतस्य ज्योतिषः पतिम्) यथार्थ ज्योति के स्वामी, (अजस्रं) निरन्तर विद्यमान, (धर्मम्) प्रकाश स्वरूप, (वैश्वानरं) ब्रह्म की (ईमहे) हम स्तुति करते हैं।

भावार्थ—प्रकृति मण्डल में स्थित सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों आदि की ज्योतियां जड़ एवं विनाशी हैं। इसके विपरीत ब्रह्म की ज्योति सर्वदा अखण्ड और चेतन है। कोई भी ज्योतिष्मान् पदार्थ निराकार नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न—अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम् । बृह. ३/८/८

अर्थात् वह ब्रह्म न स्थूल है, न अणु हैं, न ह्रस्व है और न दीर्घ है। उपनिषद् के इस कथन से यह सिद्ध है कि ब्रह्म निराकार है।

उत्तर—पंचभूतात्मक स्थूल स्वरूप वाले को साकार कहते हैं। आकाश आदि सूक्ष्म स्वरूप वालों को निराकार कहते हैं। वस्तुतः प्रकृति के इन दोनों स्वरूपों (स्थूल तथा अणु) से परे त्रिगुणातीत स्वरूप वाला ब्रह्म है। उसके नूरमयी स्वरूप को न तो स्थूल ही कहा जा सकता है और न अणु ही।

**ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सेवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥**

अथर्ववेद का. ७/सू. १४/मं. २

पदार्थ—(यस्य सेवीमनि)^१ जिस ब्रह्म के ऐश्वर्य में (अमितिः^२ भाः) उसकी अपरिमित कान्ति (ऊर्ध्वा) सब पर अधिष्ठात्री होकर (अदिद्युतत्) प्रकाशमान है, वह (हिरण्य-पाणिः) प्रकाशमान पिण्डों, सूर्य आदि लोकों को अपने हाथ में अर्थात्

^१ ‘सेवीमनि’ इत्यनवगतम् । ‘प्रसवे’ इत्यवगमः, धातोरनेकार्थत्वाद् । “पु प्रसवैश्वर्ययोः” (भ्वादि.) ततः “हृभृधृसृस्त्वृभ्य इमतिच्” (उणा. ४/१४८) धातोर्बाहुलकात् । ‘पु’ धातुः ‘प्रसवैश्वर्ययोः’ इत्यनेन प्रसवः—प्रसूतिः प्रादुर्भावः, तथा ‘प्रसवः’ ऐश्वर्यम्-ईश्वरता-शासनम् । नि. सम्मर्श अ. ६/पा. २/खं. ६ की व्याख्या में।

^२ “मतयो मेधाविनाम्” (निघ. ३/१५) ‘मतिः मन्यते कान्ति-कर्मणः’ “मन्यते कान्तिकर्मा” (निघ. २/६) अमतिरमामयी मतिरात्ममयी । नि. अ. ६/पा. ३/खं. १३ ‘अमतिः’ इत्यनवगतम् । ‘अमामयी मतिः’ इत्यवगमः । ‘आत्ममयी मतिः’ इत्यभिधेयकथनम् । ‘आत्ममयी मतिः’ इत्यस्य स्थाने — ‘आत्म-मतिः’ पुनः ‘आत्ममतिः’ इत्यस्य स्थाने अमामतिः पुनः ‘अमतिः’ इत्येव बहुविकल्पितमनवगतत्वम् ।

सत्ता रखने वाला, (सुकृतुः)¹ सबसे उत्तम प्रज्ञावान् है । (कृपात्) उसने अपने सामर्थ्य से (स्वः) आनन्दमय धाम को (अमिमीत) रचा है ।

भावार्थ—प्रकृति के इस नश्वर ब्रह्माण्ड से परे योगमाया के ब्रह्माण्ड में उस अविनाशी ब्रह्म के स्वरूप का ऐश्वर्य सर्वत्र फैला हुआ है । उसके नूरमयी स्वरूप की अपरिमित प्रभा सर्वत्र शोभायमान है । जो ब्रह्म अपरिमित कान्ति से युक्त हो, उसे निराकार कदापि नहीं माना जा सकता है । जिस का कोई स्वरूप ही नहीं तो उससे आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

अथर्ववेद का ७/सू. ५३/मं. ७

पदार्थ—(वयम्) हम (तमसः) प्रकृति के अन्धकार से (परि उत्) पृथक होकर (उत्-तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) सुखमय धाम को (उद् रोहन्तः) प्राप्त होते हुए (देवत्रा) प्रकाशमान लोकों में (सूर्यम्) सूर्य के समान (उत्-तमम् ज्योतिः) सर्वोत्कृष्ट ज्योति वाले (देवम्) अपने स्वरूप में स्वयं ही क्रीड़ा करने वाले उस ब्रह्म को (अगम) प्राप्त करें ।

भावार्थ—‘हृद’ की मान्यता वाले प्रकृति के इस ब्रह्माण्ड से परे बेहद अर्थात् योगमाया का ब्रह्माण्ड है, वहां सर्वत्र ब्रह्म का शुक्रमयी प्रकाश है । उसमें अक्षर ब्रह्म की अखण्ड लीला होती है अर्थात् उस ब्रह्म का स्वरूप ही अनेक रूपों में क्रीड़ा कर रहा है । इस मन्त्र में उसी ब्रह्म का साक्षात्कार करने की कामना की गई है । योगमाया के ब्रह्माण्ड में जिस ब्रह्म का स्वरूप सर्वत्र क्रीड़ा कर रहा हो, तो क्या वह स्वयं स्वरूप से रहित होगा ?

प्रश्न—‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।’ (कठोपनिषद् वल्ली ३ श्लोक १५) के अनुसार ब्रह्म निराकार सिद्ध होता है ।

उत्तर—महत्तत्त्व से जो अहंकार उत्पन्न होता है, उससे पांच सूक्ष्म भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध उत्पन्न होते हैं । ये पांचों सूक्ष्म भूत पांचों तत्त्वों के गुण हैं । वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप पंचभौतिक स्वरूप से पूर्णतया विपरीत है । इसलिए उसमें यदि पांचों तत्त्वों के गुण न हों, तो उसके स्वरूप पर कोई निषेधात्मक प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

एधोऽस्येधिषीय समिदासि समेधिषीय ।
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥

अथर्ववेद का. ७/सू. ८९/मं. ४

¹ क्रतु-कर्म प्रज्ञां वा । निरु. मं. अ. २/पां. ६खं. २७ की व्याख्या में ।

पदार्थ—हे ब्रह्म ! आप (एधः असि) प्रकाश स्वरूप हो, मैं भी (एधिषीय) प्रकाशित होऊँ । आप (समित् असि) दीप्तिमान हैं, मैं भी (अम् एधिषीय) दीप्तिमान होऊँ । (तेजः असि) आप तेज स्वरूप हो, (मयि) मुझमें भी (तेजः) तेज को (धेहि) धारण कराइए ।

भावार्थ—तेज जोत प्रकाश जो नूर, सब ठौरों सीतल सत सूर ।

परिक्रमा प्र. ३ चौ. १६

एक अद्वितीय ब्रह्म का नूरमयी स्वरूप ही कहीं लीला के रूप में प्रकाश कहा जाता है, तो कहीं तेज । कहीं वह ब्रह्म की कान्तिमयी शोभा को धारण कर लेता है । इस मन्त्र में यद्यपि अक्षर ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है, अक्षरातीत का नहीं, किन्तु भावार्थ में श्रीमुखवाणी की चौपाई लिखने का उद्देश्य तेज, ज्योति, प्रकाश और नूर में सामंजस्य स्थापित करना है ।

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे ।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ॥

अथर्ववेद का. २०/सू. १५/मं. ३

पदार्थ—(उषः न शुभ्रे अध्वरे) उषाकाल के समान तेजोमय ब्रह्म के आश्रय में वर्तमान हे मानव ! तुम (पनीयसे भीमाय अस्मै) इस स्तुति योग्य, पराक्रमी ब्रह्म को (नमसा आ भरा) सत्कार से पूर्ण करे । (यस्य धाम नाम इन्द्रियं श्रवसे) जिसका धाम, नाम एवं ऐश्वर्य प्रसिद्ध है और (यस्य ज्योतिः हरित च अयसे अकारि) जिसकी ज्योति दूर-दूर दिशाओं तक फैली होती है ।

भावार्थ—सूर्योदय से पूर्व आकाश में पूर्व दिशा की ओर जो हल्की रक्तता दिखाई पड़ती है, उसे उषाकाल कहते हैं । उस समय का जो सुन्दर स्वरूप होता है उसी से ब्रह्म के स्वरूप की तुलना दृष्टान्त के रूप में इस मन्त्र में की गई है । योगमाया के ब्रह्माण्ड में जिस ब्रह्म की अखण्ड शुक्रमयी ज्योति सर्वत्र फैली होती है, उसे निराकार नहीं कहा जा सकता है ।

इन्द्रो वज्री हिरण्ययः । अथर्ववेद का. २०/सू. ७०/मं. ८

पदार्थ—(इन्द्रः) वह ब्रह्म (हिरण्ययः) सुवर्ण के समान कान्तिमान् और मनोहर होकर भी (वज्री) कठोर वज्र रूप शासन को धारण करता है ।

भावार्थ—क्या निराकार भी कान्तिमान और मनोहर हो सकता है ? यदि नहीं ! तो ब्रह्म भी निराकार नहीं है ।

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥

अथर्ववेद का. २०/सू. ८४/मं. १

पदार्थ—(चित्रभानो) आश्चर्यजनक दीप्तियों वाले (इन्द्र) हे ब्रह्म ! (इमे सुता) ज्ञान रस से अभिषिक्त ये शुद्ध हृदय वाले (त्वायवः) तेरी चाहना करने वाले हैं । तू (आ याहि) साक्षात् दर्शन दे । ये सब (अण्वीभिः) सूक्ष्म उपासना-क्रियाओं द्वारा (तना) अत्यधिक (पूतासः) पवित्र हैं ।

भावार्थ—सूक्ष्म उपासना-क्रियाओं द्वारा जब तक अन्तःकरण निर्मल नहीं हो जाता, तब तक आश्चर्यजनक दीप्तियों वाले उस ब्रह्म का भी साक्षात्कार नहीं हो सकता । अद्भुत दीप्तियों से युक्त स्वरूप वाला ब्रह्म निराकार नहीं हो सकता ।

किन माया पार न पाइया, किन कह्यो ना मूल वतन ।
सरूप न कह्यो काहूँ ब्रह्म को, कहे उत चले ना मन वचन ॥

किरंतन प्र. ७३ चौ. ५

नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ।

अथर्ववेद का. ११/सू. ४/मं. २

पदार्थ—(प्राण) हे ब्रह्म ! (ते विद्युते नमः) विद्युत के समान प्रखर कान्ति से चमकने वाले तुझे प्रणाम है । (प्राण वर्षते ते नमः) आनन्द धाराओं की वर्षा कराने वाले हे ब्रह्म ! तुम्हे प्रणाम है ।

भावार्थ—अपने उपासकों को ब्रह्मानन्द प्रदान करने वाले उस ब्रह्म को विद्युत की कान्ति के समान स्वरूप वाला माना गया है । निराकार पदार्थ को कभी भी विद्युत के तुल्य कान्ति वाला नहीं माना जा सकता है ।

प्रश्न—‘न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः’ । यजुर्वेद ३२/३

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि उस ब्रह्म की कोई मूर्ति या आकृति नहीं है ?

उत्तर—प्रतिमा^१ शब्द का अर्थ सादृश्य (प्रतिकृतिः) अथवा परिमाण भी होता है । इसी मन्त्र में आगे ‘हिरण्यगर्भऽइत्येषः’ प्रयुक्त हुआ है । जिसका अर्थ है-‘तेजो वै हिरण्यम्^२ ज्योतिः वै हिरण्यम् इति । ऐतेरयं शतपथ ब्रह्मणे । अर्थात् जिसके गर्भ में ज्योतिः । ज्योतिषमान् पदार्थ कदापि निराकार नहीं होता है । ‘उस ब्रह्म की प्रतिमा नहीं हैं’, इस कथन का तात्पर्य यह भी है कि उस चेतन ब्रह्म के नूरमयी स्वरूप के तुल्य इस जड़ प्रकृति में कोई भी पदार्थ नहीं है । अल्पज्ञ जीव और जड़ प्रकृति से उस ब्रह्म के स्वरूप की तुलना नहीं हो सकती है । वह अतुलनीय है । वस्तुतः वेद के अनेक मन्त्रों में उसे युवा स्वरूप, कान्तिमान्

^१ प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः प्रतिमानं तोलसाधनं परिमाणम् । महर्षि दयानन्द कृत ऋ. वेदादि भाष्यभूमिका में ग्रन्थ प्रामाण्य विषय ।

^२ ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योति ऐषोऽमृतं हिरण्यम् । (शत. कां. ६/अ. ७ ब्रा. ९ कं. २)

मनोहर, दर्शनीय कहा गया है । परन्तु उसका स्वरूप पंचभौतिक स्वरूप से पूर्णतया भिन्न शुक्रमयी (नूरमयी) है ।

सुनोता सोमपाब्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
युवा जेतेशानः सः पुरुष्टुतः ॥

अथर्ववेद का. ६/सू. २/मं. ३

पदार्थ—(सोमपाब्ने) ब्रह्मानन्द का पान करने वाले (वज्रिणे) वज्र अर्थात् भवबन्धनों को काटने वाले ज्ञान-खड्ग के धारक (इन्द्राय) हंस के लिए (सोमं सुनोत) उस ब्रह्म की उपासना करो । (सः) वही (युवा) सदा युवा स्वरूप वाला (जेता) विजयी, (पुरुष्टुतः) नाना गुणों से स्तुति करने योग्य (ईशानः) सबका स्वामी है ।

भावार्थ—अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित एकदेशी चैतन्य को हंस या वैदिक साहित्य में 'वेन' कहा जाता है । ब्रह्मानन्द की कामना करने वाले हंस उस अविनाशी ब्रह्म की उपासना करते हैं जो सदा युवा स्वरूप वाला है ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

यजुर्वेद अ ३१/मं. १८

पदार्थ—(अहम्) मैं (तमसः) प्रकृति के अन्धकार से (परस्तात्) पृथक् वर्तमान (एतं) इस (महान्तम्) सबसे महान (आदित्यवर्णम्)^१ आदित्यवर्ण वाले (पुरुषं) पुरुष को परमात्मा (वेद) जानता हूँ । (तम् एव) उस को ही (विदित्वा) जानकर (मृत्युम्) मृत्यु से (अति, एति) परे हुआ जाता है । (अन्यः) इससे भिन्न (न पन्था विद्यते) दूसरा मार्ग विद्यमान नहीं है (अयनाय) अभीष्ट मोक्ष के लिए ।

भावार्थ—सबसे महान उस अविनाशी ब्रह्म को आदित्यवर्ण वाला कहा जाता है । आदित्य का अर्थ होता है, अखण्ड । ब्रह्म का स्वरूप सर्वदा अखण्ड होता है । उसमें कभी भी न ह्रास होता है और न विकास । जिस निराकार का कोई स्वरूप ही नहीं माना जाता उसे आदित्यवर्ण कैसे कहा जा सकता है ?

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च ।
शुक्रश्चऽऋतपाश्चात्यं हाः ॥

यजुर्वेद अ. १७/मं. ८०

^१ पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्पृष्टा रसान् । नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः । नि. अ. २/पा. ४ खं. १४ । यस्य दितिः न अस्ति सः एवः अदितिः सः एव आदित्यः ।

पदार्थ—वह ब्रह्म (शुक्रज्योतिः) शुक्रमयी ज्योति वाला (च) और (चित्र ज्योतिः) अद्भुत ज्योति वाला, (च) और (सत्यज्योतिः) विनाश रहित, सत्य ज्योति वाला (च) और स्वयं (ज्योतिष्मान्) उस शुक्रमयी ज्योति से परिपूर्ण, (च) और (शुक्रः) शुक्रमयी स्वरूप वाला, (च) और (अत्यंहाः) निन्दनीय कर्मों से दूर करने वाला (च) और (ऋतपाः) सत्य की रक्षा करने वाला है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्म को प्राकृतिक ज्योतियों से पूर्णतया भिन्न शुक्रमयी, अद्भुत तथा सत्य ज्योति वाला कहा गया है । प्रकृति में स्थित सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों की ज्योतियां महाप्रलय में नष्ट हो जाएंगी तथा वर्तमान समय में भी उनमें क्षरण होता रहता है । इसके विपरीत ब्रह्म की ज्योति सर्वदा एकरस रहती है । उस ब्रह्म का स्वरूप ही नूरमय है इसलिए उसे 'शुक्रमय' कहा गया है । क्या निराकार में इस मन्त्र में कहे गए लक्षण प्रयुक्त हो सकते हैं ? यदि नहीं तो ब्रह्म को निराकार कदापि नहीं माना जा सकता है ।

प्रश्न—आदि नारायण को भी 'ज्योतिः स्वरूप' कहा जाता है । इस मन्त्र में भी 'ज्योतिष्मान्' पद प्रयुक्त हुआ है । इससे अनुमानतः आदि नारायण के स्वरूप का इस मन्त्र में वर्णन किया गया है ।

उत्तर—आदि नारायण जीव है, ब्रह्म नहीं । वेद में सर्वत्र अक्षर या अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की ही स्तुति की गयी है, आदि नारायण की नहीं । इस मन्त्र में ब्रह्म को शुक्रमयी ज्योति वाला कहा गया है, जबकि नारायण शुक्रमयी ज्योति वाले नहीं है । (शुक्रः) नूर का प्रयोग ही इस मन्त्र में ब्रह्म का स्वरूप करना सिद्ध करता है, आदि नारायण का नहीं, क्योंकि इस प्रकृति मण्डल में कहीं भी शुक्रमयी स्वरूप नहीं है ।

एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य

यजुर्वेद अ. १८/मं. ६०

पदार्थ—(सधस्थाः) एक साथ रहने वाले (देवाः)^१ विद्वानो ! तुम (परमे व्योमन्^२) परम पद में विराजमान (एतम्) इस ब्रह्म को (जानाथ) जानो और (अस्य) इसके (रूपम्) चेतन सत्य स्वरूप को (विद) जानो ।

भावार्थ—इस मन्त्र में विद्वानों को परमधाम में स्थित उस ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिए कहा गया है । यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि हे विद्वानो ! तुम उस ब्रह्म का स्वरूप जानो । अब परमधाम ही अमृतमय स्वरूप वाला है, तो उसमें विराजमान ब्रह्म क्या निराकार होगा ? कदापि नहीं । इस मन्त्र में परम व्योम (परमधाम) को ही कहा गया है

^१ विद्वान्सो हि देवाः ॥ (शत. ३/७/६)

^२ सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् । अथर्ववेद १७/१/८

क्योंकि अथर्ववेद (का. १७/ सू. १/ मं. १९) में परम व्योम को अमृतमय स्वरूप कहा गया है।

तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥

यजुर्वेद अ. १९/मं. ६०

पदार्थ—(तेभ्यः) उन ज्ञानी पुरुषों के लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान ब्रह्म (एताम्) इस (असुनीतिम्) प्राणों को प्राप्त होने वाले (तन्वम्) शरीर को (यथावशम्) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करें।

भावार्थ—जो ब्रह्म अपने शुक्रमयी प्रकाश से स्वतः ही प्रकाशमान हो, उसे निराकार कदापि नहीं माना जा सकता, क्योंकि निराकार का कोई स्वरूप ही नहीं होता। यदि यह माना जाये कि परमधाम और बेहद का इतना विस्तार है कि मानवीय बुद्धि उसे अनन्त मानती है।

उसके उस प्रकाशमान धाम का आकार न मापे जाने के कारण उसको निराकार कहा जाता है। तो इसका समाधान यह है कि ब्रह्म का स्वरूप और उसके धाम का स्वरूप एक ही है। ब्रह्म के शुक्रमयी प्रकाश से ही उसका धाम भी प्रकाशित है, तो उस शुक्रमयी प्रकाश का स्रोत अवश्य ही कोई न कोई आकार रखता है। कठोपनिषद् (५/१५) में इसी की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। अर्थात् उसके ही प्रकाश से यह सारा धाम प्रकाशित होकर सुशोभित होता है। उस अखण्ड प्रकाश का स्रोत वेद में वस्तुतः युवा स्वरूप वाला कहा गया है।

तमुष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः । सत्यस्य युवानम् अद्रोघवाचं सुशेवम् ॥

अथर्ववेद का. ६/सू. १/मं. २

पदार्थ—(तम् उ स्तुहि) हे विद्वान् ! तुम उसी ब्रह्म की स्तुति कर (यः) जो (अन्तः सिन्धौ) समुद्र रूपी सृष्टि के महाप्रवाह में (सत्यस्य) सत्य का (सूनुः) प्रेरक, (युवानम्) सदा युवा स्वरूप वाला, (अद्रोघ-वाचम्) सदा द्रोह रहित एवं स्नेह की वाणी से स्मरण करने योग्य तथा प्रेममयी वाणी का उपदेष्टा, (सुशेवम्)^१ अत्यन्त सुख देने वाला है।

भावार्थ—वह अविनाशी ब्रह्म सदा सुखों का वर्षक, सत्य का प्रेरक तथा मधुर वाणी का उपदेश देने वाला है। उसका स्वरूप शुक्रमयी 'सदा युवा' है।

प्रश्न—'युवानम्' पद का अर्थ 'युवा स्वरूप वाला' नहीं अपितु महाबली, या संयोग-वियोग करने वाला या उत्पत्ति और प्रलय करने वाला है।

^१ सुशेवः - सु सुखतमः । निरुक्त अ. ३/पा. १/खं. २ । सुशेवः सुसुखः सु शोभनोऽपि । नि. सम्मर्शः (अ. ३/पा. १/खं २) की व्याख्या में । शेवः सुखनाम (निघ. ३/६)

उत्तर—‘युवानम्’ पद की व्याख्या में महर्षि यास्क ने निरुक्त ग्रन्थ के अ. १३(१४) पाद २(१) खं ३२(१९) में (ऋ. १०/५५/५) का उदाहरण देते हुए अधिदैवत पक्ष में ‘युवानं चन्द्रमसं’ तथा अध्यात्म में ‘युवानं महान्तं’ कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी ब्रह्ममुनि ‘निरुक्त सम्मर्शः’ में लिखते हैं—
‘युवानं पूर्णकामं पूर्णकलं सन्तमपि चन्द्रमसं’ पुनः (महाभारत शान्ति. मोक्ष. अ. २७७/१४) का उदाहरण देते हुए लिखते हैं।

युवानमपि मृत्युमरियति “को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति” अर्थात् युवा पुरुष के शरीर को भी मृत्यु मार डालती है ‘निश्चय ही कौन जानता है कि किसकी आज मृत्यु का समय होगा।’ अथर्ववेद (का. ११ सू. ५ मं. १८) में ‘युवानम्’ पद का अर्थ ‘युवा स्वरूप’ है।

इन्द्रस्य रूपम् शतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः।

यजुर्वेद अ. १९/मं. ९३

पदार्थ—उपासना के अंगों से (इन्द्रस्य रूपं) ऐश्वर्यवान् ब्रह्म के स्वरूप-विषय में समाधान करें तथा जिस प्रकार योग को (दधानाः) धारण करते हुए जन (शतमानम्) सौ वर्ष पर्यन्त (आयुः) आयु धारण करते हैं, वैसे ही (चन्द्रेण) आनन्द से (अमृतम्) अविनाशी (ज्योतिः) ज्योति वाले ब्रह्म को धारण करो।

भावार्थ—ब्रह्म के स्वरूप विषय में समाधान करने का आशय यह है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण करना। इस मन्त्र में ब्रह्म को अविनाशी ज्योति वाला कहा गया है। ब्रह्म को निराकार मानने वाले विद्वान उसका कोई स्वरूप होना स्वीकार नहीं करते हैं। अविनाशी ज्योति से युक्त ब्रह्म कभी भी स्वरूप से रहित, निराकार नहीं हो सकता। वस्तुतः ब्रह्म की खोज करने वालों को जब ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाया, तो उन्होंने विवश होकर उसे ‘निराकार’ कह दिया।

पर जिस पदार्थ का स्वरूप हमारी ज्ञानेन्द्रियों, मन बुद्धि से ग्राह्य न हो सके, उसको निराकार कहना अनुचित है। उदाहरणार्थ—वायु के परमाणुओं के दूर-दूर होने के कारण हमें वायु का स्वरूप आंखों से दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु यदि उसके परमाणुओं को द्रवीकरण विधि द्वारा बहुत निकट कर दिया जाये, तो वायु जो अनेक गैसों का मिश्रण है, द्रव रूप में देखी जा सकती है। कार्बन डाई ऑक्साइड गैस को ठोस रूप में तथा आक्सीजन को द्रव रूप में आजकल प्रयुक्त किया जाता है। ब्रह्म के स्वरूप की जिन्होंने अनुभूति नहीं किया, उन्होंने प्रकृति के स्वरूपों के आधार पर ब्रह्म के साकार और निराकार की कल्पना किया, जबकि ब्रह्म इन दोनों ही स्वरूपों से परे हैं—

हारे ढूँढ ऊपर तले, खुदा न पाया किन।

तब हक का नाम निराकार, कह्या निरंजन सुन ॥

और नाम धराया हक का, बेचून बेचगून ।
कहे हक को सूरत नहीं, बेसबी बेनिमून ॥

खुलासा प्र. १२ चौ. २-३

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः ॥

यजुर्वेद अ. ३२/मं. १

पदार्थ—(तत्) वह अविनाशी ब्रह्म (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि, (तत्) वह (आदित्यः) अखण्ड स्वरूप वाला होने से आदित्य, (तत्) वह (वायुः)^१ अनन्त शक्ति से युक्त होने के कारण वायु, (तत्) वह (चन्द्रमा) आह्लाद कारक और आनन्द स्वरूप होने से चन्द्रमा, (तत्) वह (एव) ही (शुक्रम्) शुद्ध नूरमयी स्वरूप वाला होने से शुक्र, (तत्) वह (ब्रह्म) महान होने से ब्रह्म, (ताः आपः) अपनी सत्ता से व्यापक होने के कारण वह आप (उ) और (सः प्रजापतिः) सम्पूर्ण प्रजा का स्वामी होने के कारण प्रजापति कहा जाता है ।

भावार्थ—यद्यपि योगमाया के ब्रह्माण्ड में अक्षर ब्रह्म की अखण्ड लीला होती है और वहां परमधाम की तरह आनन्द नहीं है, फिर भी प्रकृति से परे अविनाशी होने के कारण उसे अखण्ड सुख का धाम माना गया है ।

पुरुष प्रकृति उलंघ के गए, जाये रहे अखण्ड सुख मांहे ॥

प्रकाश हिन्दुस्तानी प्र. ३४ चौ. ११

इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म भी अक्षरातीत की सत्ता का स्वरूप होने के कारण पूर्णब्रह्म के आनन्द अंग की तरह आनन्द का स्वरूप नहीं है, किन्तु प्रकृति से परे त्रिगुणातीत होने के कारण आनन्द स्वरूप मान लिया गया है । इसलिए इस मन्त्र में उसे 'चन्द्रमा'^२ अर्थात् आह्लाद कारक कहा गया है । स्वयं प्रकाशित होने के कारण उसे 'अग्नि', अखण्ड स्वरूप वाला होने के कारण आदित्य तथा नूरमयी स्वरूप होने के कारण उसे 'शुक्र' आदि नामों से सम्बोधित किया गया है । निराकार में स्वयं प्रकाशमान होना, शुक्रमयी होना, आनन्दकारक होना आदि गुण नहीं हो सकते । इसलिए ब्रह्म भी निराकार नहीं है ।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।

यजुर्वेद अ. ३२/मं. २

^१ वायु :— 'वागति गन्धनयोः' इस धातु से वायु शब्द सिद्ध होता है । 'यो वाति चराचरं जगद् धारयति, बलिनां बलिष्ठः स वायुः' ।

^२ 'चदि आह्लादे' इस धातु से चन्द्र सिद्ध होता है । यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः ।

पदार्थ—(विद्युतः) विशेषकर प्रकाशमान (पुरुषात्) ब्रह्म से (सर्वे) सभी (निमेषाः) निमेष, कला, काष्ठा आदि काल के अवयव (अधि जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—इस मन्त्र में विद्युत के दृष्टान्त से ब्रह्म के स्वरूप का सांकेतिक वर्णन किया गया है। निराकार को कभी भी विद्युत की तरह प्रकाश वाला नहीं माना जा सकता है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

यजुर्वेद अ. ३२/मं. ८

पदार्थ—(वेनः) शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित हंस (तत् सत्) उस नित्य चेतन ब्रह्म को (पश्यत्) देखता है (गुहा निहितम्) गुहा में स्थित, (यत्र) जहां (विश्वं) सब कुछ (भवति एक नीडम्) एकरूप हो रहा है।

भावार्थ—परमगुहा योग की एक विशेष भूमि है जिसमें प्रविष्ट होने पर ब्रह्म का स्वरूप दिखाई पड़ता है। परमगुहा की स्पष्ट व्याख्या नवम समुल्लास में देखिए। यदि ब्रह्म का स्वरूप नहीं होता, तो उसे देखने का प्रश्न ही नहीं।

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥^१

सामवेद ऐन्द्र काण्ड प्र. २/खं. ६/द. ३/मं. ५ (१६९), यजुर्वेद अ. २७/मं. ३९

पदार्थ—(कया) जो किस उपासना रीति (शचिष्ठया) और सत्य धर्म के आचरण से (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान (चित्रः) अद्भुतस्वरूप (सदावृधः) आनन्द बढ़ाने वाला ब्रह्म है, वह (नः) हमारे अन्दर (आभुवत्) प्रकाशित हो तथा (उती) किस प्रकार वह ब्रह्म हमारी नित्य रक्षा करें, वैसे ही हमें सत्प्रेम से उसकी उपासना करनी चाहिए।

भावार्थ—यदि ब्रह्म का स्वरूप नहीं होता तो उसे अद्भुत स्वरूप वाला नहीं कहा जा सकता। 'अद्भुत स्वरूप वाला' कहा जाने से ही यह संकेत मिलता है कि वह साकार और निराकार से भिन्न स्वरूप वाला है।

दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत्। वि भानुं विश्वथातनत् ॥

ऋ. ८/५/१, सामवेद ऐन्द्र काण्ड अ. २/ख. ११/प्रपा. ३/मं. ६ (२१९)

पदार्थ—(दुरात्) दूर (सतः) विद्यमान हे ब्रह्म ! (यत्) जो (इह इव) संसार की भांति (अरुणप्सुः)^२ उषा के सदृश प्रकाशमान संसार की भांति जब आपका

^१ ऋ. ४/३१/१, यजु. २७/३९, ३६/४, अथर्व. २०/१२४/१

^२ अरुण = आरोचनः। निरु. ५/४/२० अरुणप्सुः = अरुण + प्सु (रूप, निघ. ३/७) अरुण = The Ruddy colour of the dawn or morning twilight (आपटे)

प्रकाश (अशिशिवत्) चमकता है, तब (विभानुं) नाना दीप्ति को (विश्वथा आतनत्) सब ओर फैलाता है।

भावार्थ—प्रातः उषाकाल की हल्की लालिमा का जो मनोहर सौन्दर्य होता है, उसी के स्वरूप के दृष्टान्त से ब्रह्म का स्वरूप का वर्णन किया गया है अर्थात् वैसा ही स्वरूप योगमाया के ब्रह्माण्ड में कण-कण में ओत-प्रोत है। यद्यपि योगमाया के ब्रह्माण्ड के तेज के सामने करोड़ों सूर्यों का प्रकाश धूमिल पड़ जाएगा, किन्तु उषाकाल के सौन्दर्य से मात्र उपमा दी गई है। क्या निराकार भी वैसे स्वरूप वाला हो सकता है?

वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे। पवमान स्वर्दृशम्॥

ऋ. ९/६५/४, साम. पावमान का. प्र. ५/ख. २/द. ५/मं. ४ (४८०)

पदार्थ—(भानुना द्युमन्तम्) कान्ति से दीप्तिमान, (स्वर्दृशम्) मोक्षरूप सुख के दिखाने वाले, (पवमान) पवित्र करने वाले शान्ति स्वरूप हे ब्रह्म ! (वृषा हि असि) आप सुखों की वर्षा कराने वाले हो। (त्वा हवामहे) हम तुम्हारी स्तुति करते हैं।

भावार्थ—जिस निराकार का कोई स्वरूप ही नहीं माना जाता, वह कभी भी कान्ति से दीप्तिमान नहीं हो सकता है। यदि ब्रह्म भी निराकार होता तो उसे कान्ति से दीप्तिमान नहीं कहा जा सकता था।

प्रश्न—यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप है, तो उस स्वरूप को बनाने वाला कौन है ? यदि यह कहा जाये कि ब्रह्म ने स्वेच्छा से ही अपना स्वरूप धारण कर लिया, तो भी इससे सिद्ध होता है कि अपना स्वरूप धारण करने से पहले वह निराकार ही था।

उत्तर—कारण प्रकृति का स्वरूप अव्यक्त होता है। उसमें विकृति से जिस महत्त्व की उत्पत्ति होती है, उसे ही 'निराकार' कहते हैं। उससे पंचभूतात्मक जो कार्य रूप जगत निर्मित होता है, उसमें स्थित दृश्यमान पदार्थों को 'साकार' कहते हैं। वस्तुतः साकार या निराकार जड़ प्रकृति के स्वरूप हैं। त्रिगुणातीत चेतन ब्रह्म का स्वरूप इन दोनों से ही विलक्षण होता है। साकार और निराकार के इस प्राकृतिक जगत में रहने वाले जीव इससे परे स्वरूप के बारे में सोच भी नहीं पाते।

चौदे तबकों बका का, कोई बोल्या न एक हरफ।

तो ए क्यों पावें हक सूरत, किन पाई न बका तरफ॥

खिलवत प्र. ६ चौ. १७

निराकार निरंजन सुन्य की, पाई न काल की बिध।

ना सुध प्रकृति पुरुष की, ना मोह अहं की सुध ॥

उपज्या याको केहेवहीं, कहे प्रले होसी ए ।

ब्रह्म बतावें याही में, कहे ए सब माया के ॥

उरझे सब याही में, पार सब्द न काढे एक ।

कथ-कथ ग्यान जुदे पड़े, द्वैते में देख-देख ॥

किरंतन प्र. ७३ चौ. २-४

यद्यपि आर्ष-ग्रन्थों में ब्रह्म के त्रिगुणातीत स्वरूप का वर्णन तो अवश्य है, किन्तु सामान्य बुद्धि वाले जीव अध्यात्म के गुह्य रहस्यों को न समझने के कारण ब्रह्म को या तो साकार कहते हैं या निराकार । ब्रह्म को वे इस जड़ जगत के कण-कण में ओत-प्रेत भी मानते हैं ।

जिन जानों शास्त्रों में नहीं, है सास्त्रों में सब कुछ ।

पर जीव सृष्टि क्यों पावहीं, जिनकी अकल है तुच्छ ॥

किरंतन प्र. ७३ चौ. २६

साकार से निराकार में तथा निराकार से साकार में रूप परिवर्तन होता है, क्योंकि ये दोनों ही प्रकृति के कार्य कारण स्वरूप हैं । त्रिगुणातीत ब्रह्म का स्वरूप सर्वदा एकरस अखण्ड रहता है । उसमें परिवर्तन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है ।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

श्वेता. उ. ६/८

अर्थात् परब्रह्म से कोई तद्रूप कार्य और उसका करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं । न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । यह मानना बहुत बड़ी भूल है कि परब्रह्म का जो वर्तमान स्वरूप है, उससे पूर्व वह निराकार था तथा उसने अपनी इच्छा से शुक्रमयी स्वरूप धारण कर लिया है । वस्तुतः स्वरूप में परिवर्तन केवल प्रकृति के ब्रह्माण्ड में ही होता है । सत्य का स्वरूप सर्वदा एक ही होता है । अक्षर तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप त्रिकाल सत्य है । उसमें कल्पना में भी परिवर्तन नहीं हो सकता है । यदि परमधाम में विराजमान अक्षर और अक्षरातीत भी अपने को निराकार में परिवर्तित करना चाहें, तो नहीं कर सकते हैं क्योंकि शुक्रमयी तत्व नष्ट होकर सूक्ष्म निराकार के रूप में परिवर्तित ही नहीं हो सकता है । अक्षर और अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप मूलतः अनादि है । न तो उनका कोई उपादान कारण है और न निमित्त कारण, क्योंकि न तो कोई भी उनके समान है और न उनसे श्रेष्ठ ।

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शतः । सं सूर्येण दिद्युते ॥

ऋ. ९/२/६, सामवेद पावमान का. प्र. ६/४/२/१(४९७)

पदार्थ—(वृषा) सुख-शान्ति की वर्षा कराने वाला, (हरिः) दुखों को हरण करने वाला, (महान्) महाशक्ति रूप, (अचिक्रदत्) अपनी ओर बुलाता हुआ (मित्रः न) मित्र के समान उपकारी वह ब्रह्म (सूर्येण दर्शतः) सूर्य के समान दर्शनीय (सं दिद्युते) प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ—इस मन्त्र में सूर्य के तेजस्वी एवं दर्शनीय स्वरूप के दृष्टान्त से ब्रह्म के स्वरूप को वर्णित किया गया है। निराकार को कदापि सूर्य के समान दर्शनीय नहीं कह सकते हैं। यद्यपि ब्रह्म के स्वरूप के समक्ष करोड़ों सूर्यों का तेज नगण्य हैं, किन्तु इस प्राकृतिक जगत में मात्र दृष्टान्त के लिए ऐसा वर्णन किया गया है। यदि तिल में तेल तथा फूल में सुगन्धि ओत-प्रोत है, तो करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी ब्रह्म के स्वरूप का मानव शरीर द्वारा त्याज्य पदार्थों आदि में अनुभव क्यों नहीं होता? वास्तविकता यह है कि ब्रह्म का स्वरूप साकार तथा निराकार के इस प्राकृतिक जगत से सर्वथा परे निर्मल, चेतन, अविनाशी धाम में ही है।

त्वं ह्याइङ्ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः । अमृतत्वाय घोषयन् ॥

ऋ. ९/१०८/३, सामवेद पावमान का. प्र. ६/११/४/६ (५८३)

पदार्थ—(पवमान) हे पवित्र करने वाले (अङ्ग) प्रिय ब्रह्म ! (त्वं हि) निश्चय ही आप (द्युमत्तमः) सबसे अधिक कान्तिमान हैं। आप (अमृतत्वाय) मुमुक्षुजनों के अमृत स्वरूप मोक्ष के लिए (दैव्यं) अपने दिव्य स्वरूप की तथा (जनिमानि) जन्म-मरण के व्यवस्थाओं की (घोषयन्) घोषणाएं वेदों द्वारा करते हैं।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्म को सबसे अधिक कान्तिमान तथा दिव्य स्वरूप वाला कहा गया है। क्या ये लक्षण निराकार में भी घटित हो सकते हैं? यदि नहीं! तो ब्रह्म को निराकार मानना भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्त्तरिः ।

हस्तेन वज्रः प्रति धायि दर्शतो महान्देवो न सूर्यः ॥

ऋ. ८/७०/२, अथर्व. २०/९२/१७, सामवेद उतरार्चिक अ. ५/५/१५/२ (९३४)

पदार्थ—हे (पुरुहन्मन्) इन्द्रियों के वशी मेरे जीव ! (ते) उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील ब्रह्म का (अवसे) अपनी रक्षा के लिए (शुम्भ) स्मरण कर (यस्य) जिस तेरे (विधर्त्तरि) धारण करने वाले ब्रह्म में (द्विता) उपास्य-उपासक की तरह का भेद है और जिसने (हस्तेन) हाथ से (वज्रः) ज्ञानमय वज्र (प्रति धायि) धारण किया है, वह (दर्शतः) दर्शनीय (महान्) महान् (देवः)^१ ब्रह्म (सूर्यः न देवः) सूर्य के समान प्रकाशमान है।

^१ देवः = द्योतनात्

भावार्थ—जो ब्रह्म दर्शनीय तथा सूर्य के समान प्रकाश हो अर्थात् जिसका शुक्रमयी स्वरूप सम्पूर्ण योगमाया के कण-कण में विराजमान हो, उसे निराकार मानना अनुचित है क्योंकि निराकार न तो प्रकाशक हो सकता है और न दर्शनीय ही ।

विभ्राजज्योतिषा स्वाऽरगच्छो रोचनं दिवः ।

देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ।

ऋ. ८/१८/३, अथर्व. २०/६२/७ सा. उत्तरार्चिक अ. ६/७/२२/३ (१०२७)

पदार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली ब्रह्म ! आप (दिवः) द्युलोक को (रोचनं) प्रकाशित करने वाले हो । (ज्योतिषा) ज्योति से (विभ्राजन्) देदीप्यमान होकर (स्वः) आनन्दमय धाम में (आगच्छः) प्राप्त स्वरूप वाले हो । (देवाः) सब विद्वान् (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिए (येमिरे) प्रयत्न करते हैं ।

भावार्थ—द्युलोक में ब्रह्म की सत्ता के अधीनस्थ असंख्यों नक्षत्र प्रकाशमान हैं अर्थात् प्रकाशमान नक्षत्रों द्वारा द्युलोक को प्रकाशित कराने वाला ब्रह्म ही है, किन्तु उसका निजस्वरूप शुक्रमयी ज्योति से देदीप्यमान आनन्दमय धाम में ही है, न पृथ्वी में और न द्युलोक में । उसका वह देदीप्यमान स्वरूप सर्वदा युवा स्वरूप वाला है ।

क्वाऽस्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः । ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥

ऋ. ८/६४/७, सामवेद ऐन्द्र काण्ड अ. २/३/८ (१४२)

पदार्थ—(तुविग्रीवः)^१ समस्त पापों को निगलने वाला, (युवा) सदा युवा स्वरूप वाला, (अनानतः) कभी किसी के आगे न झुकने वाला, (वृषभः) सुख शान्ति की वर्षा कराने वाला ब्रह्म (क्व) कहां प्राप्त किया जा सकता है ? तथा (कः ब्रह्मा) कौन चतुर्वेदज्ञ विद्वान् (तं) उस ब्रह्म की (सपर्यति) भक्ति कर सकता है ?

भावार्थ—ब्रह्म की उपासना से उपासक पापों से परे हो जाता है । सर्वदा सुख की वर्षा करने वाला वह ब्रह्म सर्वदा युवा स्वरूप वाला है । उसके स्वरूप में कभी ह्रास या विकास नहीं होता अपितु वह एकरस, अखण्ड है । उसकी उपासना द्वारा उपासक मेधावी बन जाता है ।

तवाहं नक्तमुत सोम ते दिवा दुहानो बभ्र ऊधनि ।

घृणा तपन्तमति सूर्य परः शकुना इव पप्तिम ॥

ऋ. १/१०७/२०, सामवेद उत्तरार्चिक प्र. ३/खं. ४/ सू. ११/मं. २ (९२३)

^१ तुविग्रीवः तुवि (बहुनाम, निघ. ३/१) + ग्रीवा (निगरति, निगलति इति ग्रीवा) गृ निगरणे

पदार्थ—(सोम) हे सर्वोत्पादक (बभ्रो)¹ सबको धारण करने वाले ब्रह्म ! (नक्तम्) रात (उत) और (दिवा) दिन (ते) आपके स्वरूप रूपी (ऊधनि) उधस् में आनन्द रस के भण्डार में (अहम्) मैं आनन्दरस रूपी दूध का (दुहानः) दोहन कर रहा हूँ । (घृणा) दीप्ति से (तपन्तम्) जाज्वल्यमान् (अति सूर्यम्) अपने प्रकाश से सूर्य का भी अतिक्रमण करने वाले (परः) सर्वोपरि, आपके पास मैं (शकुनाः इव) शकुन पक्षी की भांति उड़कर (पप्तिम) पहुंच जाऊँ ।

भावार्थ—यदि ब्रह्म का स्वरूप नहीं होता तो उसे दीप्ति से जाज्वल्यमान तथा सूर्य से भी अधिक प्रकाश वाला नहीं कहा जा सकता था । ये लक्षण निराकार में नहीं हो सकते हैं । यदि वह अखण्ड स्वरूप वाला ब्रह्म उस प्राकृतिक जगत के कण-कण में होता तो सूर्य से भी अधिक तेजस्वी उस ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव अवश्य होना चाहिए । पृथ्वी के जिन भागों में सूर्य का तेज कम पहुंचता है, वहां बर्फ होती है । यदि करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी ब्रह्म का स्वरूप पृथ्वी के उन ठण्डे भागों में होता, तो कभी भी वहां बर्फ नहीं उत्पन्न हो सकती ।

प्रश्न—जैसे सूर्य का प्रकाश आकाश तथा पृथ्वी में फैला होता है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई न होने के कारण उसको निराकार माना जाता है, वैसे ही अनन्त ब्रह्म भी यद्यपि प्रकाश स्वरूप है किन्तु उसकी लम्बाई-चौड़ाई न होने के कारण वह निराकार अर्थात् आकार से रहित है, क्योंकि अनन्त की माप नहीं हो सकती है ।

उत्तर—हम अपनी सामान्य आंखों से सूर्य द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के एक बहुत छोटे भाग को ही देख पाते हैं । इसलिए हमें सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दृष्टिगोचर होता है । किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो केवल पृथ्वी पर ही अमेरिका में जिस समय दिन होता है और वहां सूर्य का प्रकाश फैला होता है, उस समय भारत में रात्रि होती है तथा सूर्य का प्रकाश नहीं होता है । इस प्रकार सूर्य का प्रकाश भी सीमित क्षेत्र में होने के कारण आकार वाला हो जाता है तथा उस प्रकाश का स्रोत सूर्य भी गोल आकार वाला है ।

इसी प्रकार प्रकृति से परे योगमाया के ब्रह्माण्ड में अक्षर ब्रह्म का तथा परमधाम में अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का शुक्रमयी प्रकाश सर्वत्र ओत-प्रोत है । अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म से कोई अलग सत्ता नहीं है, अपितु उस पूर्णब्रह्म की ही सत्ता का स्वरूप है । कठोपनिषद् (५/१५) का कथन 'तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम्' अर्थात् उस ब्रह्म के प्रकाशित होने से ही सारा ब्रह्मधाम भी प्रकाशित है, इसी तथ्य की ओर संकेत करता है ।

जिस प्रकार इस प्राकृतिक जड़ जगत में जड़ सूर्य का प्रकाश है और उस सूर्य की आकृति है, उसी प्रकार योगमाया का ब्रह्माण्ड (त्रिपाद अमृत यजुर्वेद अ.

¹ बिभवतीति बभ्रुः ।

३१/ मं. ३) भी उस अविनाशी ब्रह्म के शुक्रमयी प्रकाश से प्रकाशित है और उस ब्रह्म की भी युवा स्वरूप वाली आकृति है क्योंकि प्रकाश का स्रोत कोई न कोई आकृति अवश्य रखता है ।

उप त्वा कर्मन्तूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥

ऋ. ८/२१/२, अथर्व. २०/१४/२, २०/६२/२, सामवेद उतरार्चिक अ. १/खं.
६/सू. २२/मं. २ (७०९)

पदार्थ—हे ब्रह्म ! (कर्मन्) प्रत्येक शुभ कर्म में (ऊतये) रक्षा के लिए हम (त्वा) आपके आश्रय में (उप) उपस्थित होते हैं । (यः) जो काम, क्रोधादि (नः धृषत्) हमारा घर्षण करता है, हमें आ दबाता है, उसे (सः) वह (युवा) सदा युवा स्वरूप वाले आप (उग्रः) उग्ररूप होकर (चक्राम) पद दलित करते हैं । (इन्द्र) हे ब्रह्म ! (सखायः) आप के सखा हम उपासक (सानसिम्) सबके आश्रयदाता (त्वाम् इत् हि) आप ही (अवितारम्) रक्षक का (ववृमहे) वरण करते हैं ।

भावार्थ—उस अविनाशी शुक्रमयी युवा स्वरूप वाले ब्रह्म की जो उपासना करते हैं, उन उपासकों को वह अपने आश्रय में लेकर काम, क्रोधादि विषय विकारों से बचाता है । निराकार को कभी भी युवा स्वरूप वाला नहीं माना जा सकता है ।

प्रश्न—‘युवा’ पद का अर्थ ‘युवा स्वरूप वाला’ नहीं, अपितु बलशाली, सदा एकरस स्वरूप वाला होता है । ब्रह्म की कोई आकृति न होने के कारण उसे युवा स्वरूप वाला नहीं कहा जा सकता है ।

उत्तर—यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो उसे कान्तिमान तथा दीप्तिमान नहीं कहा जा सकता । जो सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् में उस कान्तिमान ब्रह्म का स्वरूप मानते हैं, वे मल-मूत्र जैसी निकृष्ट वस्तुओं में कदापि ब्रह्म का अनन्त तेज से देदीप्यमान, कान्तिमान स्वरूप नहीं दिखला सकते । यदि अग्नि में किसी लोहे को रख दिया जाता है तो वह भी अग्नि के तुल्य गुण वाला हो जाता है । वैसे ही ब्रह्म के स्वरूप की कोई आकृति न मानने पर तथा जगत् में ही ब्रह्म का स्वरूप मानने पर सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मरूप मानना पड़ेगा । जबकि प्रत्यक्ष अनुभव से ही यह निर्विवाद सिद्ध है कि यदि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप होता, तो सारे पदार्थों को सत्य स्वरूप वाला तथा समस्त प्राणियों को मायाजन्य विकारों से रहित होना चाहिए ।

वेद में जहां भी ब्रह्म का वर्णन करते हुए ‘युवा’ कहा गया है, तो इसका आशय यह है कि उसके कान्तिमान, देदीप्यमान, प्राकृतिक तत्वों से रहित ‘युवा

स्वरूप' का ही वर्णन किया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं युवा का अर्थ बलशाली भी अवश्य होता है, किन्तु वह प्रकरण के अनुसार है।

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ।

ऋ. ५/२४/४, सामवेद उतरार्चिक प्र. ४/खं. ७/सू. २२/मं. ३ (११०९)

पदार्थ—(शोचिष्ठ) हे कान्ति से युक्त, शुद्ध, पवित्र ! (दीदिवः) अत्यन्त दीप्ति वाले ! (सुम्नाय) हम अपने सुख के लिए तथा (सखिभ्यः) तथा अपने सखाओं के सुख के लिए (नूनम्) निश्चय से (तं त्वा ईमहे)¹ आपसे याचना करते हैं।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्म को कान्तिमान तथा दीप्तिमान कहा गया है। यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो उस कान्तिमान तथा दीप्तिमान जैसे विशेषणात्मक शब्दों से वर्णित नहीं किया जा सकता था।

स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।

परीणसं कृणुते तिग्मशृङ्गो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृजः ॥

ऋ. ९/९७/९, सामवेद उतरार्चिक प्र. ४/खं. १/सू. १/मं. ३ (१११८)

पदार्थ—(सः) अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का द्रष्टा वह योगी (उरुगायस्य) विशाल गुण गरिमा वाले ब्रह्म की (जूतिं) ज्योति को (योजते) साक्षात् करता है। (वृथा क्रीडन्तं) बिना प्रयोजन के क्रीड़ा करती हुई (गावः) इन्द्रियां उस ब्रह्म को (न मिमते) नहीं जान पाती हैं। (स हरिः) दुखों को हरने वाला वह ब्रह्म (तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्ण तेज से युक्त (परीणसम्) नाना तेज प्रकट करता है और (ऋजः) प्रकाश से युक्त वह (दिवा) दिन में भी तथा (नक्तम्) रात में भी [प्रकृति से परे की समाधि अवस्था में] (ददृशे) दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—वह ब्रह्म अत्यन्त तीक्ष्ण तेज से युक्त है। उस योगमाया के ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ब्रह्म का ही तेज दृष्टिगोचर होता है। कैवल्य का भी अतिक्रमण करके हंस अवस्था प्राप्त योगी ही परम गुहा में समाधिस्थ होकर अपने शुद्ध चेतन स्वरूप से उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा की गयी उपासना से उस ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता है।

अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे ।

चित्रभानुं रोदसी अन्तरूर्वी स्वाहुतं विश्वतः पत्यञ्चम् ॥

ऋ. ७/१२/१, सामवेद उतरार्चिक प्र. ५/खं. ८/सू. ९/मं. १ (१३०४)

¹ ईमहे = याच्ना (निघं. ३/१९)

पदार्थ—(यः) जो (स्वे) अपने (दुरोणे) गृह रूपी चेतन धाम में (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्त होकर (दीदाय) चमकता है, उस (यविष्ठं) अत्यन्त तरुण (चित्रभानुम्) अद्भुत प्रभा वाले (विश्वतः प्रत्यञ्चम्) अपने चेतन धाम में सर्वत्र व्यापक (उर्वी) महान् (रोदसी) पृथ्वी और द्युलोक के (अन्तः) बीच (स्वाहुतं)¹ उत्तम प्रकार से स्तुति किये गये ब्रह्म को (महा नमसा) महानम्रता द्वारा (अगन्म) हम प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ—अक्षर ब्रह्म का मूल स्वरूप बेहद से परे परमधाम में ही है। किन्तु बेहद में उसकी अखण्ड लीला होती है। उसी में उसका स्वरूप सर्वत्र व्यापक है। परमधाम में स्थित उसका मूल स्वरूप अत्यन्त तरुण, अद्भुत प्रभा वाला तथा प्रदीप्त होकर प्रकाशमान है। प्रकृति से परे ऐसे विलक्षण स्वरूप वाले को स्वरूप से रहित निराकार मानना भूल है।

प्रश्न—निराकार परमात्मा ही साकारता के दोषों से रहित, सूक्ष्मतम् होने के कारण जीव और प्रकृति में व्यापक होकर जीवों के परमानन्द का हेतु भी होता है, जैसे कि कठोपनिषद् (५/१२) में कहा गया है—

‘एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्’।

उत्तर—वस्तुतः ब्रह्म न तो साकार है और न निराकार। वह इन दोनों से ही परे विलक्षण स्वरूप वाला है। उसका स्वरूप प्रकृति में नहीं है क्योंकि उस अखण्ड एकरस ब्रह्म स्वरूप में नाना वस्तुओं (जीव तथा प्रकृति का) का मेल नहीं हो सकता है। क्षुधा, तृषा, वार्धक्य, मृत्यु आदि दोष पंचभौतिक शरीरों में होते हैं। ब्रह्म तो त्रिगुणातीत शुक्रमयी स्वरूप वाला है। उसका स्वरूप युवा होने पर भी सर्वदा एकरस रहता है। उसमें वृद्धावस्था, भूख, प्यास, मृत्यु आदि का कोई भी विकार नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक शरीर में ही ये दोष होते हैं, शुद्ध तूरमयी (शुक्रमयी) त्रिगुणातीत शरीर में नहीं।

‘कुत्रापि कोऽपि सुखी न।’ सांख्य दर्शन अ. ६/सू. ७

अर्थात् इस प्राकृतिक जगत में कहीं भी कोई भी सुखी नहीं है। जीव मुक्ति का आनन्द ब्रह्मधाम में ही भोग सकता है, जहां प्राकृतिक विकारों की छाया भी नहीं पड़ सकती। निराकार की मान्यता वाले उस ब्रह्म का स्वरूप ही नहीं मानते, तो आत्मस्थ होकर उसका दर्शन कैसे करेंगे? महाप्रलय में साकार भी नष्ट हो जाता है और निराकार (महत्तत्त्व) भी। अतः अविनाशी ब्रह्म का स्वरूप इन दोनों से भिन्न ही मानना उचित है।

उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत्। शोचा वि भाह्यजर॥

¹ स्वाहुतम् – सु + आहुतम्। दुरोणे – गृहनाम (निघ. ३/४)

ऋ. ६/१६/४५, सामवेद उतरार्चिक प्र. ६/खं. २/सू. ३/मं. ३ (१३८५)

पदार्थ—(उत्) उत्तम रूप से (भारत) हे भरण पोषण करने वाले ! (अग्ने) प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ! (द्युमत्) द्युति सम्पन्न आप (अजस्त्रेण) न क्षीण होने वाली द्युति द्वारा (दविद्युतत्) सदा द्युतिमान् हो । (अजर) जीर्ण न होने वाले (शोचा)^१ जाज्वल्यमान् हे ब्रह्म आप (वि भाहि) विशिष्ट रूपों में प्रकट होइए ।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्म को कभी भी क्षीण न होने वाली द्युति द्वारा सदा द्युतिमान् तथा जाज्वल्यमान् कहा गया है । ब्रह्म को जरा अवस्था (अत्यन्त वृद्धावस्था) से रहित कहने का आशय ही यह है कि उसका आकृति युक्त अखण्ड स्वरूप अवश्य है । यदि यह शंका की जाये कि इस मन्त्र में ‘अजर’ पद का प्रयोग काव्यगत आलंकारिक वर्णन के लिए है, तो इसका उत्तर यह है कि गुण द्रव्य के ऊपर ही निर्भर करता है । यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप ही न होता, तो उसे जरा, मरण रहित कहने का औचित्य ही नहीं होता । अथर्ववेद (१०-८-४४) में भी परब्रह्म को “धीरमजरं युवानम्” अर्थात् ‘धीर, वृद्धावस्था से रहित नित्य तरुण’ कहा गया है । पुनः निराकार की कल्पना क्यों ?

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ऋ. ३/६२/१०, सामवेद उतरार्चिक प्र. ६/खं. ४/सू. १०/मं. १ (१४६२), यजुर्वेद (२२/९, ३/३५, ३०/२)

पदार्थ—(तत्) उस (सवितुः)^२ सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक (देवस्य) कामना करने योग्य ब्रह्म के (वरेण्यं) वरण करने योग्य, ध्यान करने योग्य (भर्गः) समस्त क्लेशों को दूर करने वाले, शुद्ध स्वरूप शुक्रमयी तेज को (धीमहि) धारण करें । (यः) जो (नः) हमारी (धियोः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव में प्रेरित करे ।

भावार्थ—अरबी भाषा में जिसे नूर कहते हैं, वैदिक साहित्य में उसे आदित्यवर्ण, भर्गः तथा शुक्र कहते हैं । स्वरूप से रहित ब्रह्म को नूरमयी या आदित्यवर्ण वाला नहीं कहा जा सकता है । सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल में कहीं भी शुक्रमयी स्वरूप नहीं है । जिस ब्रह्म का तेज नूरमयी (भर्गः) है, तो उसका स्वरूप भी शुक्रमयी होगा । और उस तेज के मूल स्रोत की कोई न कोई आकृति अवश्य होनी चाहिए ।

उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतीष्यर्चयः ॥

^१ शुचिः शोचते ज्वलतिकर्मणः । नि. अ. ६/पा. १/खं. १ “शोचतिज्वलति कर्मा” (निघं. १/१६)

^२ सविता सर्वस्य प्रसविता । निरु. अ. १०/पा. ३/खं. ३१ सविता सर्वस्य प्रसविता प्रेरयिता । “पू प्रेरणे” (तुदादि.) ततः ‘तृचि’ विकल्पत्वात्-इडागमो भवति । स्वरतिसूतिसूयतिधूजदितो वा (अष्टा ७/२/४४) इत्यनेन आदित्योऽपि सवितोच्यते, तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतोऽर्चन् हैरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच (नि. अ. १०/पा. ३/खं. ३२)

ऋ. ८/४४/१७, सामवेद उतरार्चिक प्र. ७/ख. ४/ख. ४/सू. १६/मं. ३ (१५३४)

पदार्थ—(अग्ने) हे ज्योतिर्मयं ब्रह्म ! (ते) तुम्हारी (भ्राजन्तः) सुप्रदीप्त (शुक्राः)^१ शुक्रमयी (शुचयः)^२ दीप्तियां (उद् ईरते) उठ रही हैं और ये (अर्चयः) ज्वालाएं (तव) तुम्हारी ही (ज्योतींषि) नाना विध ज्योतियां हैं।

भावार्थ—इस प्रकृति मण्डल में असंख्यों सूर्य की तरह प्रकाशमान नक्षत्र हैं, जिनसे निरन्तर तेजोमय प्रकाश की किरणें निकलती हैं। सूर्य से भी निरन्तर अग्नि की ज्वालाएं निकलती हैं जो सूक्ष्म रूप में किरणों का रूप धारण कर लेती हैं। किन्तु इन प्रकाश स्रोतों का आकार है, जहां से प्रकाश की किरणें निरन्तर निकल रही हैं। वस्तुतः इसी प्रकार प्रकृति से परे उस अनादि, चेतन परमधाम में भी अक्षर तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का शुक्रमयी स्वरूप है जिनसे सर्वदा शुक्रमयी किरणें निकलती रहती हैं।

सारा परमधाम भी उन्हीं के शुक्रमयी प्रकाश से प्रकाशित शुक्रमयी और चेतन स्वरूप वाला है। उस पूर्णब्रह्म का शुक्रमयी प्रकाश ही वहां अनेक रूपों में क्रीड़ा कर रहा है। इस मन्त्र का विनियोग अक्षर ब्रह्म के लिए होगा। श्रीमुखवाणी की यह चौपाई स्वरूप को और स्पष्ट करती है—

ए जोत सब जुदी जुदी, देखिए माहें आसमान।

सब जोत जोत सों लड़त हैं, कोई सके न काहूं भान ॥

श्रृंगार प्र. १८ चौ. २३

कहूं नूर तेज रोसनी, याकी जोत गई अंबर लों चल।

माहें गुन गरभित कई सागर, क्यों कहे बिना अंतर बल ॥

श्रृंगार प्र. २० चौ. २०

प्रकृति मण्डल में स्थित अपनी किरणों द्वारा प्रकाश करने वाले सूर्यादि की गोल आकृति की भांति ही परमधाम में विराजमान अक्षर तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का भी अखण्ड युवा स्वरूप है, किन्तु परमधाम के स्वरूप में तथा उस पूर्णब्रह्म के स्वरूप में कोई भी भेद नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार पूर्णब्रह्म शुक्रमयी स्वरूप वाले, अनादि, अविनाशी है उसी प्रकार परमधाम भी शुक्रमयी, चेतन अनादि तथा अविनाशी है।

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वरुः। येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

सामवेद उतरार्चिक प्र. ५/खं. १२/सू. २१/मं. २(१३३९), यजुर्वेद अ. ३३/मं. २४

^१ शुक्र शोचते ज्वलतिकर्मणः। (निरु. अ. ८/पा. २/खं. ११)

^२ शोचति ज्वलतिकर्मा (निघं. १/१६)

पदार्थ—(युवा इन्द्रः) सदा युवा स्वरूप वाला ब्रह्म (येषाम्) जिन उपासकों का (सखा) स्नेही सखा बन जाता है, (एषाम्) इन उपासकों की (इध्मः) समिधाएं (बृहत्) बड़ी होती हैं। (शस्त्रम्) इनके ब्रह्म की महिमा के सामगान भी (भूरि) बार बार होते हैं, (स्वरुः) सामगान के स्वर भी (पृथुः) ऊंचे स्वरों के होते हैं।

भावार्थ—प्राकृतिक अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए तो “इध्म”¹ सामान्य लकड़ी रूप होता है, परन्तु परमात्माग्नि को प्रदीप्त करने के लिए जो इध्म होता है, वह महान होता है, वह इध्म है—आत्मा, इस मन्त्र में भी उस ब्रह्म को युवा स्वरूप वाला तथा उपासकों का स्नेही सखा वर्णित किया गया है।

अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः। येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

ऋ. ८/४५/३, सामवेद उतरार्चिक प्र. ५/खं. १२/सू. २१/मं. ३ (१३४०)

पदार्थ—(युवा) सदा युवा (इन्द्रः) ब्रह्म (येषाम्) जिन उपासकों का (सखा) स्नेही ही सखा बन जाता है, वे उपासक जब (युधा) कामादिक आसुरी योद्धाओं से (आवृतम्) आवृत हो जाते हैं, घिर जाते हैं, तब (शूरः) पराक्रमशील ब्रह्म (सत्वभिः) अपनी शक्तियों से उन्हें (आजति) परास्त कर देता है। ब्रह्म को (अयुद्धः इत्) काम, क्रोधादिक आसुरी योद्धाओं के साथ युद्ध नहीं करना पड़ता है, अपितु वे उसकी कृपा से ही विशीर्ण हो जाते हैं।

भावार्थ—सदा युवा स्वरूप वाला वह अविनाशी ब्रह्म अपने उपासकों को मायिक विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक) से रक्षा करता है। जिस ब्रह्म की कृपा मात्र से ही विषय विकार उपासक को प्रभावित नहीं कर पाते, तो यह स्पष्ट है कि जीवों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, अपितु विराट् पुरुष (नारायण) का चैतन्य अंश ही जीव है। यदि जीव के अन्दर सूक्ष्म रूप से अविनाशी ब्रह्म का स्वरूप होता तो जिस प्रकार अग्नि में लोहा डालने पर, दोनों का स्वरूप एक ही जैसा हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी अज्ञान और विषय विकारों से रहित ब्रह्म की तरह शुद्ध, निर्विकार स्वरूप वाला होना चाहिए। वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप प्रकृति के इस जड़ जगत् से सर्वथा परे अविनाशी चेतन लोक में ही है, जहां वह स्वयं, अजर, अमर, युवा स्वरूप वाला है तथा उसकी शुक्रमयी कान्ति कण-कण में शोभायमान है।

इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।

शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥

ऋ. ८/९५/८, सामवेद उतरार्चिक प्र. ६/खं. ३/सू. ९/मं. २ (१४०३)

¹ “अयं त इध्य आत्मा” (आश्व. गृह्यसूत्र १/१०/१२)

पदार्थ—(इन्द्र) हे परब्रह्म ! (शुद्धः) शुद्ध स्वरूप आप (नः) हमें (आ गहि) दर्शन दीजिए और (शुद्धाभिः) शुद्ध पवित्र (ऊतिभिः)¹ कान्तियों सहित (शुद्धः) आप शुद्ध स्वरूप हैं। (शुद्धः) शुद्ध स्वरूप वाले आप ही हमें (रयिं) ऐश्वर्य को (नि धारय) धारण कराइए। (सोम्य) हे परमानन्द के पात्र (शुद्धः) शुद्ध स्वरूप वाले आप ही (ममद्धि) आनन्द स्वरूप है।

भावार्थ—यदि परब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता तो उसे शुद्ध स्वरूप, शुद्ध कान्तियों वाला तथा आनन्द स्वरूप नहीं कहा जा सकता था।

उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः। अग्ने शुक्रास ईरते।

ऋ. ८/४४/४, सामवेद उतरार्चिक प्र. ७/खं. १/सू. ३/मं. १ (१५४१)

पदार्थ—(दीदिवः) हे प्रकाशमान (अग्ने) ब्रह्म ! (समिधानस्य ते) तुम्हारी प्रदीप्त (बृहन्तः) बड़ी-बड़ी (शुक्रासः) शुक्रमयी (अर्चयः) ज्वालाएं (उद् ईरते) उठ रही हैं।

भावार्थ—हृद-बेहृद से परे उस अनादि शुक्रमयी, अखण्ड परमधाम में अक्षर ब्रह्म तथा परब्रह्म का युवा-स्वरूप है, जिनसे हमेशा शुक्रमयी ज्वालायें प्रकट होकर आनन्दमयी लीला में संलग्न हैं। यद्यपि इस मन्त्र का विनियोग अक्षर ब्रह्म के लिए होगा। श्रीमुखवाणी की चौपाईयां लिखने का उद्देश्य ब्रह्म के स्वरूप का स्पष्टीकरण करना है, क्योंकि अक्षर तथा अक्षरातीत का स्वरूप एक ही है। क्या ऐसे लक्षणों वाले परब्रह्म को निराकार मानना कोरा भ्रम नहीं है?

ज्यों ज्यों हाथ की अंगुरी, होत है चलवन।

त्यों त्यों नख जोत आकास में, नेहेरें चीर चली रोसन ॥

श्रृंगार प्र. १२ चौ. ८

ए चरन नख अति सोभित, जानों तेज पुंज भरपूर।

लेहेरें लगें आकाश को, नेहेरें चलत तेज नूर ॥

सागर प्र. ५ चौ. ८०

आसमान जिमी के बीच में, भरी जोत उठे कई रंग।

घट बढ़ काहूँ है नहीं, करें दिल चाही कई जंग ॥

श्रृंगार प्र. २२ चौ. ३४

मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम्।

अग्निमीडे स उ श्रवत् ॥

¹ ऊतिरवनात् । निरुक्त अ. ५/पा. १/खं. ३ 'ऊतिः' इत्येतदनवगतम् अवनादिति व्युत्पाद्यार्थं प्रदर्शनम् । "अवरक्षणगतिकान्तिप्रीति तृस्यादिपु" (भ्वादि.) ततः (क्तिन्) "मन्त्रे-ऊतियूतिजूतिसातिहेतुकीर्तयश्च" (अष्टाध्यायी ३/३/९७) निपातनमेवानतगतत्वं तत्र सम्प्रसारणस्य दीर्घत्वं त्ययस्याद्युदात्तत्वं च ।

ऋ. मं. ८/सू. ४४/मं. ६, सामवेद उतरार्चिक प्र. ७/खं. १/सू. ३/मं. ३ (१५४३)

पदार्थ—(मन्द्रम्) आनन्द स्वरूप (होतारम्) दाता (ऋत्विजम्)^१ सभी ऋतुओं में उपासना करने योग्य (चित्रभानुम्) अद्भुत प्रभा वाले, (विभावसुम्) कान्ति रूप धन से सम्पन्न उस (अग्निम् ईडे) परब्रह्म की स्तुति करता हूँ, (सः) वह (उ) निश्चित रूप से हमारी स्तुतियों को (श्रवत्) सुनता है।

भावार्थ—जो परब्रह्म अपने शुक्रमयी स्वरूप में अद्वितीय कान्ति से सम्पन्न, अद्भुत प्रभा वाला तथा आनन्द स्वरूप है, उसे कदापि निराकार नहीं कहा जा सकता है।

एभिर्नो अकैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥

ऋ. ४/१०/३, यजु. १५/४६, सामवेद उतरार्चिक प्र. ९/खं. १/सू. ५/मं. ३
(१७७९)

पदार्थ—(अग्ने)^२ हे ब्रह्म ! (नः) हमारे (एभिः अकैः) इन स्तुति-साधक स्तोत्रों द्वारा आप (नः) हमारी (अर्वाङ् अभिभव) ओर अभिमुख होइए, प्रकट हो जाइए। आप (स्वः न) सूर्य के समान (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप [शुक्रमयी ज्योति वाले] हैं। आप (विश्वेभिः) समग्र (अनीकैः) निज तेजों द्वारा (सुमनाः) हमारे मनों को श्रेष्ठ कर दीजिए।

भावार्थ—नारायण को ज्योतिः स्वरूप मानकर वेद के किसी भी मन्त्र में उनकी स्तुति नहीं की गई है। इस मन्त्र में उस अविनाशी ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए सूर्य की ज्योति से मात्र दृष्टान्त दिया गया है। यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप ही नहीं होता, तो उससे प्रकट होकर साक्षात्कार की प्रार्थना नहीं की जा सकती थी। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्म का स्वरूप अवश्य है।

प्रश्न—वेद में क्या प्रमाण है कि ब्रह्म का स्वरूप न तो साकार है और न निराकार, अपितु इन दोनों से परे भिन्न स्वरूप वाला है ?

उत्तर—निराकार तथा साकार दोनों ही प्रकृति के स्वरूप हैं। वेद में इन दोनों के स्वरूप से भिन्न ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है—

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विपुरुषे अहनी द्यौरिवासि ॥

ऋ. ६/५८/१, सामवेद आग्नेय का. प्र. १/खं. ८/मं. ३ (७५)

^१ ऋत्विजम् ऋतूपपदात् क्विन् प्रत्ययान्ताद्यजधातोरयं प्रयोगः ।

^२ अञ्चु गतिपूजनयोः णीञ् प्रापणे । अग्नि गत्यर्थः । इण्गतौ, इत्यादि धातुभ्योऽग्नि शब्दः सिध्यति । यत्सञ्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवान्यादिनामवाच्यमत्र बोध्यम् ॥ अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरा गमत् । ऋ. अ. १/सूक्त १/मं. ५

पदार्थ—हे ब्रह्म ! (ते) तुम्हारा (शुक्रं) शुभ्र रूप, शुक्रमयी स्वरूप (अन्यत्) संसार से भिन्न दूसरा है और (ते) तुम्हारे (यजतम्) संसार यज्ञ की रचना (अन्यत्) उससे भिन्न दूसरा रूप है । (विषुरूपे) ये दोनों ही विषम रूपों वाले हैं । (अहनी) जैसे कि दिन रात विषम रूपों वाले हैं तो भी आप (द्यौः इव) सूर्य के सदृश सदा स्वप्रकाशी हैं ।

भावार्थ—इस जगत में अग्नि, जल, पृथ्वी तथा इनसे निर्मित पदार्थों का साकार तथा महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश इत्यादि को निराकार माना जाता है । ये दोनों स्वरूप जड़ प्रकृति के ही हैं । इस मन्त्र में दिन तथा रात्रि के दृष्टान्त से जड़ जगत के साकार एवं निराकार स्वरूप से भिन्न ब्रह्म के स्वरूप को वर्णित किया गया है । इस मन्त्र से यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म का स्वरूप इस त्रिगुणात्मक जगत से सर्वथा परे शुक्रमयी है क्योंकि जिस प्रकार रात्रि और दिन विपरीत गुणों वाले हैं, उसी प्रकार जगत के साकार एवं निराकार स्वरूप से भिन्न ब्रह्म का स्वरूप होगा ।

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।

ऋ. १०/१४०/१, यजु. १२/१०६, सामवेद उतरार्चिक प्र. ९/खं. ५/सू. १/मं. १
(१८१६)

पदार्थ—(अग्ने) हे प्रकाश स्वरूप, (विभावसो) शुक्रमयी कान्ति रूप धन से सम्पन्न, ब्रह्म ! (तव) तुम्हारा (श्रवः) यश और (वयः) ज्ञान (महि) महान है और तेरी (अर्चयः) ज्वालाएं (भ्राजन्ते) प्रदीप्त हो रही हैं ।

भावार्थ—अपने चेतन अविनाशी धाम में, जो शुक्रमयी प्रदीप्त ज्वालाओं वाला तथा अपार कान्ति से युक्त है, उसका स्वरूप अवश्य है, क्योंकि ज्वालाओं को प्रस्फुटित करने वाले स्रोत का अवश्य ही कोई न कोई आकार होना चाहिए । अखण्ड शुक्रमयी ज्वालाओं का वह स्रोत वस्तुतः युवा स्वरूप वाला है ।

अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभाति श्रुतो युवा स इन्द्रः ।

सामवेद एन्द्र काण्ड प्र. ५/खं. १०/द. १/मं. ९ (४४५)

पदार्थ—(मरुतः)^१ उपासक (स्वर्काः) उत्तम अर्चना के साधनभूत वैदिक स्तोत्रों से सम्पन्न होकर, (अर्कम्) अर्चनीय ब्रह्म की (अर्चन्ति) स्तुति करते हैं । (श्रुतः) वेद-विश्रुत (युवा) सदा युवा स्वरूप वाला, अजर, अमर (सः इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् ब्रह्म उन उपासकों की (आ स्तोभाति) रक्षा करता है ।

भावार्थ—उपासकों का एक मात्र उपास्य वेद विश्रुत ब्रह्म है जो सर्वदा एकरस युवा स्वरूप वाला, वृद्धावस्था आदि से रहित अविनाशी है ।

^१ मरुतो मितराविणो वा, मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा ॥ निरु. अ. ११/पा. २/खं. १३

पावकवर्चा: शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।

ऋ. १०/१४०/२, यजु. १२/१०७, सामवेद उत्तरार्चिक प्र. ९/खं. ५/सू. १/मं. २
(१८१७)

पदार्थ—हे ब्रह्म: आप (पावकवर्चा:) पवित्र तेज से युक्त (शुक्रवर्चा:) शुक्रमयी कान्ति से सम्पन्न, (अनूनवर्चा:) सबसे अधिक तेजस्वी होकर (भानुना) सूर्य की भांति (उद् इयर्षि) उदीयमान् हैं ।

भावार्थ—शुक्रमयी कान्ति से परिपूर्ण, सबसे अधिक तेजस्वी उस अनादि ब्रह्म के स्वरूप में कभी भी जीर्णता नहीं होती । वह सदा नया ही बना रहता है । यद्यपि इस प्रकृति के संसार में सूर्य अपने प्रकाश सहित उदय भी होता है तथा अस्त भी, किन्तु परमधाम में ऐसा नहीं होता है । वहां ब्रह्म का एकरस शुक्रमयी स्वरूप सर्वदा ही रहता है । उसके अपरिवर्तनीय, सर्वदा नवीन रहने वाले, अखण्ड स्वरूप को सांकेतिक रूप से वर्णित करने के लिए उदित होते हुए सूर्य से मात्र दृष्टान्त दिया गया है ।

प्रश्न—इदं विष्णुर्विक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पाम् सुरे स्वाहा ।

यजुर्वेद अ. ५/मं. १५

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि निराकार, व्यापक परमात्मा ने पृथ्वी आदि प्रकाश रहित, सूर्यादि प्रकाश सहित तथा परमाणु आदि सूक्ष्म रूप, तीन प्रकार का अपना पद न्यास रूप कार्य का विधान किया है ।

उत्तर—साकारवादी पौराणिकों ने इस मन्त्र का विनियोग 'त्रिविक्रमावतारधारी' विष्णु के लिए किया है तथा इसी मन्त्र से निराकारवादियों ने व्यापक तथा निराकार ब्रह्म के द्वारा तीन प्रकार की रचना को धारण करना सिद्ध किया है । वस्तुतः इस मन्त्र का विनियोग न तो साकार के लिए होगा और न निराकार के लिए । यद्यपि 'विष्णु व्याप्तौ' धातु से 'विष्णु' शब्द अवश्य सिद्ध होता है, किन्तु इसका आशय यह है कि वह ब्रह्म अपने व्यापक स्वरूप से प्रकृति से परे चेतन-लोक में स्थित है तथा प्रकृति में अपनी व्यापक सत्ता से उसने तीनों प्रकार की रचना (पृथ्वी आदि प्रकाशरहित, सूर्यादि प्रकाश सहित तथा परमाणु आदि सूक्ष्म रूप) को धारण कर रहा है ।

इसको इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है कि महामूढ गजनवी द्वारा सोमनाथ की मूर्ति तोड़ी जाने से पहले, वह मूर्ति चार बराबर-बराबर दूरी पर रखे हुए समान शक्ति वाले चुम्बकों की आकर्षण शक्ति द्वारा शून्य में लटकी हुई थी । वे चुम्बक मूर्ति के अन्दर व्यापक तो नहीं थे, किन्तु अपनी आकर्षण शक्ति से उन्होंने मूर्ति को निराधार शून्य में धारण कर रखा था । इसी प्रकार अनन्त शक्ति

वाला ब्रह्म भी अपने त्रिगुणातीत अखण्ड स्वरूप द्वारा प्रकृति से परे चेतन-लोक में विराजमान है, किन्तु अपनी सत्ता द्वारा उसने प्रकृति मण्डल में स्थित सभी प्रकार की प्राकृतिक रचनाओं को धारण कर रखा है।

इस मन्त्र से भी ब्रह्म न तो साकार सिद्ध हो सकता है और न निराकार, क्योंकि पंचभौतिक शरीरधारी अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाला तथा महाप्रलय में नष्ट हो जाने वाला है और निराकार जड़ प्रकृति (महत्तत्त्व) का स्वरूप है। इन दोनों स्वरूपों से भिन्न त्रिगुणातीत नूरमयी (आदित्यवर्ण) स्वरूप वाले अविनाशी ब्रह्म ने ही सारे ब्रह्माण्डों को अपनी सत्ता से धारण कर रखा है।

तं हुवेम यतसृचः सुभासं शुक्रशोचिषम् । विशामग्निमजरं प्रतमीड्यम् ॥

ऋ. मंडल ८/सू. २३/मं. २०

पदार्थ—(सुभासं) उत्तम कान्तिमान्, (शुक्रशोचिषम्) शुक्रमयी प्रकाशवान्, (विशाम्) प्रजाओं का स्वामी (अजरं) वृद्धावस्था से रहित (प्रतमम्) सनातन (ईड्यम्) वन्दनीय (तं अग्निम्) उस ब्रह्म की (यतसृचः) सृवा आदि सामग्री युक्त हम (हुवेम) स्तुति करें।

भावार्थ—इस मन्त्र में उस अनादि ब्रह्म को शुक्रमयी प्रकाश से युक्त, अत्यन्त कान्तिमान्, वृद्धावस्था से रहित अर्थात् सर्वदा एकरस स्वरूप वाला कहा गया है। क्या ये लक्षण स्वरूप से रहित किसी भी पदार्थ में हो सकते हैं?

अमृतं जातवेदसं तिरस्तमांसि दर्शतम् । घृताहवनमीड्यम् ॥

ऋ. मंडल ८/सू. ७४/मं. ५

पदार्थ—(घृताहवनम्) तेज से देदीप्यमान्, (अमृतं) अमृत स्वरूप वाले, (तिरः तिमांसि) अज्ञान रूपी तम को दूर करने वाले, (दर्शतम्) दर्शनीय, (जातवेदसम्) सर्वज्ञान को उत्पन्न करने वाले ज्ञानमय, (ईड्यम्) स्तुति योग्य उस ब्रह्म की हम उपासना करें।

भावार्थ—अपने शुक्रमयी तेज से देदीप्यमान्, दर्शनीय, अमृत स्वरूप वाले उस ब्रह्म को कदापि स्वरूप से रहित नहीं माना जा सकता है। यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो उसे (दर्शतम्) दर्शनीय नहीं कहा जा सकता था। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रह्म अवश्य ही अखण्ड स्वरूप वाला है।

उप त्वा कर्मभूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।

ऋ. मंडल ८/सू. २१/मं. २

पदार्थ—हे ब्रह्म ! (उतये) रक्षार्थ (कर्मन्) प्रत्येक शुभ कार्य में (त्वा) तुझे (उप) आश्रय बनाते हैं। (यः) जो (धृषत्) सर्व विघ्न-विनाशक है। (युवा) जो सदैव

एकरस युवा स्वरूप वाले और (उग्रः) हैं। (सः) वह ब्रह्म (नः) हमें (चक्राम) प्राप्त हों।

भावार्थ—उपासकों के सभी विघ्नों का विनाश करने वाला वह अनादि, अविनाशी, युवा स्वरूप वाला ब्रह्म है। प्रत्येक शुभ कार्यों में उपासक उसकी स्तुति करते हैं।

उदस्य शोचिरस्थाद्दीदियुषो व्य१जरम्। तपुर्जम्भस्य सुद्युतो गणश्रियः।

ऋ. मं. ८/सू. २३/मं. ४

पदार्थ—(सुद्युतः) उत्तम कान्तियुक्त, (दीदियुषः) देदीप्यमान् (वि-अजरम्) कभी भी जीर्ण न होने वाले अर्थात् सर्वदा एकरस स्वरूप वाले, (गणश्रियः) उपासकों के एकमात्र आश्रय या उन्हें शोभा देने वाले, (अस्य) इस ब्रह्म का (शोचिः) तेज (उत् अस्थात्) सर्वोपरि विराजता है। (तपुर्जम्भस्य) दुष्ट-संहार हेतु जिसके दांत तीक्ष्ण हैं अर्थात् वह अन्यायी-दुष्टों का संहारक है।

भावार्थ—हृद-बेहद से परे सर्वोपरि उस अविनाशी परमधाम में ब्रह्म का नूरमयी तेज विराजमान है। वह ब्रह्म का अतिशय कान्ति वाला, अपने शुक्रमयी स्वरूप से देदीप्यमान है। उसके उस अविनाशी, युवा स्वरूप में कदापि रंच मात्र भी जीर्णता नहीं आती है। क्या निराकार में भी इस मन्त्र में वर्णित ब्रह्म के ये स्वरूप सम्बन्धी लक्षण प्रयुक्त हो सकते हैं ? यदि नहीं, तो निराकार की काल्पनिक मान्यता क्यों ?

स त्वमग्ने विभावसुः सृजन्त्सूर्यो न रश्मिभिः।

शर्धन्तमांसि जिघ्रसे ॥

ऋग्वेद मंडल ८/सू. ४३/मं. ३२

पदार्थ—(सृजन् सूर्यो नः) उगते हुए सूर्य की भांति (विभावसुः) विशेष कान्ति से दीप्तिमान्, (शर्धन्) शक्तिमान् (अग्ने) हे ब्रह्म ! (स त्वं) वह तू (रश्मिभिः) अपनी ज्ञान रूपी किरणों से उपासकों के (तमांसि जिघ्रसे)^१ अज्ञान रूपी अन्धकारों को नष्ट करता है।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य जिस प्रकार अतिशय कान्तिमान होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने शुक्रमयी स्वरूप से कान्तिमान है। क्या अखण्ड, विशेष कान्ति को धारण करने वाला भी कभी स्वरूप से रहित हो सकता है ? कदापि नहीं।

भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत्प्रारूरुचद्रोदसी मातरा शुचिः ॥

ऋग्वेद मंडल ९/सू. ८५/मं. १२

^१ तमः तनोतेः। निरु. अ. २/पा. ५/खं. १६ “तनु विस्तारे” (तनादि.) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणादि ४/१८९) धातोर्नकारस्य मकारः।

पदार्थ—(भानुः) कान्तिमान्, (शुचिः) पवित्र, वह ब्रह्म (शुक्लेण शोचिषा) शुक्रमयी शुद्धकारी कान्ति से (वि अद्यौत्) चमकता है। वह (रोदसी मात्रा) प्रकाशमान नक्षत्रों की रचना करके द्युलोक तथा पृथ्वी को (प्रारुरुचत्) प्रकाशित करता है।

भावार्थ—इसी मन्त्र के प्रथम चरण में कहा गया है कि वह ब्रह्म (नाके अधि अस्यात्) परम सुखमय धाम में विराजता है। उस ब्रह्मधाम में अतिशय कान्तिमान्, पवित्र स्वरूप वाला, वह ब्रह्म अपनी नूरमयी कान्ति से चमकता है। क्या ये लक्षण निराकार या स्वरूप से रहित ब्रह्म की मान्यता में घटित हो सकते हैं ?

त्वं वरो सुषाम्णेऽग्ने जनाय चोदय ।
सदा वसो रातिं यविष्ठ शश्वते ॥

ऋग्वेद मंडल ८/सू. २३/मं. २८

पदार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान प्रकाशक ब्रह्म ! (वरो) हे वरणीय ! (वसो) अपनी सत्ता द्वारा वशीभूत लोकों में सबको बसाने वाले ! (यविष्ठ)^१ हे अतिशय तरुण ! (त्वं) तू सदा सब कालों में (शश्वते) बहुत से (सु-साम्ने) उत्तम सामगान द्वारा स्तुतिकर्ता उपासक (जनाय) जनों के हितार्थ (रातिं) ज्ञान रूपी धन का दान (चोदय) प्राप्त करा।

भावार्थ—परिवर्तनशील जड़ वस्तुओं का भी स्वरूप होता है। सबके निर्माता, सत्य ज्ञान के प्रकाशक अविनाशी ब्रह्म का भी अवश्य ही स्वरूप है। उसके स्वरूप को सामान्य जन नहीं समझ सकते। अपितु “दृश्यते तु अग्रया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” अर्थात् कोई-कोई सूक्ष्मदर्शी तत्त्वज्ञानी ही उसे सूक्ष्म आत्मिक-दृष्टि से देख पाते हैं। वस्तुतः वह ब्रह्म नूरमयी, अत्यन्त तरुण स्वरूप वाला है। उसके उस अविनाशी स्वरूप में कभी भी जीर्णता नहीं आती है।

शुचिं ते वर्णमधि गोषु दीधरम् ॥

ऋग्वेद मण्डल ९/सू. १०५/मं. ४

पदार्थ—हे ब्रह्म ! मैं (ते) तुम्हारे (शुचिं वर्णम्) कान्तिमय स्वरूप को (गोषु अधि) मन, बुद्धि आदि में (दीधरम्) धारण करूँ।

भावार्थ—यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता तो उसके लिए ‘वर्ण’ पद का प्रयोग नहीं होता। (शुचिं वर्णम्) अर्थात् ब्रह्म का शुद्ध कान्तिमय स्वरूप वाला कहा जाना यह सिद्ध करता है कि ब्रह्म प्राकृतिक स्वरूपों (साकार एवं निराकार) से भिन्न स्वरूप वाला है।

^१ यजुर्वेद अ. १७/मं. ७६ में यविष्ठ = (अत्यन्त तरुण स्वरूप वाला महर्षि दयानन्द कृत भाष्य में)

स नो हरीणां पत इन्दो देवप्सरस्तमः ।

सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव ॥

ऋग्वेद मंडल ९/सू. १०५/मं. ५

पदार्थ—(हरीणां पते) हे अखिल प्रकाशाधार ! (इन्दो) शीतल प्रकाश वाले ब्रह्म ! आप (देवप्सरस्तमः) देदीप्यमान् सूर्य के समान श्रेष्ठ रूप वाले या दिव्य से दिव्य तेज वाले हैं । (सः) वह आप (नः नर्यः)^१ हम उपासक मनुष्यों के प्रति (रुचे भव) दीप्ति के लिए हों । (सख्ये सखा इव) जैसे मित्र, मित्र के लिए होता है ।

भावार्थ—जड़ सूर्य के दाहकारक प्रकाश की भांति ब्रह्म का प्रकाश नहीं है, अपितु ब्रह्मानन्द भोक्ताओं के लिए अनन्त तेज से युक्त होते हुए भी चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश वाला है । अत्यन्त दिव्य तेज से परिपूर्ण उस ब्रह्म को निराकार मानना भूल है ।

एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः ।

ऋग्वेद मंडल ९/सू. १०९/मं. ३

पदार्थ—हे ब्रह्म ! आप (शुक्रः) नूरमयी स्वरूप वाले, (दिव्यः) दिव्य स्वरूप, (पीयूषः) रस स्वरूप या अमृत स्वरूप हैं । (सः) वह, आप मेरे (महे क्षयाय)^२ सदा के निवासार्थ (एव) ही (अमृताय) मुक्ति सुख के लिए (अर्ष) प्राप्त होइए ।

भावार्थ—जो ब्रह्म नूरमयी तथा दिव्य स्वरूप वाला हो, उसे निराकार तथा रूप से रहित किस प्रकार माना जा सकता है ? ब्रह्म तत्व की खोज करने वालों को जब (मोहतत्व) महाशून्य निराकार से परे उस त्रिगुणातीत, शुक्रमयी स्वरूप वाले ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाया, तो विवश होकर उसे निराकार तथा रूप से रहित मान लिया । प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वरूप अवश्य होता है, भले ही हमें अपनी सामान्य बुद्धि से उसका अनुभव न हो सके ।

अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य ॥

ऋग्वेद मंडल १०/सू. ७/मं. ३

पदार्थ—मैं (बृहतः अग्नेः) उस महान ब्रह्म के (अनीकं) बल की (सपर्यम्) वन्दना करता हूँ । (दिवि) प्रकाशमय मोक्षधाम में विराजमान (सूर्यस्य) सर्व प्रकाशक ब्रह्म के (यजतं शुक्रं) पूजनीय शुक्रमयी स्वरूप की मैं उपासना करूँ ।

^१ नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितो नरापत्यमिति वा । निरुक्त अ. ११/पा. ४/खं. ३५

^२ क्षयन्तं-निवसन्तम् । निरु. अ. ५/पाद २/खं. ८

भावार्थ—यजुर्वेद (३१/३) के ‘पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि’ में ‘दिवि’ पद का अर्थ ‘प्रकाशमय मोक्षधाम’ है। ब्रह्म का शुद्ध त्रिगुणातीत स्वरूप वही है। उस अविनाशी त्रिपाद अमृत में, प्रकृति का साकार या निराकार स्वरूप नहीं है, अपितु वहां सर्वत्र ही ब्रह्म का शुक्रमयी (नूरमयी) स्वरूप कण-कण में ओत-प्रोत हैं। इस मन्त्र में उसी शुक्रमयी स्वरूप की उपासक के द्वारा वन्दना करने की कामना की गई है।

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद्विषुरुपा भवाति ।

यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥

ऋ. मंडल १०/सू. १२/मं. ६

पदार्थ—(यत्) जो (सलक्ष्मा) समान लक्षणों से युक्त स्त्रीवत् प्रकृति (विषुरुपा भवति) विविधि रूपों से सम्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में (अमृतस्य) अमृत रूप उस ब्रह्म का (नाम) स्वरूप (दुर्मन्तु) गहन है। (यः) जो पुरुष उस (यमस्य)^१ नियामक ब्रह्म के (सुमन्तु) सुख से मनन करने योग्य उस अमृत स्वरूप का (मनवते) मनन करता है, हे (अग्ने ऋष्व) महान् ! हे ब्रह्म ! आप (अ प्रयुच्छन्) प्रमाद रहित होकर (तम् पाहि) उसकी रक्षा कीजिए।

भावार्थ—प्रकृति के दो स्वरूप (साकार तथा निराकार) हैं। ये दोनों एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। कार्य जगत के अग्नि, जल, पृथ्वी तथा इनसे निर्मित पदार्थों का स्वरूप साकार होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में निराकार से साकार एवं महाप्रलय में साकार का निराकार में परिवर्तन होता है। महत्तत्त्व को ही निराकार कहते हैं। अहंकार तथा आकाश का भी स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसे भी निराकार कहा जा सकता है।

साकार तथा निराकार के इन दोनों ही स्वरूपों से भिन्न ब्रह्म का स्वरूप होता है, जो अमृतमय है। उसके उस अविनाशी, त्रिगुणातीत स्वरूप में कदापि वैकारिक परिवर्तन नहीं होता है। वह सदा एकरस, अविनाशी स्वरूप वाला है। उसके उस अमृतमय स्वरूप को वाणी से इस प्राकृतिक जगत के विनाशी स्वरूपों के दृष्टान्त से वर्णन करना बहुत कठिन है। यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो उसके स्वरूप के मनन करने का वर्णन इस मन्त्र में नहीं होता।

महि ज्योतिर्भिन्नं त्वा विचक्षण भास्वन्तं वक्षुषेचक्षुषे मयः ।

आरोहन्तं बृहत् पाजसस्परि वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ३७/मं. ८

^१ यमो यच्छतीति सतः । निरु. अ. १०/पा. २/खं. १९ स यच्छति यमयत्युपरमयति जीवनं जीवनवतां जंगमस्थावरानाम् “यम उपरमे” (भ्वादि.) ततः पचाद्यच् ।

पदार्थ—हे (विचक्षण) जगत के द्रष्टा ! (चक्षुषे-चक्षुषे) प्रत्येक नेत्र के लिए (मयः) सुख और (महि ज्योतिः बिभ्रतम्) महान तेज को धारण करते हुए (भास्वन्तं) अपने शुक्रमयी प्रकाश से दीप्त, (बृहतः पाजसः परि) बड़े भारी बल वाले काल के ऊपर (आरोहन्तं) चढ़े हुए, हे (सूर्य) ब्रह्म ! (त्वा) तुम्हारा (वयं) हम सब (प्रति पश्येम) साक्षात् करें ।

भावार्थ—यह सम्पूर्ण कार्य रूप जगत काल के अधीन है । ब्रह्म का स्वरूप काल से सर्वथा परे है । महान तेज को धारण करने वाला वह ब्रह्म अपने शुक्रमयी स्वरूप से सुशोभित है । इस मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् दर्शन करने की कामना की गई है । यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो उसका दर्शन करने का प्रश्न ही नहीं हो सकता था । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म अवश्य ही प्राकृतिक स्वरूपों से भिन्न स्वरूप वाला है, जिसका अनुभव मानवीय ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता है ।

ऋभुक्षा वाजो रथस्पतिर्भगो रण्वः शंसः शशमानस्य पातु नः ।

ऋ. मंडल १०/सू. ६४/मं. १०

पदार्थ—वह (ऋभुक्षाः)^१ महान (वाजः) बलशाली, (रथः पतिः) सर्वरसों का स्वामी (रण्वः) अति रमणीय, (भगः)^२ स्वरूप-ऐश्वर्यवान (शंसः) सर्वस्तुत्य, ब्रह्म, (नः शशमानस्य) हममें से स्तुतिकर्ता की (पातु) रक्षा करें ।

भावार्थ—स्वरूप से रहित कोई भी पदार्थ कदापि रमणीय नहीं हो सकता है । इस ऋचा में सर्वरसों के स्वामी, अनन्त बल से युक्त उस महान ब्रह्म के लिए, ‘रण्व’ पद का प्रयोग हुआ है । ‘रण्व’ का अर्थ होता है- ‘अति रमणीय’ । निराकार कदापि रमणीय नहीं हो सकता है ।

तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः ।

ऋ. मंडल १०/सू. ९१/मं. ५

पदार्थ—(वर्ष्यस्य इव विद्युतः) बरसने वाले मेघ की विद्युत की चमकती (श्रियः) शोभा या कान्तियों के तुल्य (तव श्रियः चिकित्रे) तेरी कान्तियां जानी जाती हैं और (तव श्रियः) तेरी कान्तियां (उषसां केतवः न) प्रभात-वेला की रश्मियों के तुल्य प्रतीत होती हैं ।

भावार्थ—इस ऋचा में ब्रह्म के शुक्रमयी स्वरूप की कान्ति का वर्णन मेघ में स्थित विद्युत की चमकती शोभा से तथा प्रातः कालीन फैलने वाली सूर्य की

^१ ‘ऋभुक्षाः’ ‘उरू’ उपपदात् ‘क्षि निवासे’ (तुदादि.) ततो ङिनिः प्रत्ययो बाहुलकादौणादिकः । उरू शब्दस्य ‘ऋभु’ भावश्छान्दसः । यद्वा ‘ऋभु’ उपपदात् ‘क्षि ऐश्वर्ये’ ततः पुर्ववत्-ङिनिः प्रत्ययः । ऋभुक्षिन्-ऋभुक्षाः “पथिमथ्यृभुक्षामात्” (अष्टा. ७/१/७५)

^२ भगं भजनीयं महदैश्वर्यं स्वरूपैश्वर्यमध्यात्मज्ञान रूपं ।

रश्मियों के दृष्टान्त से किया गया है। यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो दृष्टान्त के रूप में ब्रह्म की कान्ति की उपमा विद्युत की चमक से करने का कोई महत्व नहीं रहता। इस ऋचा के उपमा अलंकार युक्त वर्णन से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रह्म निराकार और रूप से रहित नहीं, अपितु चेतन, अविनाशी-धाम में शुक्रमयी स्वरूप वाला है।

द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ।

ऋ. मंडल १०/सू. ९६/मं. ३

पदार्थ—वह ब्रह्म (द्युम्नी) ऐश्वर्यवान्, (सुशिप्रः) उत्तम बल युक्त, (हरिमन्यु-सायकः) दुष्टों को हरण करने वाले क्रोध रूप शस्त्र वाला है। उस (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् ब्रह्म में (हरिता रूपा मिमिक्षिरे) कमनीय मनोहर अनेक रूप प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रकृति के इस परिवर्तनशील तथा विनाशी जगत से परे ब्रह्म के उस चेतन तथा अविनाशी धाम (योगमाया) में उसकी अखंड लीला होती है। वहां कण-कण में ब्रह्म का कमनीय, मनोहर, शुक्रमयी स्वरूप शोभायमान है। उस अविनाशी धाम में स्थित ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए इस ऋचा में कहा गया है कि उसमें अनेक मनोहर रूप प्राप्त होते हैं। क्या निराकार में भी मनोहर रूप की कल्पना की जा सकती है? यदि नहीं! तो ब्रह्म को निराकार या स्वरूप से रहित मानने की भूल क्यों?

युवानं विश्वपतिं कविं विश्वादं पुरुवेपसम् । अग्निं शुम्भामि मन्मभिः ॥

ऋ. मंडल ८/सू. ४४/मं. २६

पदार्थ—मैं (युवानं) सदा युवा स्वरूप वाले (विश्वपतिं) प्रजाओं के स्वामी, (कविं) क्रान्तदर्शी, (विश्व-अदं) समस्त कार्य जगत को महाप्रलय के द्वारा उसके मूल कारण में लीन करने वाले, (पुरुवेपसम्) नाना कर्म करने वाले, (अग्निं) तेज स्वरूप ब्रह्म को (मन्मभिः) मननीय स्तोंत्रों से (शुम्भामि) अलंकृत करता हूँ।

भावार्थ—जीव के कर्मों और ब्रह्म के कर्मों में महान् अन्तर होता है। कभी प्रकृति के सुखों के भोग करने या उससे अलग होकर भव-बन्धन से छूटने के लिए कर्म करता है, किन्तु कूटस्थ ब्रह्म प्रकृति एवं जीवों का शासनकर्ता है। उसकी इच्छा मात्र से असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है। ब्रह्म की इस स्वाभाविक लीला को वस्तुतः कर्म नहीं कह सकते हैं। अपने अविनाशी, त्रिगुणातीत, शुक्रमयी स्वरूप वाला वह ब्रह्म सर्वदा तरुण स्वरूप वाला है। उसके उस स्वरूप में कदापि जीर्णता नहीं होती है।

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ॥

ऋ. मंडल १०/सू. ९६/मं. ८

पदार्थ—(यः) जो ब्रह्म (हरि-श्मशारुः) किरणों को श्मश्रुवत् धारण करने वाला और (हरि-केशः) अपनी शुक्रमयी किरणों को केशों के समान धारण करने वाला तेजोमय (आयसः) सुवर्ण के बने पदार्थ के तुल्य कान्तिमान, (हरि-पाः) सब मनुष्यों और जीवों का पालन, (तुरः पेये) अति शीघ्र पालन करने के कार्य में (अवर्धत) सबसे बड़ा है।

भावार्थ—इस ऋचा में मनुष्य के सिर के केशों के दृष्टान्त से ब्रह्म के शुक्रमयी युवा स्वरूप से प्रादुर्भूत अखंड शुक्रमयी किरणों का वर्णन किया गया है। यदि यह शंका की जाये कि ब्रह्म का कोई शुक्रमयी स्वरूप नहीं है, अपितु सभी प्रकाशमान नक्षत्र ही उसकी जाज्वल्यमान किरणों के तुल्य हैं, तो इसका समाधान यह है कि मनुष्य के सिर के केश सर्वदा ही इसके सिर से संयुक्त रहते हैं। अतः जहां ब्रह्म का स्वरूप होगा, वहीं उसकी किरणें भी होंगी।

जब इस नाशवान कार्य जगत में ब्रह्म का शुक्रमयी (नूरमयी) स्वरूप ही नहीं है, तो सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्रों को ब्रह्म की प्रदीप्त किरणें मानना अनुचित हैं। चेतन ब्रह्म की किरणें भी चेतन और अखंड होनी चाहिए, जबकि सूर्य आदि सभी प्रकाशवान नक्षत्र जड़ प्रकृति के परिवर्तित होते रहने वाले विनाशी स्वरूप हैं। 'निराकार' स्वर्ण के तुल्य न तो कान्तिमान हो सकता है और न उसकी शुक्रमयी किरणें ही हो सकती हैं। पुनः ब्रह्म को निराकार मानने की भूल क्यों ?

प्रश्न—सूर्यरश्मिहरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम् ।

ऋग्वेद (मंडल १०/सू. १३९/मं. १) में कहा गया है कि सूर्यादि जिसके रश्मि तुल्य हैं और वायु आदि केश तुल्य। पुनः ऋग्वेद (मं. १०/सू. ९६ मं. ८) में—
—'हरिश्मशारुहरिकेश' में सूर्य आदि को ब्रह्म की किरणें मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर—प्रकृति से परे ब्रह्म के उसे अविनाशी धाम में इतना अधिक तेज है, कि वहां के एक-एक कण के तेज के सामने करोड़ों सूर्यों का प्रकाश धूमिल पड़ जाएगा। ब्रह्म के उस शुक्रमयी प्रकाश के तेज की किरणों की यदि प्रकृति के सभी प्रकाशमान नक्षत्रों से दृष्टान्त के रूप में तुलना कर दी जाये, तो कोई अनुचित बात नहीं।

एक जरा तिन जिमी का, ताके तेज आगे सूर कोट ।

सो सूरज दृष्टें न आवहीं, इन जिमी जरे की ओट ॥

कलश हिन्दुस्तानी प्र. २० चौ. १८

ऋग्वेद (मं. १०/सू. १३९/मं. १) में इसी प्रकार का आलंकारिक वर्णन है। इस ऋचा का यह आशय है कि अपार तेज वाले ब्रह्म के शुक्रमयी स्वरूप की किरणों के समक्ष भी सभी प्राकृतिक सूर्यों का प्रकाश फीका पड़ जाएगा। इसलिए दृष्टान्त के रूप में शुक्रमयी किरणों से सूर्यादिकों की तुलना की गई है। किन्तु

ऋग्वेद (मंडल १०/सू. ९६/मं. ८) में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। उसकी कान्ति को सुवर्ण से बने देदीप्यमान पदार्थ की तरह माना गया है तथा जिस प्रकार सिर के केश हमेशा सिर से संयुक्त रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के उस शुक्रमयी स्वरूप से अखंड, शुक्रमयी किरणें निकलती हुई उस अविनाशी धाम में अनेक प्रकार की लीलाएं करती हैं। जड़ सूर्यों को चेतन ब्रह्म की किरणें कहना अनुचित है।

जानन्तो रूपमकृपन्त विप्रा मृगस्य घोषं महिषस्य हिग्मन् ।

ऋ. मंडल १०/सू. १२३/मं. ४

पदार्थ—(विप्राः) मेधावी, ज्ञानी पुरुष (मृगस्य) खोजने योग्य ब्रह्म के (रूपम्) उज्ज्वल रूप को (जानन्तः) जानते हुए (अकृपन्त) उसी की स्तुति करते हैं और वे (महिषस्य)^१ महान ब्रह्म के (घोषं) नाद को (ग्मन्) जानते हैं, श्रवण करते हैं।

भावार्थ—सर्वदा स्तुति के योग्य, ब्रह्म के अविनाशी शुक्रमयी स्वरूप का ज्ञान, मेधावी पुरुषों को ही होता है। सामान्य जन उसका वास्तविक स्वरूप नहीं जान पाते हैं। वे या तो ब्रह्म का स्वरूप साकार मानते हैं या निराकार। किन्तु ब्रह्म का स्वरूप इन दोनों ही प्राकृतिक स्वरूपों से भिन्न है। यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो इस ऋचा में 'रूपम्' पद का प्रयोग नहीं होता।

अग्ने प्राव जरितारं यविष्ठाग्ने महि द्रविणमा यजस्व ।।

ऋ. मंडल १०/सू. ८०/मं. ७

पदार्थ—(यविष्ठ अग्ने) हे अत्यन्त तरुण स्वरूप वाले ब्रह्म ! आप (जरितारम् प्र अव) स्तुतिशील इस उपासक की अवश्य रक्षा कीजिए। (अग्ने) हे ब्रह्म ! आप (महि द्रविणं आयजस्व) महान धनैश्वर्य आदि प्रदान कीजिए।

भावार्थ—उपासकों की रक्षा करने वाला वह ब्रह्म प्रकृति से परे अविनाशी धाम में शुक्रमयी, अत्यन्त तरुण स्वरूप वाला है। वह कभी भी जीर्णता को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जीर्णता या वैकारिक परिवर्तन केवल पंचभौतिक स्वरूपों में ही होते हैं, त्रिगुणातीत शुक्रमयी शरीरों में कदापि नहीं।

देवस्त्वष्टा सिवता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।

ऋ. मंडल ३/सू. ५५/मं. १९

^१ महिषो मृगाणामित्येष हि महान भवति । निरु. अ. १३(१४) । पा. २(१) खं. ७२ महिषो महन्नाम (निघ. ३/३) विप्रः - मेधाविनाम । (निघ. ३/१५)

पदार्थ—(त्वष्टा)¹ ब्रह्म प्रकाश करने वाला (देवः) प्रकाशमान, (विश्वरूपः) जिससे सम्पूर्ण रूप हैं, (सविता) प्रेरणा करने वाले सूर्यमण्डल के सदृश है, (प्रजाः) जो उत्पन्न हुए प्राणियों को (पुपोष) पुष्ट करता है।

भावार्थ—जो ब्रह्म अविनाशी ब्रह्मधाम में चेतन प्रकाश स्वरूप है और सम्पूर्ण धाम को अपने शुक्रमयी प्रकाश से प्रकाशित करने वाला है। वह अवश्य ही रूप वाला है। जहां भी प्रकाश्य और प्रकाशक का वर्णन हो, वहां प्रकाशक का स्वरूप अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रकाश का मूल स्रोत कदापि निराकार या रूप से रहित नहीं हो सकता है।

सूरूपकृत्तुमृतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥

ऋ. मंडल १/सू. ४/मं. १

पदार्थ—(सुदुघाम् इव गोदुहे) जैसे दूध की इच्छा करने वाला मनुष्य दूध दोहन के लिए सुलभ दुहाने वाली गौओं को दोहकर अपनी कामना को पूर्ण कर लेता है, वैसे ही हम लोग (द्यविद्यवि) सब दिन अपने निकट स्थित मनुष्यों को (अतये) विद्या की प्राप्ति के लिए (सूरूपकृत्तुम्) सौन्दर्य के निर्माता ब्रह्म की (जुहूमसि) स्तुति करते हैं।

भावार्थ—सौन्दर्य का निर्माता स्वयं सौन्दर्य से रहित नहीं हो सकता। प्रकृति से परे अविनाशी ब्रह्मधाम में ब्रह्म का अपार शुक्रमयी सौन्दर्य लीला कर रहा है, जिसका प्रकृति के इस परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड में किसी वस्तु से दृष्टान्त देकर स्पष्ट वर्णन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकृति के संसार में भी अनेक कमनीय, आकर्षक स्वरूप हैं जिसका निर्माण ब्रह्म की सत्ता के अधीन हुआ है।

उन स्वरूपवान पदार्थों का निमित्त कारण 'ब्रह्म' तथा उपादान कारण प्रकृति है। प्रकृति के इस ब्रह्माण्ड में दिखाई पड़ने वाले, मनोहर स्वरूप वाले पदार्थों में ब्रह्म का निज सौन्दर्य नहीं है, अपितु वह तो उसकी रचना की सुन्दरता है। जिसकी रचना इतनी सुन्दर है, वह स्वयं अपार सौन्दर्य का स्वामी अविनाशी ब्रह्म परमधाम में विराजमान है। उसको सौन्दर्य युक्त कह कर अनेक मन्त्रों में सम्बोधित किया गया है।

‘शुक्रोसि भ्राजोऽसि’ । (अथर्व. का. १७/सू. १/मं. २०) तथा ‘रुचिरसि रोचोऽसि’ । (अथर्ववेद का. १७/सू. १/मं. २१)

¹ 'त्वष्टा' तूर्ण क्षिप्रमश्रुते व्याप्नोतीति नैरुक्ता मन्यन्ते । 'तूर्ण' इत्युपपदात् "अशूङ् व्याप्तौ" (स्वादि.) ततः 'तृन्' प्रत्ययो निपात्यते 'नमृनेष्टृत्वष्टृ' (उणादि. २/१६) तूर्णस्य 'तृ' शिष्टः - अश् तृन् त्वष्टृ-त्वष्टा । अथ च 'त्विष दीप्तौ' (भ्वादि.) धातोः-यद्वा "त्वक्षू तनूकरणे" (भ्वादि ।) ततः करणार्थः सामान्यो गृहीतस्तत्र करणे, धातोः पूर्ववत् तृन् प्रत्ययो निपातने सम्भावनीयः । त्विषेरूपधाया अकारादेशः त्वक्षतेरनिट्त्वं च निपातने । शीघ्रव्यापी, दीपनशीलः, कार्यकरणशीलः । नि. सम्मर्श अ. ८/पा. २/सं. १४

इन मन्त्रों में ब्रह्म को कान्तिमान तथा मनोहर कहा गया है । ऐसे शुक्रमयी, अखंड, अनन्त, दिव्य सौन्दर्य से युक्त ब्रह्म को निराकार और रूप से रहित कहना अनुचित है ।

विशामासामभयानामधिक्षितं गीर्भिरु स्वयशयं गृणीमसि ।

ग्राभिर्विश्वाभिरदितिमनर्वणमक्तोर्युवानं नृमणा अधा पतिम् ॥

ऋ. मंडल १०/सू. १२/मं. १४

पदार्थ—(आसाम् अभयानाम् विशाम्) इन भय रहित प्रजाओं के बीच (अधि-क्षितम्) शासक रूप से विराजते हुए (स्वयशसम्) अपने पराक्रम और बल से यशस्वी उस ब्रह्म की हम (गीर्भिः गृणीमसि) नाना वेद-वाणियों से स्तुति करते हैं । उस (अदितिं) अविनाशी (अनर्वणम्) अन्यो से न चलने वाले अर्थात् स्वतन्त्र, (युवानम्) सर्वदा युवा स्वरूप वाले, (पतिम्) समस्त प्रजाओं के स्वामी, या पालक, (नृमणाः) मनुष्यों के मध्य ज्ञानी के तुल्य उन पर अनुग्रह करने वाले ब्रह्म की (अक्तोः) रात-दिन हम (विश्वाभिः ग्राभिः) समस्त वाणियों से (गृणीमसि) स्तुति करते हैं ।

भावार्थ—उस महान यशस्वी, स्वतन्त्र, अविनाशी अनादि ब्रह्म का स्वरूप शुक्रमयी, तथा अतीव तरुण है । उसके उस अद्वैत त्रिगुणातीत स्वरूप में क्षुधा, तृष्णा, जीर्णता, थकान आदि प्राकृतिक विकृतियां न तो कभी हुई हैं और न कभी होगी, अपितु वह सर्वदा एकरस स्वरूप वाला है । ऐसे अद्भूत, दिव्य, शुक्रमयी, पूर्ण युवा स्वरूप वाले अविनाशी ब्रह्म को साकार, निराकार तथा रूप-रहित जैसी कल्पित मान्यताओं में वर्णित करना भ्रान्ति का पोषण करना है ।

भ्रान्तिवश अधिकतर लोग साकार को सगुण तथा निराकार को निर्गुण मानते हैं । किन्तु ‘सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म’ तैत्तरीयोपनिषद् (ब्रह्मा. २/१) के अनुसार ब्रह्म अनन्त ज्ञान, अनन्त विद्या तथा अनन्त शक्ति से युक्त होने के कारण सगुण कहलाता है क्योंकि ‘यो गुणेभ्यो वर्तते सः सगुणः । अशब्दं अस्पर्शं अरूपं अव्ययं तथा अरसं नित्यम् अगन्धवत् च यत्’ । कठोपनिषद् (३/१५) के अनुसार ब्रह्म प्राकृतिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से रहित होने के कारण निर्गुण कहलाता है, “यो गुणेभ्यो निर्गतं सः निर्गुणः” । सगुणता निर्गुणता प्रत्येक पदार्थ में है, ब्रह्म की चेतनता, अविनाशिता, सर्वज्ञता, सृष्टि कर्तृत्व आदि गुण प्रकृति में नहीं तथा प्रकृति की जड़ता, प्राकृतिक शब्द, स्पर्श आदि गुणों का ब्रह्म में अभाव है इसलिए ब्रह्म को सगुण और निर्गुण तो कहा जा सकता है किन्तु साकार या निराकार कदापि नहीं ।

अक्षर तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के स्वरूप विषय से सम्बन्धित यह षष्ठ समुल्लास सम्पूर्ण हुआ । इसके आगे ‘आत्म-तत्त्व’ की समीक्षा की जाएगी ।

सप्तम समुल्लास

आत्म-तत्त्व

जो कोई जीव होए माया को, सो चलियो राह लोक सत जी ।
जो कोई होवे निराकार पार को, सो राह हमारी चलत जी ॥
वासना को तो जीव न कहिए, जीव कहिए तो दुख लागे जी ।
झूठ की संगते झूठा केहेत हों, पर क्या करें जानों क्योंए जागे जी ॥
ए कठन बचन मैं तो केहेती हूं, ना तो क्यों कहूं वासना को जीव जी ।
जिन दुख देखे गुन्हेगार होत हो, आग्या न मानो पिउ जी ॥

प्रकाश हिन्दुस्तानी प्र. ३० चौ. ४८-५०

आर्ष साहित्य में 'आत्मा' पद का प्रयोग जीव, अक्षर तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के लिए किया गया है। संस्कृत-साहित्य में जीव, अक्षर तथा अक्षरातीत पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं, अतः 'आत्मा' पद भी पुल्लिङ्ग ही माना गया है। किन्तु 'श्रीतारतमवाणी' के अनुसार आत्मा जीव के लक्षणों से पूर्णतया भिन्न है। वह अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की आनन्द स्वरूपा है, वैसे ही जैसे—सूर्य की किरणें सूर्य का ही स्वरूप होती हैं। जीव और आत्मा का भेद 'श्री प्राणनाथ जी' को छोड़कर अन्य किसी ने भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा है। जीव और आत्मा में क्या भेद हैं? इसको समझने के लिए जीव के लक्षणों को समझना अनिवार्य है।

यद्यपि ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में जीव को ही आत्मा कहा है—

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । कठोपनिषद् ३/३

अर्थात् आत्मा (जीव) को रथी जान, शरीर को ही रथ जान ।

२. हृदि ह्येष आत्मा । प्रश्नोपनिषद् ३/६

निश्चय ही यह जीव हृदय में है ।

३. स वा एष आत्मा हृदि । छन्दो. ८/३/३

वह जीव हृदय में है ।

४. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः सः विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/९

हृदय में स्थित जीव अणु एकदेशी हैं। उसका परिमाण श्वेताश्वतरोप-निषद् में बाल के अग्रभाग के १/१०,००० वें भाग के बराबर माना गया है।

५. दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। बृह. ३/९/४

शरीर में १० प्राण हैं और ग्यारहवां जीव है।

६. जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते। छान्दोग्य ६/११/३

यह शरीर जीव के निकल जाने पर मर जाता है। स्वयं जीव नहीं मरता।

७. तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः।

ऋग्वेद मंडल १०/सू. ७२/मं. ५

सृष्टि के प्रारम्भ में जीव प्रकट होते हैं।

८. इच्छाद्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

न्यास सू. १/१/१०

अर्थात् न्यायशास्त्र के अनुसार जीव (आत्मा) के लक्षण है—(इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, (द्वेष) दुखादि की अनिच्छा, वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल, (सुख) आनन्द, (दुख) विलाप, अप्रसन्नता, (ज्ञान) विवेक से पहचानना।

९. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुख दुःखे इच्छाद्वेष प्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि। वैशेषिक सू. ३/२/४

अर्थात् (प्राण) प्राणवायु को बाहर निकालना, (अपान) प्राणवायु को बाहर से भीतर लेना, (निमेष) आंख को मींचना, (उन्मेष) आंख को खोलना, (जीवन) जीवन, कार्यवृत्ति, क्षतः प्ररोहण आदि, (मन) निश्चय, स्मरण और अहंकार करना, (गति) चलना, (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों को चलाना (अन्तर्विकार) भिन्न-भिन्न क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादि युक्त होना (विशेष है) ये जीव के गुण हैं। इन्हीं गुणों से जीव की पहचान होती है, क्योंकि वह स्थूल नहीं है।

‘अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतम् कर्म शुभाशुभम्’। जीव अपने किये हुए कर्मों (संचित, प्रारब्ध, और क्रियमाण) का फल भोगने के लिए विवश है। वह आनन्द की खोज में प्रकृति का भोग करता है और अनेक योनियों में तब तक भटकता रहता है जब तक मुक्त नहीं हो जाता। जीव का मूल मोहतत्व के अन्दर प्रकट होने वाला विराट् पुरुष (ईश्वर, ओ३म्) है।

ए ख्वाबी दम सब नींद लो, सब नींद के आधार।

जो कदी आगे बल करे, तो गले नींद में निराकार॥

सनंध प्र. ५ चौ. ४९

सांख्य दर्शन के अनुसार—(अ. १/सू. ६१) प्रकृति के २४ तत्वों (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच स्थूलभूत) के साथ २५वां चेतन तत्व जीव है। इससे परे ब्रह्म है। वेद तथा अन्य आर्ष-ग्रन्थों में अक्षर ब्रह्म को भी 'आत्मा' पद से वर्णित किया गया है। 'अत सातत्यगमने' इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है। 'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' अर्थात् जो ब्रह्म अपने स्वरूप से उस ब्रह्मधाम में निरन्तर, एकरस, व्यापक है, उस ब्रह्म को 'आत्मा' कहते हैं। यथा—

१. गौणश्चेन्नात्मशब्दात् । वे. अ. १/पा. १/सू. ६

(चेत) यदि (गौणः) प्रयोग माने तो (न) नहीं, क्योंकि (आत्म शब्दात्) ईक्षण क्रिया के प्रकरण में आत्मा शब्द (ब्रह्म के लिए) प्रयुक्त है।

२. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योन्तर आत्माऽऽनन्दमयः । तै. २/१/५

इसमें भी 'आत्मा' शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है।

३. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । वे. अ. १/पा. २/सू. ११

अर्थात् परम गुहा में देखने से दो आत्मा (जीव तथा ब्रह्म) प्रविष्ट हैं।

४. आत्मा एव इदमग्र आसीत् । बृहदा. अ. १/ब्रा. ४/मं. १

अर्थात् सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म था। इस उपनिषद् के कथन में 'आत्मा' शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी का समानार्थक एक दूसरा वाक्य है—“ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्”। (शत. ११/१/११/१) अर्थात् सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म था। चौथे उदाहरण में वर्णित 'आत्मा' शब्द को हटाकर 'जीव वा इदमग्र आसीत्' लिखना कोई भी सहन नहीं करेगा। यद्यपि जीव के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में हुआ है, किन्तु प्रकरण विरुद्ध होने के कारण आत्मा का वहां अर्थ जीव नहीं अपितु ब्रह्म होगा।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. ४४

इस मन्त्र में 'आत्मा' पद का अर्थ अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म होता है। इस प्रकार इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'आत्मा' शब्द अक्षर तथा अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है तथा जीव के लिए भी, किन्तु जीव के लक्षण अक्षर तथा अक्षरातीत से भिन्न होने के कारण 'आत्मा वा इदमग्र आसीत्' को 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' तो कहा जा सकता है, किन्तु 'जीव वा इदमग्र आसीत्' कदापि नहीं कहा जा सकता है। अतः स्पष्ट है जीव, ब्रह्म के लक्षणों से भिन्न है। पुनः अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की आनन्द स्वरूपा आत्माओं को जीव कहना अनुचित है। हृद, बेहृद से परे उस अविनाशी परमधाम में सच्चिदानन्द (सत् +

चित् + आनन्द) पूर्णब्रह्म का स्वरूप कण-कण में विराजमान है। सत् अर्थात् अक्षर ब्रह्म, चिद्घन स्वरूप तथा आनन्द अंग, ये तीनों मिल कर सच्चिदानन्द अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप माने जाते हैं। उस पूर्णब्रह्म की आनन्द अंग स्वरूपा आत्माओं तथा चिद्घन स्वरूप में वही सम्बन्ध है, जो सूर्य तथा उसकी किरणों में, सागर तथा उसकी लहरों में, हाथ और हाथ की अंगुलियों में होता है। जिस प्रकार सूर्य तथा उसकी किरणों का स्वरूप एक ही होता है और वे कभी सूर्य से अलग नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार आत्माओं का स्वरूप भी पूर्णब्रह्म की तरह ही है। यहीं नहीं अपितु सारा परमधाम भी पूर्णब्रह्म का ही स्वरूप है। इस जड़ प्रकृति के परिवर्तनशील विनाशी जगत से उन आत्माओं तथा पूर्णब्रह्म के स्वरूप का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उन आत्माओं का जन्म-मरण तथा कर्मफल भोग से कोई भी सम्बन्ध नहीं है—

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्कमभितोऽविशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥

अथर्ववेद का. १०/सू. ८/मं. ३

पदार्थ—(तिस्रः ह प्रजाः) सात्विक, राजसी और तामसी—यह तीन प्रजायें (अति आयन्) अत्याधिक आवागमन को प्राप्त होती है और दूसरी अर्थात् त्रिगुणातीत, बन्धनमुक्त प्रजाएं, (अर्कम् अभितः) अर्चना करने योग्य परम पूजनीय परमात्मा के पास (नि अविशन्त) आश्रय लेती हैं। वह महान परब्रह्म अपने अविनाशी सत्ता के स्वरूप (अक्षर) के द्वारा (रजसः) समस्त लोकों का (विमानः) विशेष रूप से निर्माण करता हुआ (तस्थौ) अपने धाम में विराजमान है और (हरितः) सूर्य के समान अति प्रकाशमान (हरिणीः) परमधाम की समस्त तेजस्विनी प्रकाशमान दिशाओं में (आ-विवेश) व्यापक है।

भावार्थ—सांख्य दर्शन में तीन सृष्टियां मानी गई हैं। सतोगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी।

१. उर्ध्वं सत्त्व विशाला ।

२. तमो विशाला मूलतः ।

३. मध्ये रजोविशाला ।

सांख्य दर्शन (अ. ३ सू. ४८-५०) के अनुसार इन सभी तीनों सृष्टियों में कम या अधिक सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की मात्रा अवश्य होती है। ये तीनों सृष्टियां ही 'जीव सृष्टि' की कोटि में मानी जाती है, जो प्रकृति के बन्धन में होकर कर्मफल भोग के अनुसार विभिन्न योनियों में शरीर धारण करती है। इनसे परे त्रिगुणातीत ईश्वरी और ब्रह्म सृष्टियां हैं, जिनका सम्बन्ध अक्षर अथवा

अक्षरातीत पूर्णब्रह्म से होता है। ब्रह्म सृष्टि कदापि माया के बन्धन में नहीं आती हैं। वस्तुतः ब्रह्म सृष्टि को ही आत्माएं कहते हैं।

ए बानी सुनते जिनको, आवेस न आया अंग।
सो नहीं नेहेचे वासना, ताको करूं जीव भेलो संग ॥
वासना जीव का बेवरा एता, ज्यों सूरज दृष्टें रात।
जीव का अंग सुपन का, वासना अंग साख्यात ॥
भी बेवरा वासना जीव का, याके जुदे जुदे हैं ठाम।
जीव का घर है नींद में, वासना घर श्री धाम ॥

कलश हिन्दुस्तानी प्र. २३ चौ. ६०-६२

अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के सूर्य तथा उसकी किरणों की भांति शाश्वत सानिध्य में रहने वाली, उनके आनन्द अंग की आनन्द स्वरूपाओं को ही आत्मायें या वासनायें कहते हैं। 'वासना' शब्द से तात्पर्य माया जनित वैकारिक वासना नहीं, अपितु परब्रह्म के ही अद्वैत स्वरूप में अनादि काल से आनन्द लीला में रत उनकी आनन्द स्वरूपा आत्माओं से हैं।

इस प्रकार जीव जहां कर्मफल भोग के बन्धन में है, आत्मा सर्वदा परब्रह्म के असीम आनन्दमयी लीला में मग्न है।

जो जीव होसी सुपन के, सो क्यों उलंघे सुन।
वासना सुन उलंघ के, जाए पोहोंचे अछर वतन ॥
ए सबे तुम समझियो, वासना जीव विगत।
झूठा जीव नींद ना उलंघे, नींद उलंघे वासना सत ॥

कलश हि. प्र. २४ चौ. २१, २२

प्रकृति के बन्धन में रहने वाले जीव प्रायः साकार तथा निराकार के प्राकृतिक स्वरूपों से परे परब्रह्म के स्वरूप, धाम तथा लीला का ज्ञान नहीं जान पाते हैं। इसलिए विपरीत आत्मायें सर्वदा परब्रह्म से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं हो सकती क्योंकि सागर तथा उसकी लहरों की भांति वे उन्हीं का स्वरूप हैं।

मैं तो कहूं जो तुम न्यारे हो, पाओ पल की जुदागी ना सहो।
मैं तो कहूं जो मेरी ओछी मत, तुम हमको कई सुख चाहत ॥

प्रकाश हि. प्र. २४ चौ. १६

विरहा नहीं ब्रह्माण्ड में, बिना सोहागिन नार।
सोहागिन आतम पिउ की, वतन पार के पार ॥

कलश हि. प्र. ९ चौ. २३

वैदिक साहित्य में प्रायः उस अविनाशी ब्रह्म को माता, पिता, स्वामी, सखा आदि अनेक भावों के रूप मान कर स्तुति की गई है।

१. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

ऋ. ८/९८/११

इस मन्त्र में अक्षर ब्रह्म को माता और पिता के रूप में मान कर स्तुति की गई है।

२. योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥

ऋ. १/३०/७, यजु. ११/१४, अथर्व. २०/२६/१, साम. ऐन्द्रकाण्ड प्र. २/खं. ५/द. ७/मं. ९ (१६३)

पदार्थ—अर्थात् हम (योगे-योगे) प्रत्येक योगावस्था में (वाजे-वाजे) और ज्ञान, बल प्राप्ति के निमित्त (तवस्तरम्) गति और वृद्धि प्रदान करने वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् ब्रह्म की स्तुति करते हैं, आह्वाहन करते हैं। हम उस ब्रह्म के (सखायः) सखा हैं। अतः (ऊतये) रक्षा के लिए उस ब्रह्म को बुलाते हैं।

३. स नो ददातु तां रयिमुहं पिशङ्गसन्दृशम् ।
इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ।

अथर्ववेद का. ६/सू. ३३/मं. ३

४. ग्राभिर्विश्वाभिरदितिमनर्वणमक्तोर्युवानं नृमणा अधा पतिम् ।

ऋ. मंडल १०/सू. ९२/मं. १४

इन दो मन्त्रों (संख्या ३-१४) में युवा स्वरूप वाले अक्षर ब्रह्म को पति भी माना गया है, क्योंकि वह ईश्वरी सृष्टि का पति भी है। जीव सृष्टि ही उस अक्षर ब्रह्म को माता-पिता, सखा, स्वामी आदि भावों के रूप में उपास्य मानती है, किन्तु आत्मा और परब्रह्म में सदैव अनन्य प्रेम (प्रिया-प्रियतम) भाव होता है। स्वामी-सेवक, सखा, माता-पिता आदि भावों की मान्यता कदापि आत्मा और परब्रह्म में नहीं होती है। अक्षर ब्रह्म उस अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की सत्ता का स्वरूप है। अतः सत्ता के स्वरूप में कदापि अनन्य प्रेम की पात्रता नहीं आ सकती है। प्रकृति के इस परिवर्तनशील जगत में सांसारिक सम्बन्धों में रजोगुण की अवस्था में आसक्ति तथा सतोगुण की अवस्था में स्नेह होता है। अनन्य प्रेम त्रिगुणातीत होता है। वह इस जगत में कहीं भी नहीं है। वह उस अनादि परमधाम में आत्माओं और परब्रह्म में ही है।

वेद में अनेक मन्त्रों में उस परब्रह्म को पति रूप में माना गया है।

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥

ऋ. १०/१४५/१, अथर्ववेद का. ३/सू. १८/मं. १

पदार्थ—मैं (इमां) इस (ओषधिं) पाप दहन करने के सामर्थ्य वाली, (वीरुधां) अज्ञान की विरोधिनी, (बलवत्-तमाम्) अत्यधिक बलवती ब्रह्मविद्या को (खनामि) खोदती हूँ या प्राप्त करती हूँ (यया) जिससे (सपत्नीं) सौत-अविद्या या माया का (बाधते) विनाश किया जाता है और (यया) जिससे आत्मा (पतिम्) अपने एक मात्र पति परब्रह्म को (संविन्दते) प्राप्त कर लेती है ।

भावार्थ—यह सम्पूर्ण पंचभौतिक जगत जीव सृष्टि से ही सम्बन्धित है । परब्रह्म तथा आत्माओं का शुक्रमयी, अखण्ड स्वरूप तो हृद-बेहृद से परे परमधाम में ही है । पति-पत्नी के अटूट-प्रेम में किसी अन्य सौत का होना किसी भी सौभाग्यवती नारी के लिए सह्य नहीं होता है । इस मन्त्र में अविद्या या माया को सौत मानकर परब्रह्म के प्रेम में बाधक माना गया है, जो यह सिद्ध करता है कि अव्यभिचारिणी, अनन्य प्रेम-लक्षणा भक्ति का सम्बन्ध ही परब्रह्म की सानिध्यता प्रदान कराता है । आत्मा और परब्रह्म में अटूट, अनन्य प्रेम का प्रतीक पति-पत्नी भाव ही माना जाता है । स्वामी-सेवक या पिता-पुत्र जैसे—दास या वात्सल्य भाव से परब्रह्म को अनन्य प्रेम लक्षणा भक्ति में उपास्य के रूप में नहीं माना जाता ।

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे पराणुद पतिं मे केवलं कृधि ॥

ऋ. १०/१४५/२, अथर्ववेद का. ३/सू. १८/मं. २

पदार्थ—(उत्तानपर्णे) ऊपर की ओर फैलने वाले ज्ञानमय पत्रों वाली, (सुभगे) सौभाग्य देने वाली, (देवजूते) मुमुक्षु विद्वानों द्वारा सेवित, (सहस्वति) बलदायिके हे ब्रह्मविद्या ! (मे) मेरी (सपत्नीं) सौत-अविद्या या माया को (पराणुद) दूर भगा दे और (केवलं) केवल एकमात्र आनन्द स्वरूप परब्रह्म को (मे) मेरा (पतिम् कृधि) पति बना दें ।

भावार्थ—शुद्ध हृदयों में ही ब्रह्मविद्या के पर्ण अर्थात् प्रज्ञान के रहस्य खुलते हैं । इसलिए उस ब्रह्मविद्या को उत्तान-पर्ण कहा गया है । देवयान-मार्ग से जाने वाले मुमुक्षु उसका सेवन करते हैं, इससे वह 'देवजूता' है । वह परब्रह्म के आश्रय में होने के कारण 'सहस्वती' है । इस मन्त्र में आत्मा के द्वारा यह कामना की गयी है कि यदि ब्रह्मविद्या के द्वारा सौत रूपी अविद्या या माया दूर हो जाये, तो मैं अपने प्रियतम आनन्द स्वरूप अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म को प्राप्त कर लूँ ।

इस प्रकार की कामना जीवों के द्वारा नहीं की जा सकती, क्योंकि जीव परब्रह्म को पति रूप में नहीं, अपितु स्वामी या सखा भाव के रूप में उपास्य मानता है।

यदि यह शंका की जाय की आत्मा-परब्रह्म में एक क्षण के लिए भी कदापि वियोग नहीं हो सकता और उस अनादि परमधाम में ही परब्रह्म का स्वरूप तथा आत्मायें हैं, तो आत्मा परब्रह्म से मिलने की कामना क्यों करेंगी ? तो इसका समाधान यह है कि इस प्रकार का वेद में वर्णन लाक्षणिक है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिस अनादि परमधाम में परब्रह्म तथा आत्माओं की प्रेममयी, आनन्दमयी लीला होती है, उसमें माया की छाया भी नहीं पड़ सकती।

अनन्य और अखंड प्रेम के धाम में सौत रूपी माया का होना सम्भव नहीं है। इसको दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि परमधाम में स्थित शुक्रमयी आत्मा इस पंचभौतिक जगत के अन्दर अवतरित हो, फिर भी यदि अनहोनी के रूप में भी यदि ऐसा हो जाये और किसी जीव के ऊपर अपनी ज्ञान दृष्टि से आत्मा का वास हो तो इस प्रकृति के ब्रह्माण्ड में किस प्रकार आत्मा अपने प्रियतम परब्रह्म से मिलने के लिए व्याकुल होकर सौत के रूप में बाधक माया से दूर होना चाहती है। उसी का दृष्टान्त रूप में वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। आगे की व्याख्या में भी इस प्रकार के वर्णन का यही आशय है।

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥

ऋ. १०/१४५/४, अथर्ववेद ३/१८/३

पदार्थ—हे मेरी सौत अविद्या या माया ! (ते नाम) तेरे नाम और स्वरूप को मैं आत्मा (नहि जग्राह) कभी भी नहीं ग्रहण करती हूँ और तू (अस्मिन् पतौ) मेरे प्रियतम परब्रह्म में कभी भी (नो रमसे) रमण नहीं करती। (सपत्नीं) तुझ सौत को मैं आत्मा (पराम् एव परावतम्) दूर ही दूर (गमयामसि) हटाती हूँ।

भावार्थ—पति-पत्नी के अटूट, अनन्य प्रेम में बाधक के रूप में किसी भी सौत का होना पत्नी कदापि सहन नहीं कर सकती है और उसका नाम भी नहीं लेना चाहती। उसका उद्देश्य मात्र अपने प्रियतम के प्रेम में बाधक सौत को हटाकर अपने प्रियतम को ही प्राप्त करना होता है। इस मन्त्र में भी यही आशय दर्शाया गया है।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥

ऋ. १०/१४५/५ अथर्ववेद ३/१८/५

पदार्थ—(अहम्) मैं आत्मा (सहमाना अस्मि) क्रोध आदि विपरीत भावों को पराजित करने वाली हूँ (अथो) और हे ब्रह्मविद्या ! (त्वम् सासहिः असि) तुम

भी वैकारिक भावों को पराजित करने वाली हो । (उभे) हम दोनों (सहस्वती भूत्वी) विजयशील होकर एक हो जाएं और (मे सपत्नीं) मेरी सौत अविद्या या माया को हम दोनों (सहावहै) पराजित करें ।

भावार्थ—ब्रह्मविद्या द्वारा आत्मा को अपने प्रियतम का सानिध्य प्राप्त करने में बाधक माया का परित्याग होता है और आत्मा अपने एक मात्र पति अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म को पा लेती है ।

अब जोर कर जाओ माया में, इनके संग होए तुम ।

उजाले तारतम के पेहेचान, ज्यों मूल सरूप देखें हम ॥

प्रकाश हि. प्र. २० चौ. १२

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम् ।

पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥

अथर्ववेद का. १/सू. ५/मं. २७

पदार्थ—(या) जो स्त्री (पूर्व पतिं वित्त्वा) अनादि काल से विद्यमान पति परब्रह्म को प्राप्त होकर (अथ) बाद में (अन्यम्) परब्रह्म से भिन्न (अपरम्) दूसरे लौकिक पति को (विदन्ते) प्राप्त करती है (च) और तब भी यदि वे दोनों (पञ्चौदनम्) पांचों ओदन युक्त अपनी आत्मा, (अजम्) अजन्मा परब्रह्म के प्रति (ददातु) सौंपे रहते हैं, तो (न वि-योषतः) दोनों कभी परब्रह्म से वियुक्त नहीं होते हैं ।

भावार्थ—चाहे स्त्री का तन हो, या पुरुष का, आत्म तत्व की दृष्टि से उनमें कोई भी भेद नहीं होता है । सभी आत्माओं का एक मात्र पति अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म है । यद्यपि सांसारिक बन्धनों में रहने वाले पति-पत्नी एक दूसरे के शरीरों के पति-पत्नी अवश्य हैं, किन्तु उनकी आत्मा का पति परब्रह्म के अतिरिक्त और कोई भी नहीं हो सकता है ।

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।

वो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥

अथर्ववेद का. १/सू. ५/मं. २८

पदार्थ—(यः) जो पुरुष भी (दक्षिणाज्योतिषं पञ्चौदनम्) दक्षिणा ज्योतिष पञ्चौदन आत्मा को (अजं ददाति) अजन्मा परब्रह्म के प्रति समर्पित कर देता है, वह (अपरः पतिः) दूसरा अर्थात् लौकिक पति भी (पुनर्भुवा) पुनः विवाह करने वाली, द्वितीय लौकिक पति को वरण करने वाली स्त्री के साथ पत्नीव्रत धर्म से रहता हुआ (समानलोकः भवति) समान लोक वाला हो जाता है अर्थात् उसी दर्शनीय परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है जिसे उसकी धर्मपत्नी प्राप्त करती है ।

भावार्थ—किसी पुरुष तन के अन्दर स्थित आत्मा का भी पति एक मात्र परब्रह्म ही होता है। वह सांसारिक जीवन में भले ही किसी स्त्री का पति बनकर रहे, किन्तु यदि वह अपनी आत्मा को परब्रह्म के प्रति 'अनन्य प्रेम' से समर्पित करके आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है तो उसकी आत्मा अवश्य परब्रह्म की सानिध्यता को प्राप्त करती है।

‘आत्म-तत्त्व’ विषयक यह सप्तम समुल्लास सम्पूर्ण हुआ। इसके आगे वेदान्त सम्बन्धी मुख्य विषयों की समीक्षा की जाएगी।

अष्टम समुल्लास

‘वेदान्त समीक्षा’

कोई कहे ओ निरगुन न्यारा, रहत सबन से असंग ।
कोई कहे ब्रह्म जीव ना दोए, ए सब एकै अंग ॥

किरंतन प्र. २८ चौ. ५

बातन मोहोल रचे अति सुंदर, चेजा जिमी न थंभा ॥
अंग न इंद्री अंतस्करण वाचा, ब्रह्म न पोहोंचे कोए ।
यों कहें साख पुरावें श्रुती, फेर कहें अनुभव होए ॥
अहं ब्रह्म अस्मि होए के बैठें, तत्वमसी और कहावें ।
स्वामी शिष्य न क्रिया करनी, यों महावाक्य दृढ़ावें ॥
खट प्रमान से ब्रह्म है न्यारा, सो कहें अद्वैत हम आप ।
माया ईश्वर त्रिगुन हम थें, हमहीं रचे सबमें व्याप ॥
ईश्वर फिरे न रहें त्रिगुन, त्रिगुन चलें जीव भेले ।
ए कहावें ब्रह्म सब पैदास यार्थें, और जात हैं आप अकेले ॥
कूवत कछुए न पाइए माहें, खेले मोह में परे परवस मन ।
भोम का एक न चढ़ सकें, कहावें ईश्वर को महाकारन ॥
तीन शरीर उड़ावें मुखथें, आप होत हैं ब्रह्म ।
पूछें ते कहें हम भोगवें, प्रारब्ध जो करम ॥
माया ईश्वर तें होत हैं न्यारे, न्यारे होत तीन देह ।
अद्वैत को प्रारब्ध लगावे, देख्या ज्ञान बड़ा ब्रह्म एह ॥
ऐसे कोट ब्रह्मांड होवें पल में, अद्वैत के हुकम ।
ए कहावें ब्रह्म सुध नहीं ब्रह्म घर की, द्वैत अद्वैत नहीं गम ॥

किरंतन प्र. ३१ चौ. १-९

नेतरोऽनुपपत्तेः । वेदा.अ. १/पा. १/सू. १६

पदार्थ—(न) नहीं (इतरः) ब्रह्म से भिन्न दूसरा सृष्टिकर्ता क्योंकि (अनुपपत्तेः) उपपत्ति न होने से ।

भावार्थ—ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सृष्टिकर्ता नहीं हैं । यदि जीव आनन्दमय होता तो दुखी नहीं होता । इसलिए जीव का आनन्दमय होना सिद्ध नहीं होता । अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्य वाले में सृष्टि रचना का गुण नहीं आ सकता । इससे सिद्ध है कि जीव ब्रह्म नहीं हो सकता ।

प्रश्न—श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

विवेक चूडामणि

अर्थात् करोड़ों ग्रन्थों का यह सिद्धांत है कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

उत्तर—यद्यपि जीव और ब्रह्म दोनों ही चेतन अवश्य हैं, किन्तु दोनों को एक समान कहना भूल है । जीव अणु एकदेशी, कर्मों के बंधन में रहने वाला, अल्पज्ञ तथा भ्रान्तित्वयुक्त है । इसके विपरीत ब्रह्म सर्वज्ञ, निर्भान्त, सर्वदा मुक्त, सबका स्वामी तथा प्रकृति के बंधन से मुक्त है । दोनों के चेतन होने के कारण समान नहीं माना जा सकता क्योंकि जिस प्रकार जल और पृथ्वी दोनों ही जड़ हैं, फिर भी गुणों की विभिन्नता के कारण दोनों को समतुल्य कदापि नहीं कहा जा सकता है । जीव और ब्रह्म न तो कभी एक थे, न हैं और न कभी होंगे ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ (वे. द. अ. १/पा. १/सू. १) वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र में ही महर्षि व्यास जी के अनुसार—शम, दम आदि साधन सम्पन्न होने के पश्चात् ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा होनी चाहिए । ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा जीव करता है । यदि जीव ही ब्रह्म है, तो क्या ब्रह्म ही ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा कर सकता है ? सर्वज्ञ ब्रह्म में अपने स्वरूप को भी भूल जाने की प्रवृत्ति क्यों हुई ? ऐसा मानने पर सर्वज्ञ ब्रह्म का ब्रह्मत्व ही समाप्त हो जाएगा । वस्तुतः नवीन वेदान्तियों द्वारा जीव ब्रह्म की एकता कहकर अनर्थ किया गया है ।

प्रश्न—स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रकृति की अवस्थाएं होती हैं । ब्रह्म का स्वरूप महाकारण में होता है । जब जीव भी स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर का परित्याग कर देता है, तो जीव अपने शुद्ध स्वरूप में आकर ब्रह्म हो जाता है ।

उत्तर—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य और हंस, ये जीव की छः अवस्थाएं होती हैं । महाकारण अवस्था में जीव को ब्रह्म का स्वरूप कहना मिथ्या है । जीव अपने शुद्ध स्वरूप में आकर भी कदापि ब्रह्म नहीं बन सकता, क्योंकि ब्रह्म तो स्वयंभू है, अनादि है । जो बनता है वह विकृत भी होता है । अनादि ब्रह्म का स्थान जीव कदापि नहीं ले सकता क्योंकि उसमें सर्वज्ञता तथा जगत कर्तृत्व का गुण कदापि नहीं आ सकता है । वर्तमान समय में प्रस्थानत्रयी (गीता,

उपनिषद्, वेदान्त, दर्शन) का अनुकरण करने वालों में ब्रह्म तथा जीव के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक मत हैं।

कोई अद्वैतवाद (जीव, ब्रह्म की एकता) को मानता है, तो कोई विशिष्टाद्वैत को तथा कोई अंशी-अंश मानता है। वस्तुतः ये सभी मत वेदान्त के मूल सिद्धान्तों के विपरीत हैं। जीव ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त का पोषण यदि आदि शंकराचार्य ने बौद्धों के खण्डन के लिए किया हो, तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु यदि इस सिद्धान्त को यथार्थ में कोई सत्य माने, तो वह भ्रान्तित्व से ग्रसित माना जाएगा। जीव ब्रह्म को एक मानना वैदिक ऋषि मान्यता के विपरीत है। यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय जीव ब्रह्म की एकता का खण्डन करता है। महर्षि वेद व्यास के वेदान्त दर्शन के मूल सूत्रों में जीव और ब्रह्म के लक्षण अलग-अलग माने गये हैं। युक्ति और तर्क से भी जीव को ब्रह्म मानने के सिद्धान्त का खण्डन होता है, जो इस प्रकार है—

अद्वैत ब्रह्म के स्वरूप में 'अविद्या' नामक अन्य वस्तु की कल्पना अनुचित है। क्या सूर्य के मूल स्वरूप में अन्धकार हो सकता है ?

जब 'अविद्या' मूल रूप में ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, तो उससे अद्वैत ब्रह्म के आवरण में होने का प्रश्न ही नहीं।

छः अनादि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करने पर अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती। स्वयं को ब्रह्म मानने वाले उसे अनिवर्चनीय (वाणी से परे) कहते हैं और ग्रन्थों के प्रमाणों से उसका वर्णन करते हैं, किन्तु जो स्वयं को ब्रह्म कहते हैं, वे ग्रन्थों का ज्ञान न होने पर अपने स्वरूप का वर्णन क्यों नहीं करते हैं ?

यह पूर्णतया असत्य है कि सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या के कारण अज्ञान हुआ और वह चिदाभास के रूप में जीव कहलाया। क्या वेद के किसी मन्त्र में इस प्रकार का कथन है ?

नवीन वेदान्तियों की दृष्टि में जब ब्रह्म निराकार, सर्वव्यापक और अवयव से रहित है, तो ऐसे लक्षणों से युक्त ब्रह्म का आभास होना पूर्णतया असम्भव है ? जब अद्वैत ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, तो जगत् के अस्तित्व की भ्रान्ति किसमें हुई तथा दुःख-सुख का भोक्ता कौन है ?

ब्रह्म में भ्रान्ति का दोष मानने पर उसकी सर्वज्ञता का गुण नष्ट हो जाता है। अल्पज्ञ होने से वह जगत् का कर्ता-धर्ता नहीं हो सकता और न वह ब्रह्म ही कहलाने का पात्र हो सकता है।

अन्तःकरण जड़ पदार्थ है। उनमें जीव के द्वारा ही चेतनता आती है। यह मानना अनुचित है कि अन्तःकरण स्थित ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है अर्थात् 'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन ब्रह्म' ही जीव है। अन्तःकरण में फंसे हुए ब्रह्म को न

तो नित्य मुक्त कह सकते हैं न सर्वज्ञ और न अखण्डित । यहां वेदों में वर्णित ब्रह्म के लक्षणों के विपरीत है । अतः जीव ब्रह्म की एकता का कथन अनुचित है ।

आधुनिक वेदान्ती अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए रज्जु में सर्प, सीप में चांदी, और मृगतृष्णा में जल आदि का उदाहरण देते हैं । उनके मतानुसार यद्यपि रज्जु में सर्प तीनों काल में नहीं होता है, किन्तु अन्धकार और अल्प प्रकाश के मेल में किसी मनुष्य को रज्जु के स्थान पर वह सर्प प्रतीत होता है । दीपक की सहायता से उसका भ्रम दूर हो जाता है और उसे रज्जु का वास्तविक स्वरूप दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन ब्रह्म में जो जगत की मिथ्या प्रतीति हुई है, वह ब्रह्म के साक्षात्कार होने से उस जगत की निवृत्ति और ब्रह्म की प्रतीति हो जाती है, जिस प्रकार कि दीपक या किसी अन्य प्रकाश के द्वारा रज्जु का वास्तविक स्वरूप देख लेने पर सर्प की निवृत्ति हो जाती है ।

उनके इस कथन का समाधान यह है कि रज्जु को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानने से इस प्रकार का भ्रमजाल उत्पन्न होता है । रज्जु की भांति सर्प भी एक वस्तु है । यद्यपि रज्जु सर्प नहीं कही जा सकती है किन्तु देशान्तर में तथा जीव के अंतःकरण में उसका संस्कार अवश्य होता है । यह कथन नितान्त अनुचित है कि—‘मैं पहले शुद्ध ब्रह्म था । भ्रमवश मैं जीव बना था । अब मैं जान गया हूँ कि मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ । इस जगत रूपी रज्जु को मैंने सर्प समझ लिया था । अब मुझे यह स्पष्ट रूप से विदित है कि एकमात्र अद्वैत ब्रह्म के अतिरिक्त न तो जगत है और न कोई जीव’ । अपितु ‘सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म’ ।

इस कथन का प्रत्युत्तर यह है कि जो नित्य अविनाशी अद्वैत ब्रह्म है उसमें भ्रम कदापि नहीं हो सकता । वह जगत तथा जीव के रूप में होकर उत्पत्ति एवं प्रलय के कष्टों से पीड़ित क्यों होगा ? नित्य मुक्त ब्रह्म जीव के रूप में न तो कभी बद्ध हो सकता है और न जड़ जगत में रूप में विकृति को प्राप्त हो सकता है । जिस प्रकार मकड़ी अपने बनाए हुए जाले में स्वयं बद्ध रहती है, उसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म को भी जगत एवं जीव के रूप में होकर स्वयं बद्ध रहने का कथन करना अनुचित है ।

मकड़ी का शरीर जाले का उपादान कारण है, मकड़ी का जीव नहीं । उसी प्रकार जगत का उपादान कारण जड़ प्रकृति है, अद्वैत-ब्रह्म नहीं । सुख-दुःख का भोक्ता जीव है, ब्रह्म नहीं । सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शुद्ध स्वरूप वाला ब्रह्म जीव होकर कदापि सुख-दुःखादि का भोक्ता नहीं हो सकता ।

वेदान्त दर्शन के सूत्रों से भी जीव ब्रह्म की एकता का खण्डन होता है । ‘भेदव्यपदेशाच्च’ । वेदान्त दर्शन अ. १/पा. १/सू. १७

पदार्थ—(भेदव्यपदेशात्) भेद कथन से (च) भी ।

भावार्थ—तैत्तरीय-उपनिषद् ब्रह्मानन्द बल्ली, सप्तम अनुवाक में कहा गया है “रसो वै सः । रसं हि एव अयं लब्ध्वाऽनन्दी भवति ।” अर्थात् वह परमात्मा आनन्द स्वरूप है । उसको प्राप्त कर ही जीव दुख से मुक्त होकर आनन्द का भोक्ता हो सकता है । इस कथन से सिद्ध है कि जीव तथा परब्रह्म की सत्ता के स्वरूप अक्षर ब्रह्म में पूर्णतया भेद है ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यांरताः ॥

यजुर्वेद अ. ४०/मं. ९

इस मन्त्र में कहा गया है कि सम्भूति तथा असम्भूति की उपासना करने वाले दोनों ही घोर अन्धकार रूपी दुख को प्राप्त करते हैं । अपने स्वरूप को ही भूल जाने वाला ब्रह्म यदि जीव के रूप में सम्भूति असम्भूति का उपासक होकर गहन दुख को प्राप्त करता है, तो ब्रह्म के गुणों में कलंक लग जाएगा । ब्रह्म ही जीव बनकर ब्रह्म की उपासना क्यों करेगा ?

प्रश्न—‘सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्’ । वेदान्त दर्शन (अ. ४/पा. ४/सू. १) में कहा गया है कि जीव अपने स्वरूप को प्राप्त होकर प्रकट होता है, जो कि पूर्णब्रह्म स्वरूप था, क्योंकि स्व शब्द से अपने (ब्रह्म) स्वरूप का ग्रहण होता है ।

उत्तर—इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि जब तक जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होकर सब मलों से रहित अर्थात् पवित्र नहीं होता, तब तक ब्रह्म को प्राप्त होकर आनन्द में स्थित नहीं हो सकता है । ‘परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते’ (छान्दोग्य ८/१२/३) में कहा गया है कि जीव परम ज्योति (ब्रह्म) के पास जाकर ‘अपने’ स्वरूप से समान हो जाता है । ‘स्वेन’ शब्द का अर्थ है कि अपने स्वरूप से । इससे सिद्ध है कि मुक्ति में जीव का स्वरूप का ब्रह्म में लय नहीं होता, अपितु उसका शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप बना रहता है । क्योंकि—

‘सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा सह विपश्चितेति’

तैत्तरीयोपनिषद् २/१

अर्थात् मुक्त जीव ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण कामों को प्राप्त होता है ।

‘अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति’ । वे. द. अ. १/पा. १/सू. १९

अर्थात् इस ब्रह्म में इस जीव का योग प्रतिपादन होने से जीव ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ वे. द. अ. १/पा. २/सू. १

पदार्थ—(सर्वत्र) सभी वेदादि शास्त्रों में (प्रसिद्धोपदेशात्) प्रसिद्ध उपदेश होने से ।

भावार्थ—सभी वेदादि शास्त्र जीव को ब्रह्म से भिन्न होने का स्पष्ट उपदेश करते हैं।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ वे. अ. १/पा. २/सू. २

पदार्थ—(च) और (विवक्षितगुणोपपत्तेः) जो कहने चाहिए, उन गुणों की उपपत्ति से भी।

भावार्थ—जो गुण ब्रह्म में विवक्षित हैं, वे सब जगत के कर्ता-धर्ता होने के लिए ब्रह्म में ही उत्पन्न हैं, जीव में नहीं।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

मुण्डकोपनिषद् २/७

अर्थात् वह ब्रह्म सर्वज्ञ है। उसी की महिमा इस जगत में है। उसके विशेष ज्ञान से युक्त होकर धैर्यशाली पुरुष उसके अविनाशी, प्रकाशमान, आनन्दमयी स्वरूप को देखते हैं।

उपनिषद् के इस वचन में भी जीव को ब्रह्म से भिन्न बताया गया है। अल्पज्ञ जीव ब्रह्म के अविनाशी स्वरूप को देखने का प्रयास करने वाला है। द्रष्टा और दृश्य में भेद अवश्य मानना पड़ेगा।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः। वे. द. अ. १/पा. २/सू. ३

पदार्थ—(शारीरः) प्राकृतिक शरीरधारी जीव (तु) तो (अनुपपत्तेः) उन गुणों की उत्पत्ति न होने से (न) जगत का कर्ता, धर्ता, हर्ता नहीं हो सकता।

भावार्थ—अणु, एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्य वाला जीव कदापि ब्रह्म की तरह जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार नहीं कर सकता। उस ब्रह्म के संकल्प मात्र से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं किन्तु अल्प शक्ति वाला एक जीव शून्य में मक्खी भी स्वतः नहीं बना सकता। अतः निर्विवाद रूप से जीव और ब्रह्म का भेद होना सिद्ध है।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च। वे. द. अ. १/पा. २/सू. ४

पदार्थ—(कर्मकर्तृव्यपदेशात्) कर्म और कर्ता के कथन से (च) भी।

भावार्थ—छान्दोग्य उपनिषद् (३/१४/४) में कथन है कि “एतमितः प्रेत्याऽभिसंभवितास्मि” अर्थात् मैं यहां से मरकर उस ब्रह्म को प्राप्त होऊँगा। इस वाक्य में पंचभौतिक शरीरधारी जीव को कर्ता=प्राप्त करने वाला और ब्रह्म को कर्म=प्राप्य होने वाला कहा गया है। इससे भी स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म से भिन्न

है। देह बन्धन से मुक्त होने और ब्रह्म को पाने की इच्छा वाला जीव अवश्य ही ब्रह्म से भिन्न माना जाएगा।

प्रश्न—ब्रह्मणे जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः। वे. द. अ. ४/पा. ४/सू. ५

इस कथन से सिद्ध है कि जीव ब्रह्म में कोई भेद नहीं क्योंकि 'अयमात्मा अपहृतपाप्मा' (छा.उ. ८/७/१) इत्यादि उपन्यास ऐश्वर्य प्राप्ति पर्यन्त हेतुओं से ब्रह्म स्वरूप से जीव स्थित होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है।

उत्तर—इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि जब योगी पापादि रहित ऐश्वर्ययुक्त होता है, तभी ब्रह्म के साथ मुक्ति के आनन्द को भोग सकता है। ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है। क्योंकि उपनिषदों में भी ऐसे उपन्यास आदि पाये जाते हैं।

सत्यकामः सत्यसंकल्पः। छा. ८/७/१

स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः॥ छा. ८/१२/३

अर्थात् मुक्त जीव सत्यकाम और सत्य संकल्प वाला होता है। वहां (ब्रह्मधाम) में वह ब्रह्म के साथ आनन्द के योग तथा क्रीडा से युक्त होता है। ब्रह्म पापादि से सर्वथा रहित है। जीव निर्मल होकर ही जब ब्रह्मानन्द का भोक्ता बन पाता है, तो इस सूत्र से भी जीव ब्रह्म में भेद का होना सिद्ध होता है।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च॥ वे. द. अ. १/पा. २/सू. १५

पदार्थ—(सुखविशिष्टाभिधानात्) सुखयुक्त कथन से (एव) निश्चय (च) भी।

भावार्थ—ब्रह्म प्राकृतिक द्वन्द्वों से सर्वथा रहित है, जबकि जीव सर्वदा सुख-दुख से संयुक्त रहता है।

कुत्रापि कोऽपि सुखी न॥ सांख्य दर्शन अ. ६/सू. ७

अर्थात् इस जगत में कोई भी पूर्ण सुखी नहीं है। अतः जीव और ब्रह्म की एकता होनी सम्भव नहीं है।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनेनमधीयते। वे. द. अ. १/पा. २/सू. २०

जीव प्राकृतिक शरीर धारण करने वाला है, अतः वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि इन दोनों का भेद स्पष्टतः सिद्ध है। यदि जीव ब्रह्म होता, तो उसे ब्रह्म की तरह सर्वज्ञ होना चाहिए। व्यवहार में यही देखा जाता है कि पंचभौतिक शरीरधारी जीवों में कोई ज्ञान ग्रहण करता है और कोई आचार्य बनकर ज्ञान देता है। यदि दोनों ही ब्रह्म हैं, तो क्या ब्रह्म भी ब्रह्म को ज्ञान देगा? सभी जीवों के ब्रह्म होने पर वेदादि सत्य ग्रन्थों के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए।

कोई कहे ए सबे ब्रह्म, तब तो अग्यान कछुए नाहीं।
तो खट सास्त्र हुए काहे को, मोहे ऐसी आवत मन मांही ॥

किरंतन प्र. २९ चौ. ६

गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि तद्दर्शनात् ।

वे. द. अ. १/पा. २/सू. ११

पदार्थ—(हि) क्योंकि (तद्दर्शनात्) देखने से (आत्मानौ) दो आत्मा जीव तथा ब्रह्म (गुहां) परम गुहा में (प्रविष्टौ) प्रविष्ट पाये जाते हैं ।

भावार्थ—‘गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे’ (कठोपनिषद् १/३/१) तथा ‘यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्’ (तै. २/१) के अनुसार परम गुहा में जीव, ब्रह्म का साक्षात्कार करता है । जीव देखने वाला है, तथा ज्ञेय के रूप में ब्रह्म दृश्य है । स्पष्ट है कि यह सूत्र जीव ब्रह्म की भिन्नता की ओर संकेत करता है ।

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ का उद्धोष करने वाले आधुनिक वेदान्ती इस ब्राह्मण वाक्य का वास्तविक आशय न समझकर सम्पूर्ण जगत को ही ब्रह्मरूप समझते हैं । यदि इस जड़ जगत में उस ब्रह्म का शुद्ध शुक्रमयी स्वरूप होता, तो ब्रह्मरूप का कथन संभव था । पर इस जड़ जगत में मात्र ब्रह्म की सत्ता है, स्वरूप नहीं । उसका शुद्ध स्वरूप प्रकृति से परे चेतन अविनाशी ब्रह्मधाम में ही है ।

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।

मु. उ. मु. ३/खं. २/१

पदार्थ—(सः) वह (एतत्) इस (परमं ब्रह्मधाम) ब्रह्म के परमधाम को (वेद) जानता है, (यत्र) जहां ब्रह्म का (विश्वं शुभ्रम्) सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप (निहितं भाति) प्रकाशित है ।

भावार्थ—उपनिषद् के इस कथन में प्रकृति से परे उस चेतन, अविनाशी ब्रह्मधाम का वर्णन किया गया है जहां के कण-कण में ब्रह्म का ही शुक्रमयी (नूरमयी) स्वरूप है । उपनिषद् के इस कथन में ‘यत्र’ पद का प्रयोग प्रकृति से परे ब्रह्मधाम के लिए ही हुआ है । यदि इस पंचभौतिक जगत में ब्रह्म का धाम होता तो कदापि ‘यत्र’ का प्रयोग इस उपनिषद् वचन में नहीं होता । इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपनिषदों में प्रयुक्त हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमः । केनोपनिषद् (१/३)

अर्थात् उस ब्रह्मधाम में न तो नेत्र की दृष्टि-शक्ति जा सकती है, न वाणी और न मन । उसको पूर्ण रूप से न तो हम जानते हैं और न जान सकेंगे ।

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ॥ तैत्तरीयोपनिषद् (२/४/१)

जहां से (ब्रह्मधाम न जाकर) वाणी लौट आती है और जो मन से अप्राप्य है ।

इन उपनिषद् वाक्यों के कथन से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि मन उस ब्रह्मधाम में क्यों नहीं जा सकता अर्थात् मन के द्वारा ही उस ब्रह्मधाम का स्पष्ट ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त किया जा सकता ? तो इसका समाधान यह है कि मन एक प्राकृतिक द्रव्य है । मन की शक्ति मात्र प्रकृति मण्डल तक ही सीमित है । यही नहीं, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार आदि प्राकृतिक जगत द्रव्यों के द्वारा भी उस ब्रह्मधाम की अनुभूति नहीं की जा सकती है ।

यदि इस प्राकृतिक जगत के कण-कण में ब्रह्म का स्वरूप होता, तो कहीं भी उस ब्रह्म का चित्त से चिन्तन, मन से मनन, बुद्धि से विवेचन यथार्थ रूप से कर सकते थे । यहां तक कि ज्ञानेन्द्रियों से भी उसका अनुभव हो सकता था । चित्त, मन या बुद्धि से ब्रह्म का साक्षात्कार न होना ही यह सिद्ध करता है कि इस प्राकृतिक जड़ जगत में ब्रह्म का स्वरूप नहीं है । परमगति की अवस्था में चित्त, मन, बुद्धि आदि सभी प्राकृतिक द्रव्य क्रिया रहित हो जाते हैं ।

‘यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥’

कठोपनिषद् (वल्ली ६/१०)

पदार्थ—(यदा) जब (पंच ज्ञानानि) पांच ज्ञानेन्द्रियां (मनसा सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते) ठहर जाती हैं (च) और (बुद्धिः) बुद्धि भी (न विचेष्टते) चेष्टा नहीं करती है, (ताम्) उसको (परमां गतिम्) परम गति (आहुः) कहते हैं ।

इसी उपनिषद् की षष्ठी वल्ली श्लोक ५ में कहा गया है कि ‘छाया तपयोरिव ब्रह्मलोके’ ब्रह्मलोक में ब्रह्म का स्वरूप (प्रकृति से पृथक्) स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है जिस प्रकार छाया और प्रकाश । जहां प्रकाश होता है वहां छाया नहीं और जहां छाया होती है वहां प्रकाश नहीं । इससे सिद्ध है कि प्रकृति के इस जड़ जगत में चेतन, अविनाशी ब्रह्म का स्वरूप नहीं है ।

प्रश्न—प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् । वे. द. अ. ३/पा. २/सू. २८

अर्थात् प्रकाश के आश्रय में प्रकाश के समान तेज स्वरूप ब्रह्म को जानना चाहिए । जिस प्रकार अरणियों के भीतर प्रकाश वाला अग्नि रहता है, परन्तु मंथन से प्रकट होता है । यद्यपि अरणि तो भस्म रूप में परिणत हो जायेगी, परन्तु तेजो मात्र स्वरूप होने से अग्नि के स्वरूप में परिणाम कुछ नहीं होगा । इसी प्रकार जगत की उत्पत्ति और प्रलय से कोई विकार ब्रह्म के स्वरूप में नहीं आता ।

वेदान्त दर्शन के इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि अरणियों में निहित अग्नि की भांति ब्रह्म का स्वरूप इस जगत में है।

उत्तर—अरणी के अन्दर कारण रूप से अग्नि है जो मंथन से प्रकट हो जाती है। ब्रह्म का स्वरूप एकरस है। उस पर किसी प्राकृतिक जड़ पदार्थ का आवरण नहीं डाला जा सकता है। उस अखण्ड एकरस ब्रह्म स्वरूप में किसी भी जड़ पदार्थ का मेल संभव नहीं। क्या यह संभव है कि सर्वशक्तिमान ब्रह्म का स्वरूप अरणी के आवरण में छिप जाए? ब्रह्म का स्वरूप अपरिवर्तनीय है। वह न तो किसी पदार्थ के आवरण में छिप सकता है और न उसमें से प्रकट हो सकता है, अपितु जिस ब्रह्मधाम में उसका नूरमयी स्वरूप है, वहां के एक कण के तेज के समक्ष करोड़ों सूर्यों का प्रकाश भी फीका पड़ जाएगा। उस ब्रह्मधाम में ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी प्राकृतिक पदार्थ का स्वरूप ही नहीं है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

कठोप. पंचमी वल्ली श्लोक १५

पदार्थ—(तत्र) वहां, उस ब्रह्मधाम में (सूर्यः न भाति) सूर्य प्रकाशित नहीं होता है, (न, चन्द्र तारकम्) न चन्द्रमा-तारे, (इमाः) और ये (विद्युतो न भान्ति) विद्युत भी वहां नहीं चमकती, फिर (अयम् अग्निः कुतः) यह अग्नि कहां से प्रकाशित हो सकता है। (तम् एव) उस ब्रह्म के ही (भान्तम्) प्रकाशित होने से (अनुभाति सर्वम्) सारा ब्रह्मधाम प्रकाशित होता है। (तस्य भासा) उस ब्रह्म के ही प्रकाश से (इदम् सर्वम् विभाति) यह सारा ब्रह्मधाम सुशोभित होता है।

भावार्थ—सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल से परे उस अविनाशी चेतन धाम में ब्रह्म का निज स्वरूप है। उस धाम में सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत आदि का जड़ प्रकाश नहीं है, अपितु वहां के कण-कण में चेतन ब्रह्म का ही प्रकाश सुशोभित है। उपनिषद् के इस कथन में 'तत्र' पद का प्रयोग ही प्रकृति से परे ब्रह्मधाम के होने का संकेत देता है। जिस ब्रह्म तेज के समक्ष करोड़ों सूर्यों का भी प्रकाश फीका पड़ जाता है, उस ब्रह्म के तेजोमय, शुक्रमयी स्वरूप को अरणियों के आवरण में छिपा हुआ कहना, सत्य सिद्धान्त के साथ अन्याय करना है।

प्रश्न—दर्शनाच्च । वे. द. अ. ३/पा. २/सू. २१

यह देखा जाता है कि चन्दन के काष्ठ में अग्नि लगाने से जो सुगन्धि प्रतीत होती है वह अग्नि की सुगन्धि नहीं, अपितु चन्दन की होती है। इसी प्रकार नीम की लकड़ी जलाने से धुएं का कड़वापन अग्नि का नहीं, अपितु नीम का होता है। वैसे ही इस जगत में ब्रह्म का स्वरूप है, किन्तु उसके स्वरूप पर चंचल जगत के विकारों का कोई प्रभाव नहीं है।

उत्तर—चन्दन या नीम के काष्ठ की रचना पांच तत्वों से होती है जिसमें पृथ्वी तत्व का कारण जल, जल का कारण अग्नि, अग्नि का कारण वायु, तथा वायु का कारण आकाश होता है। अतः चन्दन तथा नीम के काष्ठ में सभी पांचों तत्व अपने गुणों सहित सूक्ष्म या कारण रूप से अवश्य होते हैं। चन्दन या नीम के काष्ठ में अग्नि प्रज्वलित करने पर काष्ठ से जो अग्नि प्रस्फुटित होती है, वह काष्ठ में स्थित जल तत्व का उपादान कारण होता है। इसलिए वह चन्दन की सुगन्धि या नीम की कडुवाहट से रहित होता है। किन्तु ब्रह्म तो जगत का उपादान कारण नहीं अपितु निमित्त कारण है।

इसको इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है कि जैसे कोई कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है। इसमें कुम्हार निमित्त कारण है, मिट्टी उपादान कारण है तथा घड़ा कार्यरूप है। घड़े के बाहर ही तो कुम्हार का स्वरूप होता है। कार्यरूप घड़े का निर्माता कुम्हार जिस प्रकार घड़े के अन्दर कण-कण में नहीं, अपितु सर्वथा परे होता है, उसी प्रकार इस कार्यरूप जगत का निर्माता ब्रह्म भी उपादान कारण प्रकृति तथा कार्यरूप जगत से सर्वथा परे है। ब्रह्म को जगत में, काष्ठ में स्थित अग्नि के दृष्टान्त से व्यक्त करना अनुचित है। जिस प्रकार अणु एकदेशी जीव शरीर में एक स्थान पर रहता है किन्तु उसकी चेतनता सम्पूर्ण शरीर में व्यापक रहती है, उसी प्रकार निमित्त कारण ब्रह्म इस जड़ जगत से पृथक् है, फिर भी उसकी सत्ता सम्पूर्ण जगत में व्याप्त रहती है। यदि उसका स्वरूप जगत में व्यापक हो जाय तो सारा जगत ब्रह्मरूप हो जायेगा। इस प्रकार यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि निमित्त कारण कभी भी उपादान कारण के अन्दर अपने मूलस्वरूप से व्यापक नहीं होता।

उपज्या याको केहेवहीं, कहे प्रले होसी ए।

ब्रह्म बतावें याही में, कहे ए सब माया के ॥

उरझे सब याही में, पार सब्द न काढे एक।

कथ-कथ ग्यान जुदे पड़े, द्वैते में देख देख ॥

तो कह्या तीत सब्द से, जो कल्लु इत का पोहोंचे नाहें।

असत ना मिले सत को, ऐसा लिख्या सास्त्रों माहें ॥

किरंतन प्र. ७३ चौ. ३, ४, १०

प्रश्न—श्वेताश्वतरोपनिषद् (१/१५)^१ में कहा गया है कि जिस प्रकार तिल में तेल, दूध में मक्खन, फूल में सुगन्ध तथा लकड़ी में अग्नि की व्यापकता रहती है, उसी प्रकार जगत में ब्रह्म व्यापक है और ध्यान के द्वारा उसके स्वरूप का साक्षात्कार होता है ?

^१ तिलेषु तैलं दध्निनीव सर्पिरापः स्त्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।

एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योज्युपश्यति ॥

उत्तर—यह सर्वमान्य तथ्य है कि निमित्त कारण कभी भी उपादान कारण के अन्दर अपने स्वरूप से व्यापक नहीं होता अपितु उसकी कला, शक्ति या सत्ता सर्वव्यापक होती है। तिल, पुष्प, लकड़ी तथा दूध उपादान कारण हैं। इनमें सूक्ष्म रूप से विद्यमान तेल, अग्नि तथा मक्खन भी जड़ पदार्थ हैं। तेल ने तिल का निर्माण नहीं किया होता है तथा मात्र अग्नि तत्व ने न तो लकड़ी का निर्माण किया होता है और न मक्खन ने दूध का तथा सुगन्धि ने फूल का। तिल, पुष्प एवं वृक्ष के पौधे को लगाने वाला किसान निमित्त कारण है। इसी प्रकार गाय के शरीर से दूध निकलता है, अतः गाय का शरीर उपादान कारण अवश्य है किन्तु गाय का जीव निमित्त कारण है।

स्पष्ट है कि जब तिल, पुष्प एवं वृक्ष के पौधे को लगाने वाला किसान (निमित्त कारण) तिल, पुष्प और वृक्ष में व्यापक नहीं है तथा गाय का जीव दूध में व्यापक नहीं है तो सृष्टि कर्ता परमात्मा उपादान कारण प्रकृति एवं उसके कार्य रूप जगत में कैसे व्यापक हो सकता है? कार्य रूप प्रकृति के कण-कण में उसकी असीम सत्ता, कला एवं ज्ञान की विशिष्टता दिखाई देती है जिससे मनुष्य को उसके अस्तित्व का आभास होता है किन्तु उसका शुद्ध मूल स्वरूप प्रकृति (कार्य कारण) से सर्वथा परे ही है जिसे इस ग्रन्थ के चतुर्थ समुल्लास तथा इस समुल्लास में विस्तारपूर्वक दर्शाया गया है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।

तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥

मुण्डकोपनिषद् द्वि. मु. /द्वि. खं. श्लोक ९

पदार्थ—(परे) हृद-बेहद से परे (हिरण्मये कोशे) अनन्त प्रकाशमय कोश में (भंडार में) (विरजम्) मलरहित (निष्कलम् ब्रह्म) निष्कल ब्रह्म विराजमान है। (तत्) वह (शुभ्रम्) पवित्र (ज्योतिषाम् ज्योतिः) ज्योतियों की भी ज्योति है। (यत्) जिसे (आत्मविदः विदुः) ब्रह्म विद्या के जानने वाले जानते हैं।

भावार्थ—प्रकृति के इस परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड से भी परे योगमाया (बेहद) का चेतन एवं अविनाशी धाम है। उससे भी परे अद्वैत परब्रह्म का अनादि परमधाम है। उस हिरण्मय कोश (अनन्त नूर से देदीप्यमान धाम) में परब्रह्म तथा अक्षर का अखंड स्वरूप है। इसका विस्तृत विवरण केनोपनिषद् या इसी ग्रन्थ के चतुर्थ समुल्लास के 'ब्रह्मपुरी का वर्णन' की व्याख्या देखिए। प्राकृतिक सभी ज्योतिषां वैकारिक होती हैं, किन्तु ब्रह्म अपनी शुभ्र शुक्रमयी ज्योतियों से युक्त अविनाशी धाम में ही है। उसे चन्दन में निहित अग्नि की भांति इस जड़ जगत में नहीं माना जा सकता।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥

मुण्डकोपनिषद् मु. २/खं. २/७

पदार्थ—(यः) जो (सर्वज्ञः सर्ववित्) सर्वज्ञ, सबको जानने वाला ब्रह्म है, (यस्य) जिसकी (महिमा भुवि) महिमा जगत में है। (हि) निश्चित रूप से (एषः आत्मा) यह ब्रह्म (दिव्ये ब्रह्मपुरे व्योम्नि)¹ अमृत स्वरूप दिव्य ब्रह्मपुर में (प्रतिष्ठितः) स्थित है।

भावार्थ—यह जगत ब्रह्म की सत्ता द्वारा संचालित है। इसमें उसका स्वरूप नहीं अपितु उसकी महिमा है। वह हृद-बेहृद से परे अमृत स्वरूप, चेतन, त्रिगुणातीत धाम में विराजमान है। उसका वह शुद्ध नूरमयी (शुक्रमयी) स्वरूप इस जड़ जगत में कहीं भी नहीं है।

खिन में कहें सब ब्रह्म है, खिन में बंझा पूत।
मदमाते मरकट ज्यों, करे सो अनेक रूप ॥

खिन में कहे सत असत, माया कछुए कही न जाय।
यो संग संसा दृढ़ हुआ, सब धोखे रहे फिराए ॥

खिन में कहे है आप में, खिन में कहे बाहेर।
खिन में मांहें न बाहेर, याको शब्द न कोई निरधार ॥

कलश हि. प्र. २ चौ. २६-२८

प्रश्न—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। मुण्डकोपनिषद् प्रथम ख. श्लोक ७

अर्थात् मकड़ी जिस प्रकार शरीर से तन्तु निकाल कर जाल उत्पन्न करती है, उसी प्रकार ब्रह्म भी प्रकृति में रहकर कार्यरूप जगत को उत्पन्न करता है। उपनिषद् के इस कथन से ब्रह्म का स्वरूप भी प्रकृति मण्डल में होना सिद्ध होता है।

उत्तर—इस प्रकार का दृष्टान्त ब्रह्म के स्वरूप को प्रकृति में सिद्ध करने के लिए उचित नहीं है। जिस प्रकार किसी कमरे में दीपक जलाने से सम्पूर्ण कमरे में प्रकाश रहता है, उसी प्रकार मकड़ी के तन में चेतन जीव के होने के कारण सम्पूर्ण शरीर में चेतनता बनी रहती है। तन्तु का उपादान कारण मकड़ी का जड़ शरीर है तथा चेतन जीव निमित्त कारण।

शरीर से पैदा होने वाले तन्तु में मकड़ी का जीव व्यापक नहीं। उसी प्रकार कार्य जगत में भी ब्रह्म का स्वरूप व्यापक नहीं है। यदि प्रकृति मण्डल में अनादि, चेतन ब्रह्म होता, तो सम्पूर्ण कारण प्रकृति भी चेतन होती। इसी प्रकार कार्य जगत में ब्रह्म का स्वरूप मानने पर सम्पूर्ण जगत को चेतन होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है। इससे सिद्ध है कि इस जड़ जगत में ब्रह्म का स्वरूप नहीं है।

¹ सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्। अथर्ववेद का १७ सू. १/मं. १९

ब्रह्म का स्वरूप ऊपर-नीचे, दायें-बायें सर्वत्र कण-कण में योगमाया के ब्रह्माण्ड (अक्षर के चारों पादों) में है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

मुण्डकोपनिषद् द्वि. मु. द्वि. खं. श्लोक ११

पदार्थ—(पुरस्तात्) आगे (इदम्) यह (अमृतम्) अविनाशी (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है । (पश्चात् ब्रह्म) पीछे ब्रह्म है । (दक्षिणतः च) दाहिने और (उत्तरेण) बायें (ब्रह्म) ब्रह्म है । (अधः च उर्ध्वं च) और ऊपर या नीचे (प्रसृतं) फैला हुआ (ब्रह्म एव इदम्) यह सब ब्रह्म ही है । (इदम् विश्वम्) यह सम्पूर्ण (वरिष्ठम्) अत्यन्त श्रेष्ठ ब्रह्म ही है ।

भावार्थ—प्रकृति से परे उस अविनाशी योगमाया के ब्रह्माण्ड में आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र कण-कण में अक्षर ब्रह्म का शुक्रमयी स्वरूप है । इसी प्रकार परमधाम में अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का स्वरूप कण-कण में है । इस कार्य जगत में ब्रह्म का स्वरूप कहीं भी नहीं है, अपितु उसकी सत्ता से इस सम्पूर्ण जगत का संचालन होता है ।

प्रश्न—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । वे. द. अ. १/पा. १/सू. २०

अर्थात् (तद्धर्मोपदेशात्) उसके धर्म-उपदेश से (अन्तः) अन्तर्वर्ती है । ‘प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरज्जायमानः’ (यजु ३१ मं. १९) में ब्रह्म का धर्म इस जगत का अन्तर्वर्ती होना बताया है, अतएव जगत का कर्ता जगत के अन्तर (भीतर) वर्तमान है, जगत से बाहर भिन्न देशवर्ती नहीं ।

उत्तर—यजुर्वेद अध्याय ३१/मं. १९ का वास्तविक अर्थ एवं आशय यह है—

(अजायमानः) अपने स्वरूप से उत्पन्न न होने वाला (प्रजापतिः)^१ प्रजा का स्वामी ब्रह्म (गर्भे अन्तः) प्रकृति रूपी गर्भ के अन्दर सत्ता से (चरति) विचरण करता है और (बहुधा) बहुत प्रकारों से (वि, जायते) विशेषकर प्रकट होता है । (तस्य) उस ब्रह्म के जिस (योनिम्) स्वरूप को (धीराः) ध्यानशील जन (परि, पश्यन्ति) सबसे परे देखते हैं । (तस्मिन् ह) उसकी प्रसिद्ध सत्ता में (विश्वा भुवनानि) सभी लोक-लोकान्तर (तस्थुः) स्थित हैं ।

इस मन्त्र में आलंकारिक वर्णन है । किसी चित्रकार की चित्रकारी को देखकर चित्र में ही चित्रकार के व्यक्तित्व की कल्पना कर ली जाती है । किसी

^१ प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरज्जायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा । (यजु. ३१/१९)

महान ग्रन्थ के रचनाकार की कृति में रचनाकार का अस्तित्व मान लिया जाता है। यद्यपि किसी चित्र में चित्रकार का या किसी ग्रन्थ में ग्रन्थकार का पंचभौतिक शरीर नहीं होता, अपितु उसकी कृति स्थित होती है। वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म की महान कलाकारिता को प्रकट करता है। इसलिए इस मन्त्र में आलंकारिक रूप से कहा गया है कि इस जगत में मानों ब्रह्म ही अनेक रूपों में प्रकट होता है। इसी मन्त्र में ब्रह्म को (अजायमानः) उत्पन्न न होने वाला कहा गया है। यदि ब्रह्म ही जगत में अनेक रूपों में प्रकट होता, तो ब्रह्म के लिए 'अजायमानः' पद का प्रयोग सम्भव नहीं होता। एक ही मन्त्र में पारस्परिक विरोधी कथन कदापि सम्भव नहीं है। इसी मन्त्र में (परि पश्यन्ति) पद का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है—'सबसे पृथक् देखते हैं'। यदि ब्रह्म इस जगत के अन्दर अपने स्वरूप से विराजमान होता हो 'परि पश्यन्ति' पद का प्रयोग नहीं हो सकता था। इसी अध्याय के अठारहवें मन्त्र में उस अखण्ड स्वरूप वाले ब्रह्म को 'तमसः परस्तात्'¹ अर्थात् प्रकृति के अन्धकार से पृथक् स्थित माना गया है। पुनः ब्रह्म के स्वरूप को प्रकृति के अन्दर मानना अनुचित है।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् । वे. द. अ. १/पा. १/सू. २६

पदार्थ—(भूतादिपादोपपत्तेः) भूतादि पाद की उत्पत्ति से (च) भी (एवम्) यही पाया जाता है।

भावार्थ—यजुर्वेद (अ. ३१ मं. ३) में ब्रह्म के एक पाद द्वारा उद्भूत प्रकृति में सम्पूर्ण प्राणीमात्र को माना गया है तथा इसके शेष तीनों पादों को अखण्ड, प्रकाशमय माना गया है। यजुर्वेद के (अ. ३१/मं. ४) में ब्रह्म को 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः' अर्थात् त्रिपाद अमृत (चतुष्पाद विभूति या योगमाया के ब्रह्माण्ड) से ऊपर परमधाम में माना गया है। जिस अविनाशी ब्रह्म का मूल स्वरूप हृद, बेहृद से परे अनादि, अखंड, नित्य, चेतन, परमधाम में हो, उसे इस प्राकृतिक परिवर्तनशील तथा महाप्रलय में नष्ट हो जाने वाले जगत के कण-कण में मानना वेद के मूल आशय के विपरीत है।

वेदान्त के विद्वानों के अनुसार ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं है तथा वह अवयव से रहित निराकार है। अपने सिद्धान्त की पुष्टि में वे वेदान्त दर्शन के कतिपय सूत्रों की सहायता लेते हैं। 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'। (वे. द. अ. ३/पा. २/सू. १४) अर्थात् निराकार प्रधान होने से रूप से रहित ही निश्चय है।

उत्तर—ब्रह्म को स्वरूप से रहित कदापि नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ (वे. द. अ. ३/पा. २/सू. १५) अर्थात् व्यर्थ न होने से प्रकाश के समान जाना चाहिए।

¹ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । यजु. ३१/१८

क्या प्रकाश का स्वरूप नहीं होता ? स्वरूप से रहित तो अन्धकार होता है । जिस प्रकाश की उपस्थिति से पदार्थों का स्वरूप दिखाई पड़ता है, तो क्या उसी प्रकाश को स्वरूप से रहित माना जाएगा । सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, विद्युत आदि का जो भी प्रकाश है, उस प्रकाश का मूल स्रोत कोई न कोई आकृति रखता है । ब्रह्म का स्वरूप भी इस जड़ जगत से परे चेतन ब्रह्मधाम में है, जहां कण-कण में उसका शुक्रमयी स्वरूप स्वयं प्रकाशित हो रहा है । उस ब्रह्मधाम में प्रकृति की छाया भी नहीं है । वैदिक साहित्य में उस ब्रह्म के स्वरूप को आदित्य वर्ण, रुक्मवर्ण, भर्गः, शुक्र आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है । जिसके साथ 'वर्ण' पद प्रयुक्त होता है, उसको स्वरूप से रहित किस प्रकार कहा जा सकता है ?

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥

मुण्डकोपनिषद् तृ. मु. प्र. खं. श्लोक ३

पदार्थ—(यदा) जब (पश्यः) द्रष्टा (रुक्मवर्णम्) स्वर्ण या चमकते हुए वर्ण वाले (कर्तारम्) जगत के कर्ता, (ईशम्) स्वामी और (ब्रह्मयोनिम्) ज्ञान उत्पादक (पुरुषं) ब्रह्म को (पश्यते) देखता है, (तदा) तब (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष (पुण्यपापे) पुण्य और पाप को (विधूय) छोड़कर (निरंजनः) निर्लेप होकर (परमम्) अत्यन्त (साम्यम्) लौह-अग्निवत् समता को (उपैति) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—रुक्मवर्ण को स्वरूप से रहित नहीं कहा जा सकता है । यदि ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं होता, तो उसके (आत्मिक दृष्टि से भी) देखने का प्रश्न नहीं होता ।

प्रश्न—‘रूपोपन्यासाच्च’ । (वे. द. अ. १/पा. २/सू. २३) अर्थात् (रूपोपन्यासाच्च) रूप के उपन्यास अर्थात् कल्पनायुक्त कथन से (च) भी । काल्पनिक कथन को उपन्यास कहते हैं, जो न हो, किन्तु कल्पना करके कहा जाए । ब्रह्म का रूप वास्तव में नहीं हैं, परन्तु अलंकार से कल्पना करके कहा गया है । जैसे—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येषः सर्वभूतान्तरात्मा ॥

मुण्डको २/१/४

अग्नि उसका मूर्धा है, सूर्य चन्द्र 'नेत्र', दिशाये कान, वेद 'वाणी', वायु 'प्राण', हृदय 'विश्व', पृथिवी 'पैर' । यही सब भूतों का अन्तरात्मा परमात्मा है । ऐसे रूपक बांध कर कथन उपन्यास की रीति पर कहे गये हैं, जो जीव व प्रकृति में नहीं घटते ।

उत्तर—यदि ब्रह्म का स्वरूप प्रकृति में होता, तो प्राकृतिक पदार्थों सूर्य, चन्द्र, वायु आदि से उसके स्वरूप की तुलना की जा सकती थी। किन्तु ब्रह्म अपने अविनाशी धाम में शुक्रमयी स्वरूप वाला है, जिसका दृष्टान्त किसी भी प्राकृतिक पदार्थ से नहीं दिया जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् (२/१/४) का कथन ब्रह्म के गुणों का वर्णन करता है न कि उसके शुक्रमयी स्वरूप का वर्णन। नेत्र की सहायता से कोई भी पदार्थ देखा जाता है। इस प्रकृति मण्डल में सूर्य और चन्द्रमा आदि का प्रकाश सांसारिक वस्तुओं को देखने में प्रयुक्त होता है, इसलिए ब्रह्म की अनन्त दृष्टि-शक्ति को दर्शाने के लिए सूर्य और चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया गया। कान के द्वारा सुना जाता है, अतः ब्रह्म की अनन्त श्रवण शक्ति को दर्शाने के लिए दृष्टान्त के रूप में सारी दिशाओं की ही कान से उपमा दी गई।

वेद के ज्ञान की तुलना उसकी अनन्त ज्ञानमयी वाणी से की गई। जिस प्रकार प्राण के द्वारा सभी पंचभौतिक प्राणियों की शारीरिक-रक्षा होती है, उसी प्रकार ब्रह्म की सत्ता से संसार के सारे प्राणियों के शरीर की जीवन-यात्रा पूर्ण होती है। ब्रह्म के इस जीवन दायक गुण को दर्शाने के लिए सम्पूर्ण वायुमण्डल की ही तुलना प्राण से की गई। शरीर के अन्दर हृदय वह स्थान है, जहां समस्त नाड़ियां उसी तरह से जुड़ी हुई हैं, जिस तरह पहिए के धुरे में उसके सब अरे जुड़े होते हैं। ब्रह्म की ही सत्ता में असंख्य ब्रह्माण्डों का संचालन होता है। उसकी अनन्त महिमा को ज्ञानशक्ति के प्रदर्शन के माध्यम से विश्व में तुलना की गई। इस प्रकार यह रूपकालंकार में वर्णित उपनिषद् का वचन ब्रह्म के गुणों का ही वर्णन करता है, स्वरूप का नहीं। इसी मुण्डकोपनिषद् (द्वि. मु. द्वि. ख. श्लोक ९/४१) में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

जब वह ब्रह्म हृद-बेहृद (क्षर एवं योगमाया के ब्रह्माण्ड) से परे परमधाम में अनन्त शुक्रमयी कोश में विराजमान है, तो प्रकृति मण्डल के सूर्य, चन्द्रमा, दिशाएं, वायु को उसके स्वरूप वर्णन में प्रयुक्त करना अनुचित है। वह ज्योतियों की भी ज्योति है। क्या अनन्त शुक्रमयी ज्योति से सम्पन्न उस ब्रह्म को रूप से रहित कहा जा सकता है ?

ज्योतिर्दर्शनात्।

वे. द. अ. १/पा. ३/सू. ४०

पदार्थ—(दर्शनात्) देखने से (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप।

यदि ब्रह्म ज्योतिः स्वरूप है, तो उसकी ज्योति का आकार क्या है ? वेदान्ती जिस ब्रह्म को आकाश, महत्त्व तथा कारण प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म स्वरूप वाला मानते हैं, तो उसकी ज्योति को भी सूक्ष्म मानना पड़ेगा, क्योंकि सामान्यतः ज्योति किसी पदार्थ से प्रकट होती है। जब ब्रह्म ही मात्र ज्योति

स्वरूप है, तो प्रकृति, जीव तथा ब्रह्म की ज्योति से भिन्न अन्य कोई स्वरूप ब्रह्म का नहीं माना जा सकता, जिससे वह ब्रह्म-ज्योति प्रगट होती हो। ज्योति को भी कारण प्रकृति से अधिक सूक्ष्म नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारण प्रकृति से अधिक सूक्ष्म मानने पर उसका दर्शन ही असम्भव है। उस ब्रह्म-ज्योति को एकदेशी भी नहीं माना जा सकता। सर्वदेशी मानने पर ब्रह्म-ज्योति को प्राकृतिक पदार्थों के अन्दर भी मानना पड़ेगा, जो कि असम्भव है, क्योंकि अखण्ड ब्रह्म की ज्योति पर प्रकृति कदापि अपना आवरण नहीं डाल सकती है।

वस्तुतः शुक्रमयी ज्योति वाला वह ब्रह्म इस प्राकृतिक जगत से सर्वथा परे अपने अविनाशी धाम में ही है तथा उसे कदापि निराकार या रूप रहित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निराकार तथा साकार जड़ प्रकृति के स्वरूप हैं। त्रिगुणातीत चेतन ब्रह्म का स्वरूप, साकार निराकार की मान्यताओं से भिन्न शुक्रमयी स्वरूप वाला है, जिसमें कभी जीर्णता नहीं होती और न भूख, प्यास, आदि दोष ही हो पाते हैं।

प्रश्न—आह च तन्मात्रम्। (वे. द. अ. ३/पा. २/सू. १६)। अर्थात् शास्त्र भी कहता है कि ब्रह्म चेतन मात्र है, साकारादि नहीं। यथा—

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसधन एवैवं वा अरेऽयमात्मा-
ऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ॥

बृह. ४/५/१३

अर्थात् जैसे सैन्धव नमक का ढेला न तो भीतर न बाहर किन्तु (भीतर-बाहर) सारा ही नमकीन रस का ढेला है, ऐसे ही अरे (मैत्रेय !) यह ब्रह्म भी न भीतर और न बाहर, किन्तु समस्त ही केवल चेतन स्वरूप है।

उत्तर—सैन्धव नमक का ढेला एक द्रव्य है और उसमें नमकीनापन होना उसका गुण। गुण से द्रव्य और द्रव्य से गुण पृथक् नहीं हो सकते। नमक का जो ढेला अपने अन्दर नमकीन होने का गुण रखता है, वह स्वरूप से रहित नहीं है। यदि उसे जल में भी घोल दिया जाए, तो सारा जल नमकीन हो जाता है। उसे कहीं से भी चखें तो नमक का स्वाद आता है, यद्यपि नमक कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता।

यहां यह जिज्ञासा के रूप में शंका होती है कि जिस प्रकार जल में घुला हुआ नमक आंखों से दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु उस घोल में नमक ओत-प्रोत है, वैसे ही ब्रह्म भी कोई स्वरूप नहीं रखता, किन्तु सम्पूर्ण जगत में ओत-प्रोत है? तो इसका समाधान यह है कि नमकीन जल का दृष्टान्त ब्रह्म के स्वरूप को निरूपित करने के लिए नहीं दिया जा सकता क्योंकि नमकीन जल की एक बूंद को भी चखने पर उसमें नमक का स्वाद आता है।

यदि ब्रह्म इस जगत में होता, तो भले ही उसका रूप न दिखाई पड़ता, किन्तु ब्रह्म की सर्वज्ञता, चेतनता, निर्विकारिता, अखण्डता, दुखादि-द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त रहने वाले गुणों का समावेश जगत में भी अवश्य होना चाहिए। किन्तु व्यवहार में प्रत्यक्ष यही देखा जाता है कि ब्रह्म के वर्णित गुणों में एक भी गुण इस जड़ जगत में नहीं है। ब्रह्म अपने अविनाशी धाम में अखण्ड, एकरस स्वरूप वाला है, जिसे न तो साकार कह सकते हैं और न निराकार, अपितु वह इन दोनों से भिन्न स्वरूप वाला है। ब्रह्म के स्वरूप का विशद-विवेचन षष्ठ समुल्लास में देखिए।

यह वेदान्त की समीक्षा का अष्टम समुल्लास सम्पूर्ण हुआ। इसके आगे योग की समीक्षा की जाएगी।

नवम समुल्लास

‘योग-समीक्षा’

सौ माला बाओ गले में, द्वादश करो दस बेर ।
जोलों प्रेम न उपजे पिउसों, तोलों मन न छोड़े फेर ॥
तान मान कई रंग करो, अलापी करो किरंतन ।
आप रीझो औरों रीझाओ, पर बस न होए क्योंए मन ॥
साधो सबे जोगारंभ, अनहद अजपा आसन ।
उड़ो गड़ो चढ़ो पांच में, आखिर सुन्य न छोड़ी किन ॥
आगम भाखो मन की परखो, सूझे चौदे भवन ।
मृतक को जीवत करो, पर घर की न होवे गम ॥

किरंतन प्र. १४ चौ. ५, ६, ९, १०

रे हूं रे हूं नाहीं सब्द सोहं जो तत्व पांच में, ना खट चक्र सिर पवन ।
त्रिकुटी त्रिवेनी तीनों ही काल में, ना अनहद अजपा आसन ॥

किरंतन प्र. ११ चौ. ५

अभि प्रियं दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् । सूरः पश्यति चक्षसा ।

सामवेद उत्तरार्चिक प्र. ४/खं. १/सू. १/मं. १२ (११२७)

पदार्थ—(अध्वर्युभिः) हिंसा रहित उपासना यज्ञ में भाग लेने वाले ब्रह्म के उपासकों द्वारा (अभि हितम्) भली भांति कहा गया है कि (दिवः) ब्रह्म का अखण्ड प्रकाशमय (प्रियं पदम्) प्रिय पद या स्थान (गुहा) परम गुहा है । (सूरः)^१ योग विद्या का विद्वान्, उपासक (चक्षसा) दिव्यदृष्टि द्वारा (पश्यति) ब्रह्म का साक्षात्कार करता है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में मात्र ‘परम गुहा’ में ही ब्रह्म के साक्षात्कार का वर्णन है । ‘परम गुहा’ में ब्रह्म का साक्षात्कार करने की प्रक्रिया योग की एक विशेष अवस्था में ही सम्भव हो पाती है । आजकल योग के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियां प्रचलित हैं । महर्षि पतंजलि का ‘योग दर्शन’ योगाभ्यासियों के लिए सर्वश्रेष्ठ आर्ष-ग्रन्थ के रूप में माना जाता है । यद्यपि योग दर्शन में कहीं

^१ सरति ज्ञान द्वारेण प्राप्नोतीति सूरौ विद्वान् ।

भी परम गुहा का वर्णन नहीं है। ब्रह्म दर्शन के मार्ग में योग दर्शन, कहां तक हमें ले जा सकता है। इसका निर्णय करने के लिए महर्षि पतंजलि कृत 'योग दर्शन' की संक्षिप्त विवेचना करनी आवश्यक है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो. द. पा. १/सू. २

चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। यो. द. पा. १/सू. ३

तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है।

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। यो. द. पा. १/सू. १२

(बार-बार रोकने के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्त वृत्तियों) का निरोध होता है।

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः। यो. द. पा. १/सू. ४०

परमाणु और परम महत्व तक इस (चित्त) का वशीकार हो जाता है। अर्थात् चाहे तो परम अणु=सबसे छोटे पदार्थ में चित्त को लगा दे और चाहे तो बड़े से बड़े में। जब यह अधिकार चित्त पर योगी का हो जाए, तब यह जान लेना चाहिए कि चित्त वश में हो गया। इससे संप्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है।

ता एव सबीज समाधिः। यो. द. पा. १/सू. ४६

वे (४ समापत्तियां) ही (मिलकर) सबीज समाधि कहलाती हैं। १. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा और ४. निर्विचारा। इन समापत्तियों को ही सबीज या संप्रज्ञात योग कहते हैं।

इन चारों में से अंतिम निर्विचारा का उत्तम फल यह है कि—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। यो. द. पा. १/सू. ४७

निर्विचारा (समाधि) के नैर्मल्य में अध्यात्म (बुद्धिसत्त्व) प्रसन्न हो जाता है। निर्विचार समाधि का नैर्मल्य यह है कि रजोगुण और तमोगुण के मल से रहित प्रकाशरूप बुद्धिसत्त्व की प्रकृति (प्रधान) पर्यन्त सूक्ष्म ग्राह्य विषय का, जिसमें प्रत्यक्ष हो जाता है और जो रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित नहीं होती, जो सात्विक होने से अत्यन्त निर्मल है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर सात्विक बुद्धि, स्वच्छ, निर्मल, प्रसन्न और निर्विकार हो जाती है।

‘ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा’। यो. द. पा. १/सू. ४८

निर्विकार समाधि में ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। ऋतम्भरा का अर्थ यह है कि ऋत=यथार्थ सत्य=विकल्प रहित। यथार्थ सत्य सिद्धान्त या पदार्थ

को जो बुद्धि धारण करती है, वह निर्भ्रम अर्थात् भ्रम रहित बुद्धि 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहलाती है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् । यो. द. पा. १/सू. ४९
(यह ऋतम्भरा प्रज्ञा) विशेषविषयिणी होने से श्रुति, शास्त्र और अनुमान की प्रज्ञा से भिन्न विषय है।

शास्त्र और अनुमान से भी पदार्थ का ज्ञान होता है परन्तु साक्षात्कार नहीं होता। पर इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से साक्षात्कार होता है, इसलिए शास्त्र अनुमान तो सामान्य ज्ञान कराने वाले हैं और ऋतम्भरा प्रज्ञा विशेष ज्ञान कराने वाली है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । यो. द. पा. १/सू. ५०

इस (ऋतम्भरा प्रज्ञा) से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों को हटाने वाला है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः । यो. द. पा. १/सू. ५१

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से (उत्पन्न संस्कार) के भी रोकने पर सबके रुक जाने से निर्वीज समाधि (असम्प्रज्ञात योग) सिद्ध हो जाती है।

निर्वीज समाधि में सभी संस्कार रुक जाते हैं और चित्त अपनी प्रकृति (स्वरूप) में लीन हो जाता है तथा चित्त अपने विषय तथा संस्कारों से छुटकारा पाकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् । यो. द. पा. ३/सू. २

धारणा में ज्ञान का एकरस बना रहना ध्यान है। वस्तुतः इसे 'ब्रह्म का ध्यान' समझना अनुचित है, क्योंकि वाणी तथा मन से परे ही ब्रह्म का स्वरूप है। साक्षात्कार से पहले ब्रह्म का वास्तविक ध्यान होना असम्भव है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । यो. द. पा. ३/सू. ३

वही (ध्यान) जब उसमें अर्थ (जिस देश में ज्ञान एकरस हुआ हो) मात्र का प्रकाश हो और अपने स्वरूप से शून्य सा हो जाए, उसको समाधि कहते हैं। धारणा में चित्त किसी देश में बांधा जाता है। ध्यान में उस देश विशेष का ज्ञान एकरस हो जाता है और समाधि में देश-विदेश के ज्ञान का एकरसपना भी स्वरूप से शून्य सा हो जाता है। ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीनों प्रतीत होते हैं और समाधि में अर्थमात्र (ध्येय) ही प्रकाशता है। ध्यान करने वाला = ध्याता और ध्यान रहते हैं, परन्तु शून्य (न रहे) से हो जाते हैं।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेधः समाधिः ।

यो. द. पा. ४/सू. २९

प्रसंख्यान में भी लिप्सा न करने वाले (योगी) को सर्वथा विवेक ख्याति से ‘धर्ममेध’ नामक समाधि सिद्ध हो जाती है।

प्रकृति और उसके कार्य देहादि से पुरुष चेतन को भिन्न अनुभव करने का नाम “प्रसंख्यान” है। जब योगी इस प्रसंख्यान में भी लिप्सा या लालच त्याग देता है, तो उसको सर्वथा “विवेक ख्याति” अर्थात् विवेक के सदा एकरस उदय से “धर्ममेध समाधि” की सिद्धि होती है।

“संप्रज्ञात” योग का फल “संप्रख्यान” और संप्रख्यान की पराकाष्ठा “धर्ममेध” समाधि है, जिसके संस्कारों से “व्युत्थान” संस्कार सर्वथा दब जाते हैं। इस धर्ममेध की भी पराकाष्ठा “ज्ञानप्रसाद” या “परवैराग्य” है जिसमें योगी निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। यो. द. पा. ४/सू. ३०

धर्ममेध समाधि की अवस्था प्राप्त होने पर अविद्यादि क्लेश और उन क्लेशों के मूल शुभाऽशुभ कर्म और उनकी वासनाएं निवृत्त हो जाती हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति। यो. द. पा. ४/सू. ३४

पुरुष के लिए प्रयोजन शून्य गुणों का अपने कारण में लय अथवा ‘चित्ति शक्ति’ का अपने स्वरूप से स्थित रह जाना “कैवल्य” है।

पुरुष को भोग से त्याग पूर्वक मोक्ष, छुटकारा अथवा कैवल्य प्राप्त हो जाने पर सत्त्वादि गुणात्मिका प्रकृति के महत्तत्त्वादि कार्य अपने कारण में प्रति प्रसव (लय) को प्राप्त हो जाते हैं। संस्कार मन में, मन अस्मिता में, अस्मिता महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है और चेतन जीव की चित्ति शक्ति केवल अपने स्वरूप मात्र में स्थित रह जाती है। इस दशा को इसी कारण से “कैवल्य” कहते हैं। इसी के मुक्ति, मोक्ष निर्वाण इत्यादि भाव वाचक नाम हैं।

प्रश्न—जीव की कितनी अवस्थाएं हैं ?

उत्तर—जीव अपने स्वरूप से छह अवस्थाओं में रहता है। १. स्थूल २. सूक्ष्म ३. कारण ४. महाकारण ५. कैवल्य ६. हंस

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में प्रकृति का योग होता है। महाकारण तथा कैवल्य में प्रकृति से यद्यपि सम्बन्ध नहीं रहता है, किन्तु ये अवस्थाएं जीव की पूर्ण शुद्ध अवस्थाएं नहीं हैं। वास्तविक शुद्ध अवस्था हंस अवस्था है जिसे वैदिक साहित्य में ‘वेन’ अथर्ववेद का. २/सू. १/मं. १, तथा ‘हंस’, ऋग्वेद ४/४०/५ में कहा गया है। इसके अतिरिक्त कठोपनिषद् में भी जीव के शुद्ध स्वरूप को “हंस” पंचमी वल्ली श्लोक २ में कहा गया है।

प्रश्न—योग की कितनी भूमियां हैं ?

उत्तर—योग की पांच भूमियां होती हैं ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।

कठोपनिषद् तृतीया वल्ली श्लोक १

पंचाग्नि विद्या तथा तीन बार नाचिकेत अग्नि का सेवन करके यज्ञ करने वाले जो ब्रह्म तत्व को जानते हैं, वे ब्रह्म तथा (प्रकृति) माया को, छाया और प्रकाश की भांति कहते हैं । कठोपनिषद् के इस कथन में योग की पांचों भूमियों के ज्ञान को ही पंचाग्नि विद्या कहा गया है । वेद में भी—

इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् । ऋग्वेद (मंडल १/सू. ७/मं. ९) में ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग को पांच क्षतियों (भूमियों) से सम्बन्धित माना गया है ।

प्रश्न—भोमका सात कही वसिष्ठे, तामें पांचमी केवल विदेही ।

छठी को सब्द ना निकसे, तो सातमी दृढ क्यों होई ॥

किरंतन प्र. २९ चौ. १३

प्रश्न—योग वाशिष्ठ के इस कथन तथा वेद के कथन में विरोधाभास क्यों हैं ?

उत्तर—वस्तुतः विरोधाभास नहीं हैं । वैदिक योग पद्धति में कैवल्य चौथी भूमिका में होता है, जबकि योग वाशिष्ठ के अनुसार 'कैवल्य' पद की प्राप्ति पांचमी भूमिका में होती है । योग वाशिष्ठ की छठीं भूमिका ही वैदिक योग पद्धति की पांचवीं भूमि है । वेद में अक्षर ब्रह्म की चतुष्पाद विभूति के ही साक्षात्कार का उल्लेख है । अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के साक्षात्कार करने का कोई भी मार्ग वेद में नहीं है । क्योंकि जीव सृष्टि पूर्णातिपूर्ण उस अनन्त परमधाम में प्रवेश का अधिकार नहीं रखती । चतुष्पाद विभूति (योगमाया का ब्रह्मांड) ही इसके लिए परमधाम है ।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि वैदिक योग पद्धति का अनुकरण करते हुए मात्र अक्षर ब्रह्म का चतुष्पाद विभूति तक का ही साक्षात्कार हो सकता है, अक्षरातीत का नहीं ?

उत्तर—वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।

अथर्ववेद का. २/सू. १/मं. १

पदार्थ—(वेनः) अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित योगी (तत्) उस ब्रह्म को (परमं गुहा) परम गुहा में (पश्यत्) देखता है । (यत्र) जहां (विश्वम्) सब कुछ (भवति एक रूपम्) एक रूप हो रहा है ।

भावार्थ—अपनी शुद्ध ‘हंस’ अवस्था में स्थित योगी जब परम गुहा (योग की पंचम भूमि) में प्रवेश करता है, तो उसे करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान योगमाया के ब्रह्माण्ड का अनन्त शुक्रमयी तेज दिखाई पड़ता है, जहां एकमात्र नूरमयी (शुक्रमयी) तत्व के अतिरिक्त प्रकृति की छाया भी नहीं है।

अक्षर की चतुष्पाद विभूति का दृश्य उसी प्रकार इस मृत्युलोक में दिखाई पड़ता है, जिस प्रकार दूर के दृश्यों को ‘दूरदर्शन’ टेलीविजन पर दिखाया जाता है। यद्यपि पर्दे पर आकृति का ही दृश्य होता है, मूल स्वरूप का नहीं तथा उसे ही देखकर हर्ष, शोक आदि का अनुभव होता है, वैसे ही परम गुहा में ब्रह्म के उस अखण्ड स्वरूप का साक्षात्कार करके असीम आनन्द का अनुभव होता है, जो योगमाया के ब्रह्माण्ड में चार विभिन्न शक्तियों के रूप में विराजमान है।

यदि यह शंका की जाए कि एक सूर्य में इतना अधिक ताप है कि वहां पर सभी धातुएं गैसों के रूप में हैं, तो करोड़ों सूर्यों से भी अधिक ब्रह्म का तेज पंचभौतिक शरीर नहीं सहन कर सकता है। इसका समाधान यह है कि टेलीविजन के पर्दे पर सूर्य का दृश्य दिखाने पर यही प्रतीत होता है कि साक्षात् सूर्य उदित हुआ है किन्तु पर्दे को कोई भी हानि नहीं होती, वैसे ही परम गुहा में ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर भी करोड़ों सूर्यों से अधिक ब्रह्म का तेज अवश्य दिखाई पड़ेगा, किन्तु उससे शरीर पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्।

अथर्ववेद का २/सू. १/मं. २

पदार्थ—(अस्य) इस ब्रह्म के (त्रीणि पदानि) तीन पाद अर्थात् त्रिपाद अमृत (निहित गुहा) गुहा में निहित है। (यः) जो (तानि वेद) उन तीनों पादों को जानता है, (सः पितुः पिता असत्) वह पिता का भी पिता है।

भावार्थ—गुहा में निहित तीन पाद (सत् स्वरूप, केवल तथा सबलिक) हैं। यद्यपि चारों पाद अखंड शुक्रमयी हैं, किन्तु त्रिपाद अमृत या तीन पादों का तात्पर्य (सत् स्वरूप, केवल तथा सबलिक) से ही लिया जाता है। परम गुहा में ब्रह्म की शक्तियों के स्वरूपों का साक्षात्कार कर लेने पर योगी योगमाया के ब्रह्माण्ड में होने वाली सभी लीलाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

“त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः” (यजु. अ. ३१/मं. ४) के अनुसार अक्षर ब्रह्म का मूल स्वरूप त्रिपाद अमृत अर्थात् योगमाया के ब्रह्माण्ड के भी ऊपर है। मुण्डकोपनिषद् द्वि. सु. प्रथम खण्ड २/२४ “शुभ्रो हि अक्षरात् परतः परः” के अनुसार वह अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म, अविनाशी अक्षर से भी परे है।

अतः वैदिक योग पद्धति की पराकाष्ठा (अंतिम उपलब्धि) अक्षर ब्रह्म के चारों पादों से ही सम्बन्धित है। इससे अक्षरातीत पूर्णब्रह्म के स्वरूप का

साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए हमें “श्री प्राणनाथ जी” द्वारा प्रदत्त मूल स्वरूप तथा परमधाम के २५ पक्षों की चितवनी के मार्ग का ही अनुकरण करना होगा। इसके अतिरिक्त अक्षरातीत का सानिध्य पाने के लिए अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।

प्रश्न—क्या यह निश्चित है कि वैदिक योग पद्धति का अनुकरण करने वाले सभी योगमाया के ब्रह्माण्ड में स्थित ब्रह्म के शुक्रमयी स्वरूप का साक्षात्कार कर ही लेंगे ?

उत्तर—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

कठोपनिषद् द्वि. वल्ली श्लोक ७

पदार्थ—(श्रवणाय अपि) सुनने के लिए भी (यः) जो ब्रह्मज्ञान (बहुभिः न लभ्यः) अनेकों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता। (शृण्वन्तः अपि) सुनते हुए भी (बहवः) बहुत से (यम्) जिसको (न विदुः) नहीं जानते हैं। (अस्य) इस ब्रह्मज्ञान का (वक्ता) वक्ता (आश्चर्यः) कोई विरला ही होता है। (अस्य) इस ब्रह्मज्ञान का (लब्धा) पाने वाला (कुशलः) कोई प्रवीण ही होता है। (कुशलानुशिष्टः) प्रवीण पुरुष से उपदेश पाया हुआ (ज्ञाता) ब्रह्म को जानने वाला (आश्चर्यः) कोई-कोई ही होता है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञान का मार्ग बहुत कठिन है। बहुत से तो इसे जानना भी नहीं चाहते। जानने की इच्छा करने वालों में बहुतों को यह सुनने को भी नहीं मिलता। ब्रह्मज्ञान सुनने वालों में भी बहुतों को यह समझ में ही नहीं आता। सुनकर तथा समझकर ब्रह्म की खोज करने वालों में से कोई विरला ही एक ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है।

अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम्।

श्रीमदभागवत् गीता अ. ६ श्लोक ४५

अर्थात् अनेक जन्मों में ब्रह्म तत्व की खोज करता हुआ योगी श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूम् स्वाम्॥

कठोपनिषद् द्वि. वल्ली श्लोक २३

सब का नियामक वह ब्रह्म ही जिसका वरण करता है, वही उसको प्राप्त कर पाता है। और वह ब्रह्म उसके प्रति अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है।

आर्ष-ग्रन्थों के विश्वस्तरीय विद्वानों तथा उच्च स्तरीय योग सिद्ध महापुरुषों तक को भी यह पता नहीं होता है कि परम गुहा कहां है ? जिन महान

तत्वदर्शियों को भी परम गुहा का स्थान तथा उसमें अपने शुद्ध स्वरूप से प्रविष्ट होने की विधि का ज्ञान होता है, उनमें भी कोई विरला ही महाशून्य को पार करके योगमाया के ब्रह्मांड में स्थित ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार कर पाते हैं।

प्रश्न—परम गुहा कहां है ?

उत्तर—अधिकतर विद्वान तथा साधक हृदयाकाश को ही परम गुहा समझे हैं। पर यह सही नहीं है।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥

कठोपनिषद् पंचमी वल्ली श्लोक १

पदार्थ—(अवक्र-चेतसः) शुद्ध चित्त वाले (अजस्य) जीव के (एकादश द्वारम्) ग्यारह द्वार वाले (पुरम्) नगर, शरीर को (अनुष्ठाय) अनुष्ठान करके (न शोचति) नहीं सोचता (च) और (विमुक्तः) मुक्त हुआ जीव (विमुच्यते) दुखों से छूट जाता है।

भावार्थ—कठोपनिषद् के इस श्लोक में जीव को 'अज' कहने का मूल आशय यह नहीं है कि जीव अक्षरातीत या अक्षर की तरह अनादि ही है। उसका मूल विराट् पुरुष (गीतोक्त प्रथम पुरुष) है। महाप्रलय तक वह अजन्मा अवश्य है किन्तु महाप्रलय की अवस्था में वह विराट् पुरुष में ही लीन हो जाता है। मानव शरीररूपी पुर से सम्बन्धित ११ द्वार होते हैं जिसमें १० द्वार (१ सिर में ब्रह्मरन्ध्र + २ आंख + २ कान + २ नासिका छिद्र + १ मुख + १ मल द्वार + १ मूत्र स्थान) तो शरीर में ही होते हैं किन्तु ग्यारहवां द्वार इस शरीर से परे होता है।

प्रायः विद्वान ग्यारहवां द्वार 'नाभि' को ही मान लेते हैं, किन्तु यह एक भ्रान्ति है। योग की चौथी भूमि में उपलब्ध कैवल्य की अवस्था का भी अतिक्रमण करके योगी जब हंस अवस्था में आठवें चक्र से भी दो अंगुल ऊपर स्थित होता है तो उसे एक श्वेत चमकती हुई सूक्ष्म 'बिन्दु' रूप ज्योति दिखाई पड़ती है। उसमें जीव के शुद्ध स्वरूप की चेतना के स्थिर होते ही करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी योगमाया (चतुष्पाद विभूति) का दृश्य दिखाई पड़ता है। वह श्वेत चमकती हुई भूमि ही एकादश द्वार है। नाभि को कदापि अध्यात्म में एकादश द्वार नहीं माना जा सकता। एक सन्त ने भी इस ओर संकेत करते हुए कहा है—

नव द्वारा संसार का, दशवां योगी तार।

एकादश खिड़की खुली, अग्र महल सुख सार ॥

एकादश खिड़की या कठोपनिषद् में कथित एकादश द्वार ही परम गुहा है, हृदयाकाश नहीं। गुरु के अभाव में ग्रन्थ पढ़ कर कदापि योगाभ्यास नहीं

करना चाहिए। इसलिए महर्षि पतंजलि ने अपने पहले ही सूत्र में कहा है कि—
‘अथ योगानुशासनम्’।

प्रश्न—अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्त-
राकाशः तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

छान्दोग्योप. प्रपा. ८/खं. १/१

अर्थात् कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर, जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् ब्रह्म का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान ब्रह्म बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप ब्रह्म उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है।

उत्तर—मानव शरीर के अन्दर ‘ब्रह्मपुरी’ को मानना उचित नहीं, क्योंकि जब ब्रह्म एक है तो उसकी ब्रह्मपुरी भी एक ही होनी चाहिए। सभी मनुष्यों के अन्दर ब्रह्मपुरी मानने पर अरबों ब्रह्मपुरियां हो जाएंगी तथा उनके अन्दर रहने वाले ब्रह्म भी अरबों की संख्या में हो जाएंगे, क्योंकि इस समय विश्व की जनसंख्या अरबों में है। शरीर के अन्दर ब्रह्मपुरी तथा उसमें ब्रह्म को निहित मानने पर ब्रह्म की अखण्डता तथा एकरसता पर भी कलंक लग जाएगा। केनोपनिषद् या अथर्ववेद के का. १०/सू. २/मं. २९-३३ तक में ब्रह्मपुरी के जो लक्षण कहे गए हैं, वे मानव शरीर में कदापि घट नहीं सकते हैं, क्योंकि उसमें ब्रह्मपुरी को अमृत से आवृत, अत्यधिक तेजस्विनी तथा उसमें किसी के भी द्वारा अब तक प्रवेश न किया गया हुआ माना गया है।

उस सूक्त में ब्रह्म को ब्रह्मपुरी के अन्दर ही एकरस माना गया है। अन्य सूक्ष्म प्राणियों अमीबा, बैक्टीरिया आदि के अन्दर भी वेद में वर्णित ब्रह्मपुरी के लक्षण नहीं घट सकते। वस्तुतः ब्रह्मपुरी तो प्रकृति से परे चेतन धाम में ही है या चेतन ब्रह्मधाम ही ब्रह्मपुरी है। यदि यह कहा जाए कि चेतन, एकरस ब्रह्म अपनी सर्वव्यापकता से सर्वत्र उपलब्ध है तथा हृदय में स्थित जीव के अन्दर भी अन्तर्यामी रूप से स्थित है और जीव अपने निवास स्थान हृदय में से ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्म को इस वैकारिक जगत के कण-कण में कहना, भ्रमयुक्त एवं वैदिक सिद्धान्तों के विपरीत है। ब्रह्म कहाँ है? इसकी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए इसी ग्रन्थ के चतुर्थ समुल्लास का अवलोकन करें।

धारणा—ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था चिन्तन-मनन से प्रारम्भ होती है जो चित्त और मन के द्वारा सम्पादित की जाती है। समाधि की अवस्था में शरीर या हृदय-देश तथा उसमें विद्यमान मन, चित्त का कोई भान नहीं होता, क्योंकि

चेतना इनसे परे ब्रह्म के स्वरूप में विचरण कर रही होती है। यही कारण है कि ध्यान का प्रारम्भिक स्थान हृदयदेश माना गया है। छान्दोग्योपनिषद् के उपरोक्त कथन का यही आशय है।

छान्दोग्योपनिषद् के पूर्वोक्त कथन में प्रयुक्त 'दहर' तथा 'आकाश' का अर्थ ब्रह्म होता है।

दहर उत्तरेभ्यः। वे. द. अ. १/पा. ३/सू. १४

आगे कहे हेतुओं से दहर नाम ब्रह्म का है।

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च। वे. द. अ. १/पा. ३/सू. १५

दो गति वाचक शब्दों से (ब्रह्म का नाम दहर) तथा उस प्रकार का ही चिह्न देखा भी है।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः। वे. द. अ. १/पा. ३/सू. १६

धारण करने के हेतु से भी ब्रह्म का नाम दहर है, क्योंकि इस आकाश में उस ब्रह्म की महिमा पायी जाती है।

प्रसिद्धेश्च। वे. द. अ. १/पा. ३/सू. १७

प्रसिद्ध भी है कि आकाश के भी भीतर ब्रह्म दहर नामक है। यथा—

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। छा. ८/१४/१

आकाश = दहर नाम ब्रह्म का ही नाम है और रूपों का निर्वाह करने वाला है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। वे. द. अ. १/ पा. ३/ सू. ४१

अन्य अर्थों के पृथक् कथन आदि से ब्रह्म का नाम आकाश है।

'ब्रह्मपुरी' शब्द का अर्थ ही है कि जिसके अन्दर ब्रह्म का वास हो। ब्रह्मपुरी मात्र हृदय देश के ही अन्दर क्यों है ? क्या अनन्त सूर्यों की भांति प्रकाशमान ब्रह्म पंच भौतिक शरीर के अन्दर हृदयाकाश में बंधा हुआ है ? वह मात्र कमल के आकार के वेश्म अर्थात् अवकाश रूप स्थान के ही अन्दर क्यों है ?

यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार जल के अन्दर ज्योति या अग्नि तत्व है। (अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्)। तैत्तिरीयोपनिषद् भृगु वल्ली अष्टम अनुवाक। जल के अन्दर शीतलता गुण मुख्यतया है। (अप्सु शीतता। वै. द. अ. २/आ. २/सू. ५)। एक ही तत्व जल के अन्दर दो विरोधी गुणों (दाहकता तथा शीतलता) का समावेश है, उसी प्रकार अनन्त सूर्यों की भांति प्रकाशमान ब्रह्म भी यदि शरीर के अन्दर हृदयाकाश में निहित माना जाय तो अनुचित नहीं, तो इसका समाधान यह है कि जल का कारण अग्नि तत्व है। वह जल के अन्दर कारण रूप से निहित

होता है, किन्तु ब्रह्म जगत तथा शरीर का उपादान कारण नहीं, अपितु निमित्त कारण है।

उसका स्वरूप इस जगत के अन्दर मानना उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार निमित्त कारण कुम्हार के द्वारा उपादान कारण मिट्टी से कार्य रूप घड़ा बनाया जाता है, तो घड़े के अन्दर वह बैठा तो नहीं होता है। वैसे ही उस ब्रह्म का स्वरूप इस पंचभौतिक शरीर के अन्दर हृदयाकाश में कहना अनुचित है। ब्रह्म का स्वरूप न तो प्रकृति में छिप सकता है और न उससे प्रकट हो सकता है क्योंकि वह एकरस है। उसके अखण्ड स्वरूप पर कोई भी प्राकृतिक आवरण नहीं पड़ सकता है।

प्रश्न—छान्दोग्योपनिषद् (प्रपा. ८/ खं. १/३) में लिखा है—

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशः तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति।

अर्थात् हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब ब्रह्म से ही परिपूर्ण हो रहा है और उसी हृदयाकाश के बीच में द्युलोक, पृथ्वीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत और सभी नक्षत्रलोक भी ठहर रहे हैं। जितने दिखाई देने वाले और न दिखाई देने वाले पदार्थ हैं, सब इसी में समाहित हैं।

उत्तर—यह कदापि सम्भव नहीं है कि मानव शरीर के अन्दर निहित हृदयाकाश में पृथ्वी से भी लाखों गुना बड़े सभी नक्षत्र समाहित हों। वस्तुतः उपनिषद् का आशय यह लेना चाहिए कि “प्रकृति से परे उस दिव्य ब्रह्मपुर में ब्रह्म का एकरस स्वरूप है।” उसी ब्रह्म की सत्ता में सभी प्रकृति मण्डल में स्थित नक्षत्र आदि स्थित हैं। ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप में सूर्य, नक्षत्र, विद्युत आदि जड़ पदार्थों का प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है। ब्रह्म की ब्रह्मपुरी को प्रकृति मण्डल से सर्वथा पृथक् ही मानना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप तथा प्रकृति के स्वरूप में छाया और प्रकाश का सम्बन्ध है। ‘छायातपयोरिव ब्रह्मलोके’ कठोपनिषद् षष्ठी वल्ली श्लोक ५। जिस प्रकार छाया और प्रकाश का स्वरूप सर्वदा अलग होता है, वैसे ही प्रकृति से परे ब्रह्म का स्वरूप ब्रह्मलोक (ब्रह्मपुरी या दिव्य ब्रह्मपुर) में ही है। अतः ब्रह्म का साक्षात्कार हृदय-देश में नहीं, अपितु वैदिक योग पद्धति के अनुसार परम गुहा (एकादश द्वार) में होता है।

छ० उ० का उपरोक्त कथन आलंकारिक भाषा में दर्शाया गया है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार मन में समस्त संसार के समाहित होने की बात कही जाती है, उसी प्रकार हृदयदेश में विद्यमान चैतन्य जब अपनी अन्तर्दृष्टि को खोलकर ब्रह्मपुरी में विराजमान ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है,

तो यह कथन सार्थक होता है कि अब जिस ब्रह्म का दर्शन किया गया है, उसी की सत्ता में ये सभी ग्रह-नक्षत्र स्थित हैं।

प्रश्न—वैदिक योग पद्धति के अनुसार ब्रह्म का साक्षात्कार किस प्रकार होता है ?

उत्तर—कई खट चक्र नाड़ी पवन, कई अजपा अनहद ।

कई त्रिवेनी त्रिकुटी, जोती सोहं राते सब्द ॥

सनंध प्र. १४ चौ. २३

या जग में ए क्या रे पतीती, कोई न पोहोंच्या पार ।

बोहोत दौड़े सो सुन्य तोड़ी, आड़ी पड़ी निराकार ॥

किरंतन प्र. १५ चौ. ७

योगारम्भी या कसबी, पोहोंचे ला मकान ।

मोह तत्व क्यों ए न छूटहीं, कहा परदा ऊपर आसमान ॥

किरंतन प्र. ६६ चौ. ४

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिव और स्वः वस्तुतः योग की चार स्थितियां हैं । पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिव, इन तीनों स्थितियों में प्रकृति से जीव का सम्बन्ध रहता है । चौथी स्वः की अवस्था में वह लौह अग्निवत ब्रह्म के साथ संयुक्त रहता है । महर्षि पतंजलि के राजयोग दर्शन की अंतिम उपलब्धिक “कैवल्य” की समाप्ति से वैदिक योग पद्धति की “विहंगम योग या परम योग” की मंजिल शुरू होती है । इस सम्पूर्ण योग पद्धति को पांच भूमियों में बांटा गया है ।

१. योग की प्रथम भूमि में अध्रखुले नेत्रों द्वारा एकटक नासिकाग्र पर देखा जाता है । इससे मन में स्थिरता आने लगती है और पांचों तत्वों के स्वरूप का साक्षात्कार होता है । इसी भूमि की ओर संकेत करते हुए गीता (अध्याय ६ श्लोक १३) में कहा गया है—

‘संप्रेक्ष्य नासिकाग्रम् स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।’

२. योग की द्वितीय भूमि में संयम (धारण, ध्यान, समाधि) करने पर दोनों भौहों के बीच में निरंजन तथा उसके ऊपर त्रिकुटी में “ओ३म्” शब्द की अनुभूति होती है तथा वहां का प्रकाश दिखायी पड़ता है । चांचरी^१ मुद्रा से निरंजन तथा भूचरी^२ मुद्रा से ओ३म् की अनुभूति होती है । इसी भूमि में विभिन्न विशिष्ट स्थानों पर संयम करने पर १० प्रकार के अनहद नाद सुनाई पड़ते हैं । इनमें ताल, डम्फ, मुरली (बांसुरी), वीणा, झांझ, मृदंग, किकिण, शहनाई के स्वर,

^१ आंख ।

^२ नाक ।

सिंह तथा बादल की गर्जना की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है। ये सभी उपलब्धियां प्रकृति के ही विभिन्न स्वरूप हैं। प्रायः इन्हीं प्राकृतिक अनुभूतियों को अंतिम लक्ष्य समझ कर कुछ योगी ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार करने से वंचित रह जाते हैं।

३. योग की तीसरी भूमि में अगोचरी मुद्रा अर्थात् भ्रमर गुफा में संयम करने से 'सोऽहं' शब्द की अनुभूति होती है। उन्मुनी मुद्रा के अन्तर्गत 'शक्ति' शब्द की अनुभूति होती है। खेचरी मुद्रा के अन्तर्गत दशम द्वार में संयम करने पर "ररं" शब्द की अनुभूति होती है।

ये सभी पांचों शब्द निरंजन, ओ३म्, सोऽहं, शक्ति तथा ररं प्रकृति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इन पांचों शब्दों की अनुभूतियों के साथ-साथ उन मंडलों का प्रकाश भी साधक को दिखाई पड़ता है।

४. योग की चौथी भूमि में सुषुम्ना प्रवाहित होती है, जिससे योगी त्रिकालदर्शी हो जाता है। इस अवस्था में उसके दशम द्वार पर आवरण डाली हुई सुषुम्ना का मुख हट जाता है। इससे अन्दर प्रकाश आता है और सभी चक्रों का भेदन स्वतः हो जाता है। इस अवस्था में जीव "कैवल्य" की स्थिति में होता है। कैवल्य की अवस्था में जीव का प्रकृति से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। योग दर्शन की उपलब्धि यहीं तक है। इस अवस्था में महाशून्य, जीव तथा ब्रह्म के बीच साक्षात्कार में परदा बन जाता है। महाशून्य को पार करने की एक विशेष गुह्य विधि है, जिसका तत्वज्ञान महान ब्रह्म ज्ञानियों की सेवा से ही प्राप्त हो पाता है।

५. योग की पांचवीं तथा अंतिम भूमि में जीव कैवल्य का भी अतिक्रमण करके अपनी शुद्ध 'हंस' अवस्था में स्थित हो जाता है। वस्तुतः ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाले विहंगम योग या परमयोग का प्रारम्भ इसी पांचवीं भूमि से ही होता है। वह सात सुरति^१ (जीव की चित्ति शक्ति) से भी परे शुद्ध निरति के द्वारा दशम द्वार से दो अंगुल ऊपर मकर तार के सहारे जब स्थित होता है, तो एक श्वेत चमकती हुई भूमि दिखाई देती है, यही "परम गुहा" है। इस परम गुहा में अपनी शुद्ध हंस अवस्था के साथ जब जीव प्रविष्ट होता है, तो उसे करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान ब्रह्मपुरी तथा ब्रह्म का स्वरूप दिखाई पड़ता है। ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार कर जीव धन्य-धन्य हो जाता है।

अनेक योगी कैवल्य की अवस्था प्राप्त कर लेने पर भी "परम गुहा में प्रविष्ट होने का रहस्यमयी ज्ञान" न जानने के कारण, शरीर से बाहर निकल कर अपने चैतन्य जीव के द्वारा, ब्रह्माण्ड में भ्रमण कर लेते हैं, किन्तु 'परम गुहा' में प्रविष्ट न होने के कारण वे ब्रह्म साक्षात्कार से वंचित रह जाते हैं। इन पांचों भूमियों के ज्ञान को कबीर जी ने मात्र एक दोहे में कह दिया है—

^१ सप्तसुरि ब्रह्माण्ड के माही। चेतन अष्टम निज घर जाहीं ॥ -सन्त वाणी

तन थिर मन थिर पवन थिर, सुरति निरति थिर होय ।
कह कबीर ता पलक की, कल्प न पावे कोय ॥

वेद ने भी इसकी ओर संकेत करते हुए कहा है-

सुपर्णोऽसि गुरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत् ।

यजुर्वेद अ. १२/मं. ४

योग सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाएं किसी तत्त्वदर्शी की देखरेख में ही करना चाहिए, ग्रन्थ पढ़कर स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं ।

वैदिक साहित्य में सर्वत्र 'परम गुहा' में ही ब्रह्म के साक्षात्कार होने का वर्णन है । परम गुहा में अपने शुद्ध स्वरूप से प्रविष्ट हुए बिना ब्रह्म का साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता, सिद्धि-विभूतियां भले ही प्राप्त हो जायें ।

यददो वात ते गृहेऽमृतं निहितं गुहा ।
तस्य नो धेहि जीवसे ॥

सामवेद उतरार्चिक अ. २०/खं. ७/सू. ११/मं. ३ (१८४२)

पदार्थ—(वात) हे ब्रह्म ! (ते) तुम्हारे (गृहे) निवास स्थान (गुहा) परम गुहा में (यद्) जो (अदः) वह अविस्मरणीय (अमृतं) अमृत रस (निहितं) निहित है, (स्य नः जीवसे धेहि) उसे हमारे जीवन के लिए प्रदान कीजिए ।

भावार्थ—'ब्रह्मानन्द' ब्रह्म के साक्षात्कार से ही प्राप्त होना सम्भव है, जो परम गुहा में निहित है ।

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्व विन्दञ्छिश्रियाणं वने-वने ।

सामवेद उतरार्चिक प्र. ३/खं. ३/सू. ६/मं. २ (९०८)

पदार्थ—(अग्ने) हे ब्रह्म ! (अङ्गिरसः) ज्ञानी पुरुष तथा (वने वने) वन-वन में रहने वाले वानप्रस्थी (शिश्रियाणम्) सबको आश्रय देने वाले, (गुहा हितम्) परम गुहा में निहित, आपको (अन्वविन्दन्) खोजते हैं ।

भावार्थ—ब्रह्म की खोज करने वाले, उस परम गुहा में प्रविष्ट होकर उसका साक्षात्कार करते हैं ।

अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन्प्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि ।

शिवं यत्सन्तमशिवो जहामि स्वात्सख्यादरणीं नाभिमेमि ॥

ऋग्वेद मंडल १०/सू. १२४/मं. २

पदार्थ—मैं हंस स्वरूप को प्राप्त जीव (देवः) ज्योतिः स्वरूप होकर (अदेवात् प्रचता) अदेव अर्थात् प्रकाश व ज्ञान से रहित इस देह से पृथक् अपने को

जानकर (गुहायन्) परम गुहा में प्रवेश करता हुआ, (प्रपश्यमानः) उत्तम रीति से ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ (अमृतत्वम् एमि) अमृत स्वरूप को प्राप्त हो जाता हूँ, तब (स्वात् सख्यात्) अपने सहज मित्र भाव से मैं (सन्तम्) सत्-स्वरूप (अरणीम्) अग्नि उत्पादक अरणि के तुल्य (शिवं) अति कल्याणमय, (नाभिम्) प्रेम से बांधने वाले ब्रह्म को (एमि) प्राप्त हो जाता हूँ ।

भावार्थ—स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि प्राकृतिक शरीर से रहित होकर अपने शुद्ध 'हंस' स्वरूप में ही जीव, परम गुहा में ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है ।

गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि तद्दर्शनात् ॥ वे. द. अ. १/पा. २/सू. ११

क्योंकि देखने से परम गुहा में दो आत्मा (जीव तथा ब्रह्म) प्रविष्ट पाये जाते हैं । अर्थात् परम गुहा में जीव तथा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । कठोप. १/३/१

अर्थात् परम गुहा में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ।

सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

तैत्तरीयोपनिषद् २/१

अर्थात् सत्यस्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, अनन्त ब्रह्म 'परम व्योम गुहा' में निहित है ।

पश्यत्सु इह एव निहितं गुहायाम् ।

मुण्डकोप. तृतीय मु. प्रथम खण्ड मंत्र ७

देखने वालों के लिए वह ब्रह्म इस गुहा में ही निहित है ।

इस पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मात्र 'परम गुहा' में ही अपनी शुद्ध हंस अवस्था से जीव ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है । हृदय, मस्तक, दशम द्वार तथा चक्रों पर संयम करने से कदापि ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता है । परम गुहा में प्रविष्ट होने की क्रिया को छोड़कर अन्य किसी भी योगाभ्यास जन्य उपासना से ब्रह्म का दर्शन नहीं हो सकता ।

१. आसनों से शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है, ब्रह्म प्राप्ति नहीं ।

२. प्राणायाम बुद्धि एवं शारीरिक विकास में सहायक है । इससे ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

३. दश प्रकार के अनहद नादों का श्रवण करना ब्रह्म प्राप्ति का लक्षण नहीं, अपितु यह सब प्रकृति का बन्धन है ।

४. पंच मुद्राओं से निरंजन, ओ३म्, सोऽहं, शक्ति तथा ररं की अनुभूति करके झिलमिल ज्योति आदि का साक्षात्कार करना, प्रकृति के ही स्वरूप से सम्बन्धित है, ब्रह्म से नहीं।

५. सुषुम्ना प्रवाहित हो जाने पर त्रिकालदर्शी हो जाना भी ब्रह्म प्राप्ति का द्योतक नहीं है।

६. “कैवल्य” पद की प्राप्ति ब्रह्म की प्राप्ति नहीं है, अपितु यह जीव की प्रकृति से परे अपने स्वरूप में स्थित हो जाने की अवस्था है।

अक्षर ब्रह्म का प्रत्यक्ष सानिध्य पाने के लिए जिस प्रकार परम गुहा में प्रविष्ट होना पड़ता है, उसी प्रकार अक्षरातीत पूर्णब्रह्म का साक्षात्कार पाने के लिए “श्री प्राणनाथ जी की तारतम वाणी” के “परिक्रमा, सागर तथा श्रृंगार” ग्रन्थ के अनुसार मूल स्वरूप तथा परमधाम की चितवनि (ध्यान) का ही अवलम्बन करना होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नहीं है।

योग की समीक्षा का यह नवम समुल्लास सम्पूर्ण हुआ। इसके आगे वेद में विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना किए जाने की भ्रान्ति का निराकरण किया जाएगा।

दशम समुल्लास

बहुदेववाद की उपासना का निषेध

पारब्रह्म तो पूरन एक हैं, ए तो अनेक परमेश्वर कहावें ।
अनेक पंथ शब्द सब जुदे-जुदे, और सब कोई शास्त्र बोलावे ॥

किरंतन प्र. ६ चौ. ७

धरे नाम खसम के, जुदे जुदे आप अनेक ।
अनेक रंगे संगे ढंगे, विध विध खेलें विवेक ॥

कलश हि० प्र. १४ चौ. ३३

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एवं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

अथर्ववेद का. ९/सू. १०/मं. २८

पदार्थ—उस एक अद्वितीय ब्रह्म को ही (इन्द्रं मित्रं^१, वरुणम् अग्निम् आहुः) इन्द्र^२, मित्र, वरुण^३ और अग्नि आदि नामों से कहते हैं । (अथो) और वही (दिव्यः^४ सुपर्णः^५ गरुत्मान्^६) दिव्य सुपर्ण तथा गरुत्मान् भी कहा जाता है । (यमं, अग्निम्, मातरिश्वानम्^७ आहुः) उस एक ब्रह्म को ही यम, अग्नि तथा मातरिश्वा भी कहते हैं । (एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति) उस एक सत्यस्वरूप ब्रह्म को ही मेधावी जन अनेक नामों से कहते हैं ।

भावार्थ—एक ही अद्वितीय ब्रह्म के विभिन्न गुणों के आधार पर विभिन्न नाम माने गये हैं । वेद में किसी भी पौराणिक देवी-देवता की स्तुति नहीं है । उस ब्रह्म को ही अखिल ऐश्वर्ययुक्त होने के कारण इन्द्र, सबके लिए प्रीति का पात्र होने के कारण मित्र, सबसे श्रेष्ठ होने से वरुण, ज्ञान-स्वरूप होने से अग्नि, उत्तम पालन युक्त गुणों से पूर्ण होने से सुपर्ण, महान स्वरूप वाला होने से गरुत्मान् तथा प्रकाशमय होने से दिव्य कहा जाता है । सत्य स्वरूप वाला, अविनाशी वह

^१ (जिमिदा स्नेहेन) औणादिक 'क्व' प्रत्ययः । मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः ।

^२ य इन्द्रति परमैश्वर्यान् भवति स इन्द्रः ।

^३ वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः । (वृज वरणे, वर ईप्सायाम्)

^४ द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु दिव्यः ।

^५ शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य सः सुपर्णः ।

^६ यो गुर्वात्मा स गरुत्मान् ।

^७ यो वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा ।

ब्रह्म, यद्यपि एक ही है, किन्तु उसे अनेक नामों से मेधावी जन सम्बोधित करते हैं। उस ब्रह्म को ही सबका नियामक होने के कारण यम, अनन्त बलयुक्त होने के कारण मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है। पुराणों में कल्पित अग्नि, यम, वरुण आदि ऋचाओं से इस मन्त्र का कोई भी सम्बन्ध नहीं है अपितु एक मात्र ब्रह्म के ही ये सभी नाम माने गये हैं।

प्रश्न—वेद में अर्यमा, बृहस्पति, विष्णु आदि देवताओं की वन्दना की गई है क्योंकि—

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।

शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुक्रमः ॥

ऋ. मंडल १/सू. ९०/मं. ९

पदार्थ—(शं नः) हमें सुखकारक हों, (मित्रः) सबका स्नेही वह ब्रह्म, (शं वरुणः) सबसे श्रेष्ठ वह ब्रह्म हमें सुखस्वरूप हो, (शं नः भवतु अर्यमा)¹ सुख प्रचारक वह ब्रह्म हमारा कल्याण कारक हो। (शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः)² वह ऐश्वर्यदायक, सबका अधिष्ठाता वह हमारे लिए कल्याणकारी हो। (शं नः विष्णुः³ उरुक्रमः⁴) सत्ता से व्यापक वाला, अनन्त पराक्रमयुक्त वह ब्रह्म हमें शान्तिदायक हो।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्म के अनेक गुणों के कारण उसे मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, उरुक्रम आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। पौराणिकों ने इन शब्दों से विभिन्न देवताओं की कल्पना की है, जो वैदिक सिद्धान्त के विपरीत हैं। वेदों में मात्र ब्रह्म के अतिरिक्त पंचभौतिक शरीरधारी किसी भी देवी-देवताओं की स्तुति नहीं है, अपितु वह मात्र एक ही है और सर्वत्र उसी को उपास्य माना गया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।

तमिंद निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥

¹ (ऋगति प्रापणयोः) इस धातु पे 'यत्' प्रत्यय से 'अर्य' शब्द बनता है और 'अर्य' पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से 'कनिन्' प्रत्यय करने से 'अर्यमा' शब्द बनता है। योऽर्यान्, स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सौर्यमा । “ ”

² 'बृहत्' शब्द पूर्वक (पा रक्षणे.) इस धातु से 'इति' प्रत्यय बृहत् के तकार का लोप और ह तथा प के बीच में 'सुट्' का आगम करने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालायिता स बृहस्पति ।

³ (विष्णु व्यासै) इस धातु से न प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध होता है। वेविष्ट सत्ताया व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमात्मा ।

⁴ उरुर्ममहान क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः ।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।

अथर्ववेद का. १३ सू. ४(२) मं. १६, १७, १८, २०, २१

इन मन्त्रों से यह निश्चित होता है कि ब्रह्म एक ही है । उससे भिन्न न कोई दूसरा, न तीसरा और न कोई चौथा ब्रह्म है । न पाँचवा, न छठा और न कोई सातवां ब्रह्म है । न आठवां, न नवां और न कोई दशवां ब्रह्म है, किन्तु वह सदा एक द्वितीय ही है । उससे भिन्न दूसरा कोई भी नहीं ।

उसी ब्रह्म की सत्ता में वसु आदि सभी देव अर्थात् पृथ्वी आदि लोक ठहर रहे हैं, प्रलय में भी उसकी सत्ता में लय होकर स्थित हो जाते हैं ।

जब वेद में एक अद्वितीय ब्रह्म का ही विवेचन है तो इन्द्र, मित्र, वरुण बृहस्पति आदि शब्दों से पौराणिक देवताओं की कल्पना करना सत्य के साथ अन्याय करना है, क्योंकि वेद में ऐतिहासिक पुरुषों का वृत्तान्त होना पूर्णतया असम्भव है ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः ॥

यजु. अ. ३२/मं. १

पदार्थ—(तदेव अग्निः) सर्वोत्तम ज्ञान-स्वरूप जानने के योग्य और पूज्यतम ब्रह्म को अग्नि^१ नाम से कहा जाता है । (तदादित्यः) जिसका कभी नाश न हो, और जो स्वप्रकाश हो, उस ब्रह्म को आदित्य^२ कहते हैं । (तद् वायुः) सर्वजगत का धारण करने वाला तथा अनन्त बल वाला होने से वायु^३ (तद् उ चन्द्रमा) और आनन्द स्वरूप तथा आनन्दकारक होने से चन्द्रमा के नाम से कहा जाता है । (तद् एव शुक्रं) वही शुद्ध स्वरूप वाला होने से शुक्र^४ (तद् ब्रह्म) वह महान होने से ब्रह्म^५ । जो सबसे ऊपर विराजमान एवं अनन्त बल युक्त है, वही ब्रह्म है । (ता आपः) अपनी सत्ता से व्यापक होने के कारण आप (सः प्रजापतिः) तथा सभी प्रजाओं का स्वामी होने से प्रजापति कहा जाता है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में वर्णित अग्नि, वायु, चन्द्रमा आदित्य आदि शब्दों से तात्पर्य त्रिगुणात्मक अग्नि, वायु, चन्द्रमा तथा सूर्य आदि पदार्थ कदापि नहीं है, अपितु इन शब्दों का अर्थ ब्रह्म होता है । जो विद्वान् यह कहते हैं कि ऋषियों ने

^१ ब्रह्म ह्यग्निः । शतपथ १/५/१/११ ।

^२ 'दो अवखण्डने' धातु से 'अदिति' और इससे 'तद्धित' 'प्यञ्' प्रत्यय करने से आदित्य शब्द सिद्ध होता है । न विद्यते विनाशो यस्य योऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः ।

^३ 'वा गति गन्धनयोः' इस धातु से वायु शब्द सिद्ध होता है । गन्धनम् हिंसनम् यो वाति चराचरं जगत धरति, बलिनां बलिष्ठः स वायुः ।

^४ 'ईशु चिरपूती भावे' इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध होता है । यः शुच्यि शोचयति वा स शुक्रः ।

^५ बृह, वृहि, वृद्धौ, इस धातु से 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध होता है ।

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि आदि पदार्थों में ब्रह्म की शक्ति का अनुभव करके उनकी स्तुति की तो उन्हें सन्निपात ज्वर से ग्रसित समझना चाहिए। वेदों के शब्द यौगिक होते हैं। वेदों के किसी भी मन्त्र में सूर्य, चन्द्रमा तथा वायु इत्यादि जड़ पदार्थों की कहीं भी स्तुति नहीं है अपितु सर्वत्र विरोध ही है—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याम् रताः ॥

यजुर्वेद ४०/९

जड़ पदार्थों की पूजा का जिस वेद में इतना अधिक निषेध हो, उसी वेद में सूर्य, चन्द्रमा आदि जड़ पदार्थों की पूजा तथा पौराणिकों के काल्पनिक देवी-देवताओं की स्तुति का उल्लेख होना पूर्णतया असम्भव है। वेद ऋषियों की रचना नहीं अपितु “ना पौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत्” (सांख्य द. ५/४८) तथा ‘निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्’। (सांख्य द. ५/५१) के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं। इस अपौरुषेय वेद-वाणी में सूर्य, चन्द्रमा आदि जड़ पदार्थों की उपासना का वर्णन करना ही सत्य को कलंकित करना है। गुणात्मक विश्लेषण के आधार पर चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि इत्यादि का अर्थ ब्रह्म ही होता है, किन्तु प्राकृतिक जड़ पदार्थों से इस मन्त्र का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

वेदों में सर्वत्र “एक ब्रह्मवाद” का उल्लेख होते हुए भी आधुनिक विद्वानों के द्वारा अनेक भ्रामक मत व्यक्त किए जाते हैं। आधुनिक विद्वानों के अनुसार वेदों में ‘बहुदेववाद’ की कल्पना की जाती है। जिन्होंने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (१/१६४/४६) तथा दशम मण्डल (१०/१२९/७) में एक ब्रह्मवाद का स्पष्ट उल्लेख स्वीकार भी किया है, तो उन्होंने भी दोनों मण्डलों को बाद की रचनाएं कह कर छुट्टी पा ली है।

इस विद्वतापूर्ण (?) वेदाध्ययन का परिणाम यह हुआ कि हर जगह यह कहा जाता रहा कि वैदिक लोगों को ‘एक अद्वितीय ब्रह्म’ का ज्ञान नहीं था और वे सूर्य, चन्द्र, वायु तथा अग्नि आदि जड़ पदार्थों की पूजा करते थे। बहुत हुआ तो किसी ने पीछे से यह भी जोड़ दिया कि बाद में वे ब्रह्म को भी मानने लगे थे। इस भ्रामक प्रचार की सीमा ने भयंकर और हास्यप्रद रूप तब लिया, जब भारत सरकार द्वारा लिखवाये गये “मध्यकालीन भारत में” यह कहा गया कि भारतीयों को एक ब्रह्म की कल्पना ७१२ ई. के अरब-आक्रमण के बाद इस्लाम से मिली।¹

सच तो यह है कि विद्वानों ने जिस वेद को सबसे अधिक पुराना माना है, उस ऋग्वेद में भी केवल प्रथम और अंतिम भागों में, (जिन्हें वे बाद का मानते हैं) अपितु अन्य सभी भागों में एक ही अद्वितीय उपास्य ब्रह्म के होने के प्रमाण सर्वत्र

¹ मानवता को वेदों की देन से उद्धृत-तृतीय प्रवचन से

भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय मण्डल में (सू. २४/मं. ११), तीसरे मण्डल में (सू. १/मं. १४), चौथे मण्डल में (सू. १/मं. ७), पांचवें मण्डल में (सू. ३/मं. ३) छठे मण्डल में (सू. १५/मं. ८) सातवें मण्डल में (सू. ५/मं. १-५) तथा आठवें मण्डल में (सू. ५८/मं. २) अवलोकनीय है।

प्रश्न—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ऋ. १/८९/६, यजु. २५/१९, सामवेद उत्तरार्चिक प्र. ९/खं. १/मं. ३ (१८७५)

सामवेद के इस मन्त्र से वेद में पूषा, तार्क्ष्य^१ और अरिष्टनेमि, जैसे पुराणों के चर्चित देवताओं की स्तुति का प्रमाण मिलता है।

उत्तर—वेद के किसी भी मन्त्र में पुराणों के कल्पित देवता पूषा, तार्क्ष्य आदि की स्तुति नहीं है। पूर्वोक्त वेदमन्त्र का अर्थ इस प्रकार है।

पदार्थ—(वृद्धश्रवाः) महान कीर्ति वाला, (इन्द्रः) अखिल ऐश्वर्यवान वह ब्रह्म (नः स्वस्ति) हमारे लिए कल्याणकारी हो। (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ, (पूषा) सम्पूर्ण जगत की पुष्टि करने वाला (नः स्वस्ति) हमारे लिए कल्याणकारी हो, (तार्क्ष्यः) सर्वशक्तिमान और (अरिष्टनेमिः)^२ जिसके काल रूप महान शासन का कोई भी विनाश न कर सके, वह ब्रह्म, (नः स्वस्ति) हमारे लिए कल्याणकारी हो। (बृहस्पतिः) सबका अधिष्ठाता वह ब्रह्म (नः स्वस्ति दधातु) हम में कल्याण भावना स्थापित करें।

भावार्थ—ब्रह्म की स्तुति वाली ऋचाओं में तार्क्ष्य, पूषा, अरिष्टनेमि तथा बृहस्पति आदि शब्दों को देखकर यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि पुराणों में वर्णित इन नाम वाले देवताओं की वेदों में स्तुति है। वेदों में मात्र अक्षर और अक्षरातीत को छोड़कर अन्य किसी की भी स्तुति नहीं है।

समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम् ।

स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन् तं वर्तनीरनु वावृत एक इत् ॥

सामवेद पूर्वार्चिक (ऐन्द्रकाण्ड) प्र. ४/द. ४/खं. ३/मं. ३ (३७२)

पदार्थ—(विश्वाः) हे सब ब्रह्म की उपासक प्रजाओ ! (ओजसा) अपने ओज से (यः एक भूः) जो अकेला ही सामर्थ्यवान तथा जगत उत्पादक है, (एक इत् जनानाम् अतिथिः) वह अकेला ही उपासक जनों का अतिथि है, (दिवः पतिम्) जो

^१ तार्क्ष्यः पक्षी गरुत्मान् गरुडभेद सोऽत्र न भवितुमर्हति ॥

^२ अरिष्टनेमि मरिष्टोऽहिंसितव्यो नेमिर्वज्रो यस्य तम “नेमिर्वज्रनाम” निघण्टु २/२०

इति सर्वत्र ‘तूर्ण’ शब्दोपपदात् निवासाथकात् क्षिधातोस्तथा रक्षधातोः ‘अशूङ् व्याप्तौ’ धातोश्च “अघ्न्यादयश्च” (उणादि. ४/११२) इत्यनेन क्षिपक्षे यक् प्रत्यतोडित्, रक्षपक्षे यथास्वम् अश पक्षे-उपधालोपः शकारस्य क्षकारा देशश्च निपातनात् कल्पनीयः ।

द्युलोक का भी (पतिम्) पालक है, उस ब्रह्म की शरण में (समेत) आ जाओ । (स पूर्वः) वह सबसे पूर्व विद्यमान (आजिगीषन्तम्) कामादि पर विजय चाहने वाले (नूतनम्) नवीन उपासक को भी (वर्तनीः अनु) नवजीवन के नये मार्ग पर (वावृते) प्रवृत्त कर देता है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से अनादिकाल से विद्यमान एक अद्वितीय ब्रह्म को ही मात्र उपास्य के रूप में माना गया है । किसी भी काल्पनिक पौराणिक देवता के वेद में वर्णन का इस मन्त्र से खण्डन होता है ।

शतपथ ब्राह्मण (१४/४/२/२२) के अनुसार भी—‘योऽन्यां देवतामुपासते पशुरेव स देवानाम् ।’ अर्थात् एक अद्वितीय ब्रह्म को छोड़कर जो अन्य काल्पनिक देवताओं की उपासना करता है, वह विद्वानों में पशु के समान होकर दुख भोगता रहता है । जब वेदों के व्याख्यान स्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थ इस प्रकार का कथन करते हैं, तो यह कदापि सम्भव नहीं कि वेद में जड़ पदार्थों तथा देवी देवताओं की स्तुति हो सके ।

प्रश्न—त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

यजुर्वेद अ. ३/मं. ६०

इस मन्त्र में तीन नेत्र वाले शिव की स्तुति की गई है ।

उत्तर—वैदिक साहित्य में ‘त्र्यम्बक’ पद का अर्थ तीन नेत्र वाले शिवजी नहीं, अपितु तीनों कालों में एकरस ज्ञानयुक्त ब्रह्म को (त्र्यम्बक) कहते हैं । पुराणों में वर्णित कैलाशवासी शिव भी तो ब्रह्म की खोज में योगस्थ रहते हैं, यदि वे ही ब्रह्म हैं तो तथा वेद में भी उन्हीं की स्तुति की गई है, तो क्या ब्रह्म भी ब्रह्म को खोजने के लिए योग साधना करेगा ? वस्तुतः इस मन्त्र में अविनाशी कूटस्थ अक्षर ब्रह्म को ही त्र्यम्बक कहा गया है, पुराणों में वर्णित कैलाशवासी शिव को नहीं, क्योंकि इसी मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि “मृत्योः मुक्षीय मा अमृतात्” । अर्थात् हम मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जायें तथा अमृत स्वरूप मोक्ष-सुख से कदापि श्रद्धा रहित न होंगे । एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही मृत्यु के भव सागर से पार कर सकता है, कैलाशवासी शिव नहीं ।

प्रश्न—वेद में अम्बे, अम्बिके तथा अम्बालिके इन देवियों की स्तुति है, जो इस मन्त्र से सिद्ध होती है ।

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ।

अम्बेऽअम्बिकेऽअम्बालिके न मा नयति कश्चन ॥

ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्

यजुर्वेद अ. २३/मं. १८

उत्तर—इस मन्त्र का आर्ष-विधि के अनुकूल अर्थ करने पर—

पदार्थ—हे (अम्बे) माता, (अम्बिके) दादी (अम्बालिके) वा परदादी ! (कश्चन) कोई (अश्वकः) घोड़े के समान शीघ्रगामी जन जिस (कांपीलवासिनीम्) सुखग्राही मनुष्य को बसाने के लिए (सुभद्रिकाम्) उत्तम कल्याण करने वाले लक्ष्मी-धनैश्वर्य को ग्रहण कर (ससस्ति) सोता है, वह (मा) मुझे (न) नहीं (नयति) अपने वश में लाती इससे मैं (प्राणाय) प्राण के पोषण के लिए (स्वाहा)¹ सत्य वाणी (अपानाय) दुःख के हटाने के लिए (स्वाहा) सुशिक्षित वाणी और (व्यानाय) सम्पूर्ण शरीर में अपनी चेतनता को फैलाने वाले अपने जीव के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी को युक्त करता हूँ ।

भावार्थ—‘अम्बे, अम्बिके तथा अम्बालिके’ इन तीन शब्दों को देखकर तीन देवियों की कल्पना कर लेना सत्य के साथ अन्याय करना है । वेद में मनुष्य को सत्य ज्ञान दिया गया है, न कि काल्पनिक देवी देवताओं की पूजा तथा अन्धविश्वासों में लिप्त रहने का आदेश । चारों वेदों के एक भी मन्त्र में किसी पौराणिक देवता या देवी की स्तुति नहीं है । इस मन्त्र में मनुष्यों को यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्यो ! जैसे माता, दादी, परदादी अपनी-अपनी सन्तानों को अच्छी शिक्षा पहुँचाती या देती है, वैसे ही तुम लोगों को भी अपनी संतान शिक्षित करना चाहिए । धन का यह स्वभाव है कि जहाँ यह इकट्ठा होता है, उन जनों को निद्रालु, आलसी और कर्महीन कर देता है । इससे धन पाकर भी मनुष्य को पुरुषार्थ ही करना चाहिए । सम्पूर्ण मन्त्र के एक-एक पद का अर्थ करने पर किसी भी देवी देवता की स्तुति इस मन्त्र से नहीं सिद्ध हो सकती है ।

प्रश्न—वेद में गणेश (गणपति) जी की पूजा का विधान है देखिए—

गणनां त्वा गणपतिम् हवामहे प्रियाणां त्वां प्रियपतिम् हवामहे निधीनां
त्वा निधिपतिम् हवामहे वसो मम । आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि
गर्भधम् ।

यजुर्वेद अ. २३/मं. १९

उत्तर—इस मंत्र का वास्तविक अर्थ यह है—(गणानाम् त्वा गणपतिम् हवामहे)²

पदार्थ—गणनीय पदार्थों के पति उस ब्रह्म को हम पूज्यरूप में ग्रहण करते हैं । (प्रियाणाम् त्वा प्रियपतिम् हवामहे) प्रियाओं के प्रियपति ! तुझे हम पूज्यरूप

¹ स्वाहा-सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । निरुक्त अ. ८/पा. ३ /खं. २०

² गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यं, ब्रह्म वै बृहस्पति ब्रह्मणैवैनं तद्विषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति । ऐत. पं. १/कं. २१ । गणनां गणनीयानां पदार्थ समूहानां गणपति पालकं स्वामिनं परमेश्वरं । महर्षि दयानन्द

में ग्रहण करते हैं। (निधीनाम् त्वा निधिपतिम् हवामहे) विद्या तथा सुख आदि के निधि उस ब्रह्म की हम प्रशंसा करते हैं। (वसो) सभी प्राणियों को अपनी सत्ता में बसाने वाले ब्रह्म ! आप (मम) मेरे न्यायाधीश हैं। (गर्भधम्) कार्य द्रव्यों के गर्भरूप प्रकृति में गर्भरूप बीज को धारण करने वाले आप को (आहम जानि) मैं इन लक्षणों से युक्त जानूँ।

भावार्थ—पौराणिक लोग हाथी के मुख वाले गणेश नामक कल्पित देवता की पूजा में इस मन्त्र का विनियोग करते हैं। पुराणों के अनुसार भी गणेश जी शिव-पार्वती के पुत्र घोषित होते हैं। किन्तु इस मन्त्र में गणनीय पदार्थों के स्वामी को जन्म-मरण से रहित कहा गया है। 'गण' का अर्थ समूह होता है। प्रकृति में स्थित सभी पदार्थों का स्वामी ब्रह्म ही गणपति हैं, हाथी के मुख वाले नहीं। प्रियाओं (ईश्वरी सृष्टियों) का पति कौन हो सकता है ? हाथी के मुख की आकृति वाले गणेश जी सृष्टि के कारण रूप प्रकृति में विक्षोभ करके सृष्टि नहीं कर सकते। मात्र अक्षर ब्रह्म के द्वारा ही सृष्टि रचना सम्पादित हो सकती है। इसलिए इस मन्त्र में 'गणपति' शब्द से अविनाशी अक्षर ब्रह्म का ग्रहण होता है, शिव पार्वती के पुत्र गणेश जी का नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण के पं. १/कं. २१ में भी गणपति शब्द का अर्थ अविनाशी ब्रह्म ही किया गया है।

प्रश्न—वेदानुयायी गायत्री मन्त्र का जप करते हैं। गायत्री को मां के रूप में मानकर मूर्तियां भी बनाई जाती हैं। इससे सिद्ध है, कि वेद में गायत्री देवी की वन्दना है ?

उत्तर—गायत्री छन्द में लिखे होने के कारण इस मन्त्र को गायत्री मन्त्र कहते हैं। पौराणिकों ने सरस्वती की भांति ही 'गायत्री' नामक देवी की कल्पना कर ली है। वस्तुतः इसके वास्तविक अर्थ पर दृष्टिपात करने पर यह मन्त्र अनादि अक्षरातीत पूर्णब्रह्म की स्तुति में प्रयुक्त होता है।

**भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो योनः प्रचोदयात् ॥**

यजुर्वेद ३६/३

भूः सत्तायाम् धातु से भूः का अर्थ—सत्, भुव् अवचिन्तने धातु से भुवः का अर्थ—चित्, स्वः का अर्थ आनन्द, (तत्) उस (सवितुः) अपनी सत्ता के स्वरूप अक्षर द्वारा सृष्टि को उत्पन्न करने वाले, (देवस्य) कामना करने योग्य (यः) जो (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, (भर्गः) पवित्र, शुद्ध स्वरूप, उस परब्रह्म को हम (धीमहि) धारण करें। (नः धियः) जो हमारी बुद्धियों को (प्रचोदयात्) उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव में प्रेरित करें।

यह दशम समुल्लास सम्पूर्ण हुआ । इसके आगे वेदों के कठिनतम प्रश्नों का उत्तर लिखा जाएगा ।

एकादश समुल्लास

वैदिक प्रश्नोत्तरी

ये तो गत संसार की, जो खँचा खँच करत ।
आपन तो साथी धाम के, है हममें तो नूर मत ॥

किरंतन प्र. ९४ चौ. ३३

साधू सास्त्र जो बोलहीं, सो तो सुनता है संसार ।
पर मूल माएने गुझ हैं, सोई गुझ सब्द है पार ॥

कलश हिन्दुस्तानी प्र. २ चौ. ४७

सच्चिदानन्द परब्रह्म की कृपा से वेद के २५ कठिन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया गया है । इन उत्तरों की पूर्ण सत्यता का दावा तो नहीं है, किन्तु प्रियतम ब्रह्म की कृपा की छांव तले एक लघु प्रयास है । आशा है सभी सुन्दरसाथ एवं धर्मप्रेमी जिज्ञासुओं को ये उत्तर रुचिकर लगेंगे ।

(१) चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥

ऋग्वेद मं. ४/सू. ५८/मं. ३

एक वृषभ (बैल) है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, तथा सात हाथ हैं । तीन से बंधा हुआ यह बैल निरन्तर उपदेश देता है । इसका रहस्य क्या है ?

उत्तर—धर्म रूपी बैल के चार श्रृंग—चार वेद ।

तीन पैर—तीन सवन अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद द्वारा ज्ञान, उपासना, या कर्म ।

दो शिर—प्रायणीय और उदयनीय । संवत्सर की दृष्टि से उत्तरायण और दक्षिणायण । मास की दृष्टि से दर्श (अमावस्या) और पौर्णमास (पूर्णिमा) । अहोरात्र की दृष्टि से प्रातः और सायंकाल ।

सात हाथ—वेद के सात छन्द (अनुष्टुप, त्रिष्टुप, गायत्री, बृहती, जगती, उष्णिक्, पंक्ति) ।

तीन बन्ध—संहिता, ब्राह्मण, और कल्प । संहिता में मन्त्रों का संकलन, ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि व्याख्या, तथा कल्प ग्रन्थों द्वारा निर्देशन ।

- (२) सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥

ऋग्वेद १०/९०/१५, यजुर्वेद अ. ३१/मं. १५

ब्रह्म की उपासना रूप यज्ञ करते हुए विद्वान लोग उस परमात्मा को अपने हृदय में ध्यान करते हैं (बांधते हैं) । उस समय इस उपासना यज्ञ की सात परिधियां तथा इक्कीस समिधायें होती हैं । वे क्या हैं ?

उत्तर—उपासना रूप यज्ञ की सात परिधियां— गायत्री आदि सात छन्दों में निहित वैदिक अध्यात्म ज्ञान या सात सुरति (चित्त-वृत्ति) ।

इक्कीस समिधायें—प्रकृति, सत्व, रजस्, तमस् (तीन गुण), महत्तत्त्व, अहंकार, पांच सूक्ष्म भूत, पांच स्थूल भूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय ।

- (३) पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।

यजुर्वेद २३/५२

पांच के अन्दर परमात्मा अपनी व्याप्ति से अच्छी प्रकार व्याप्त हो रहा है । वे पांच भी पूर्ण परमात्मा के भीतर स्थापित हैं । वे पांच क्या हैं ?

उत्तर—परमधाम में पांच स्वरूप हैं—

१. सत अंग—अक्षर ब्रह्म
२. चिद्घन स्वरूप—श्री राज जी
३. आनन्द अंग—श्यामा जी (परब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति) ।
४. आत्मायें (अनंत)
५. अक्षर ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति (अद्वैत) ।

ये पांचों स्वरूप मिलकर ही सच्चिदानन्द परब्रह्म का पूर्ण स्वरूप कहलाते हैं । पूर्णब्रह्म इन पांचों स्वरूप के रूप में विराजमान होकर लीला करते हैं । इसे ही वेदांत की भाषा में सांकेतिक रूप में सत्, चिद्, आनन्द, अनंत और अद्वैत कहा जाता है ।

- (४) इदं त एकं पर ऊत एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।

सामवेद आग्नेय का. प्र. १/ख. ७/द. ७/मं. ३ (६५), ऋग्वेद १०/५६/१

यह एक ज्योति है। इससे भी उत्कृष्ट एक दूसरी ज्योति है। तुम तीसरी ज्योति के साथ मग्न रहो। वे तीनों ज्योतियां कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर—तीन ब्रह्माण्ड हैं—

१. क्षर का कालमाया ब्रह्माण्ड

२. चतुष्पाद विभूति का योगमाया ब्रह्माण्ड

३. परमधाम।

क्षर जगत की ज्योति मोहमयी त्रिगुणात्मक है। इसका रूप अग्नि तत्व के रूप में भाषित होता है। सूर्यादि नक्षत्रों की ज्योति इसी के अन्तर्गत आती है।

चतुष्पाद विभूति की ज्योति अद्वैत नूरमयी (शुक्रमयी) है। यह चेतन, अखण्ड और सुखमयी है तथा अक्षर ब्रह्म की ज्योति है।

परमधाम की ज्योति अक्षरातीत परब्रह्म की है, जो चेतन, नूरमयी, अनन्य प्रेममयी तथा आनन्दमयी, स्वलीला अद्वैतमयी, अनादि, अखण्ड और सच्चिदानन्दमयी है।

(५) ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि ब्रिध्नतः।

अथर्ववेद का. १/सू. १/मं. १

चेतन—अचेतन पदार्थों को धारण करते हुए घूमने वाले २१ पदार्थ कौन से हैं ?

उत्तर—प्रकृति (कारण), महत्तत्त्व, चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्रा।

(६) अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।

अथर्ववेद ६/११७/३

हम लोग इस लोक में, परलोक में और तृतीय लोक में भी ऋण-रहित हो जायें। वे तीनों लोक कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—१. मृत्यु लोक

२. बैकुण्ठ या निराकार मण्डल (महाशून्य)

३. बेहद (योगमाया का ब्रह्माण्ड)

(७) पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतावोज्नु पञ्च।

पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता मूर्ध्नीरभि लोकमेकम्।

अथर्ववेद ८/९/१५

पांच व्युष्टियों के साथ पांच दोहे हैं और पांच नाम वाली गौ के साथ पांच ऋतुएं हैं। पन्द्रहवें ने पांच दिशाओं को वश में किया हुआ है। ये सब एक ही शिरे वाले एक लोक के चारों ओर आश्रय लिये हुए हैं। इस पहेली का रहस्य क्या है ?

उत्तर—पञ्च व्युष्टि—पांच प्राण हैं। उनके पांच प्रकार के दोहे अर्थात् ग्राह्य विषय हैं। इसी प्रकार आधिदैविक में—“पांच” प्रकृति के विशेष विकार पंचभूत हैं। उनके साथ उनके पांच दोहे अर्थात् तन्मात्राये हैं। उनमें विद्यमान गन्ध आदि विशेष धर्म हैं। अध्यात्म में “पंच नाम्नी गौ” चित्त शक्ति है, जिसमें पांच ऋतु गतिमान पांच प्राण हैं। शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच दिशाये हैं। उन पर अधिकार उस पंचदश आत्मा का है। “प्राणो वै त्रिवृदात्मा पंचदशः ताम्” (तां. १९/११/३), वे पांचों दिशा रूप ज्ञानेन्द्रियां एक ही मूर्धा स्थान में लगी हैं अर्थात् उनका एक ही मूल आत्मा या मुख्य प्राण है। वे सभी एक ही आत्मा में आश्रित हैं।

(८) पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमताक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतीषि ।

ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥

अथर्ववेद ९/५/८

पांच ओदनो से युक्त तीन ज्योतियों का अभिलाषी मुमुक्ष पांच से उद्योग करे। हे मुमुक्षु ! तुम शुद्ध हृदय वाले विद्वानों के पास जाओ। उनसे ज्ञान प्राप्त करके तीसरे मोक्षधाम में आश्रय प्राप्त करो। पांच ओदन, तीन ज्योतियां तथा उसके साधनभूत पांच से क्या तात्पर्य है ? तीसरा मोक्षधाम कौन है ?

उत्तर—पांच ओदन—

पांच इन्द्रियों से पांच प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त करना ही “पंचोदन” है। “ओदन” का तात्पर्य है भोग्य पदार्थ। परमगति वह है, जिसमें मन सहित पांचों इन्द्रियां तथा बुद्धि भी समाहित हो जाये।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ कठो. ६/१०

तीन ज्योति—

१. हृद (बैकुण्ठ) की ज्योति ।

२. बेहृद (योगमाया के ब्रह्माण्ड) की ज्योति ।

३. परमधाम की ज्योति ।

पांच साधन—

१. पञ्चाग्नि (कठो. ३/१) के सेवन से प्राकृतिक जगत की ज्योति की प्राप्ति होती है।

२. योग की पांच भूमिकाएं ही वे पांच साधन (सीढ़ियां) हैं, जिनके द्वारा बैकुण्ठ, निराकार को पार करके बेहद (चतुष्पाद विभूति मण्डल) में प्रवेश किया जाता है। ऋग्वेद (१/७/९) में इसे ही “पञ्च क्षितिनाम्” करके वर्णन किया गया है।

३. परमधाम को प्राप्त करने के पांच साधन इस प्रकार हैं—

१. अटूट श्रद्धा और समर्पण
२. अनन्य प्रेम
३. परब्रह्म की कृपा को सर्वोपरि मानना
४. विनम्रता (अहंकार से पूर्णतया रहित हो जाना)
५. सन्तोष (सभी भोगों के प्रति द्रष्टा भाव होना)

तीसरा मोक्षधाम—जीव सृष्टि के लिये—निराकार; ईश्वरीय सृष्टि के लिये—अव्याकृत, सबलिक, केवल या सत् स्वरूप ब्रह्म की आनन्दमयी भूमिका; ब्रह्मसृष्टि के लिये—परमधाम।

(९) सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

अथर्व. ९/९/२, ऋग्वेद १/१६४/२

एक चक्ररथ को सात वहन करते हैं। एक ही अश्व सात को धारण करता है। वह चक्र तीन से बंधा हुआ है, एवं अविनाशी है। उसी में सभी लोक स्थित हैं। इसका रहस्य क्या है?

उत्तर—व्यष्टि में—यह शरीर ही वह चक्ररथ है, जिसमें सात साधन (पांच ज्ञानेन्द्रियां + मन + बुद्धि) प्रयुक्त हैं। सात प्राणों द्वारा एक चैतन्य जीव रूपी अश्व ही इसको धारण किये हुए है।

समष्टि में—यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक चक्ररथ है, जो सात शून्यों के आधार पर स्थित है। सभी प्राणियों में क्रियाशील सात प्राणों द्वारा जीव रूपी अश्व परमात्मा के आधार पर चेतना प्रदान कर रहा है। शरीर और ब्रह्माण्ड उस त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति के कार्य रूप हैं, जो अविनाशी है। उसी प्रकृति में ब्रह्म की सत्ता के आधार में सभी लोक-लोकान्तर स्थित हैं।

(१०) पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः॥

अथर्व. ९/९/११, ऋग्वेद १/१६४/१३

पांच अरों वाले घूमते हुए चक्र में समस्त लोक स्थित हैं। उसका अक्ष न कभी तपता है और न कभी टूटता है। पांच अरों वाले चक्र से क्या तात्पर्य है ? उसका अक्ष क्या है ?

उत्तर—पांच अरों का चक्र यह कालमाया का ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड का अक्ष वह मूल प्रकृति है, जिसका कभी मूलतः विनाश नहीं होता।

(११) कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धाऽस्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥

अथर्ववेद १०/७/१

स्कम्भ के किस अंग में तप विराजता है ? इसके किस अंग में यथार्थ ज्ञान (परम सत्य) स्थित है ? इसके किस भाग में व्रत स्थित है और इसके किस भाग में श्रद्धा तथा सत्य प्रतिष्ठित है ?

उत्तर—स्कम्भ (अक्षर ब्रह्म) के सत् स्वरूप में “परम सत्य” (ऋत) प्रतिष्ठित तथा व्रत (सृष्टि का संकल्प) भी वहीं पर है। बुद्धि स्वरूप केवल में श्रद्धा (प्रेम) निहित है। चित्त स्वरूप सबलिक में समस्त परमाणुओं को गति देने वाली शक्ति रूप “तप” स्थित है। स्कम्भ में मनः स्वरूप अव्याकृत में “सत्य” प्रतिष्ठित है।

(१२) यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ॥

अथर्ववेद १०/७/८

प्रथम, मध्यम, और नीचे के लोकों में स्कम्भ कितने अंश में प्रविष्ट है, और स्कम्भ का जो भाग उसमें प्रविष्ट नहीं है, वह कितना शेष है ?

उत्तर—सम्पूर्ण प्रकृति मण्डल तीन भागों में बांटा जाता जाता है—
१. द्युलोक २. अन्तरिक्ष ३. पृथ्वी।

अक्षर ब्रह्म के चतुष्पाद (सत् स्वरूप, केवल, सबलिक और अव्याकृत) विशुद्ध चेतन, प्रकाशमय और अखण्ड हैं। इनका इस प्राकृतिक जगत के प्रपञ्चों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अक्षर ब्रह्म (स्कम्भ) के चौथे पाद अव्याकृत का स्वापनिक रूप ही इस प्राकृतिक जगत में प्रकट होता है, मूलतः नहीं।

द्रष्टव्य है—

त्रिभिः पद्भिर्द्यामिरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः । अथर्व० १९/६/२

इसी प्रकार यजुर्वेद (३१/४) में भी कहा गया है—

त्रिपादध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत् पुनः ।

अर्थात् अक्षरातीत परब्रह्म का स्वरूप त्रिपाद, चतुष्पाद, विभूति से भी परे है। अक्षर (स्कम्भ) का यह चौथा पाद ही स्वाप्निक रूप से सृष्टि के रूप में बार-बार प्रकट होता है।

(१३-१४) तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।

प्रान्या तन्तूस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥

अथर्ववेद १०/७/४२

दो स्त्रियां छः खूँटी लगाकर दौड़-दौड़ कर जाल बुनती हैं। एक ताना लगाती है, एक बाना, पर वे पूरा बुन नहीं पाती हैं। वे अन्त तक नहीं पहुँचती हैं।

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्।

पुमानेन द्वयत्युद् गृणन्ति पुमानेन द्विजभाराधि नाके ॥

अथर्ववेद १०/७/४३

वे दोनों नाचती सी हैं। यह नहीं मालूम है कि उनमें कौन बड़ी है और कौन छोटी है? परन्तु एक पुरुष ही बुनता है और वही उकेलता है।

उत्तर—दो स्त्रियां—१. ज्ञान शक्ति २. क्रिया शक्ति।

ये दोनों शक्तियां ब्रह्म के सानिध्य से प्रकृति में प्रकट होती हैं। पहले ज्ञान शक्ति प्रकट होती है, तत्पश्चात् क्रिया शक्ति।

छः खूँटियां—ब्रह्म के सन्निधान से प्रकृति की साम्यावस्था भंग होने से जिन छः पदार्थों का निर्माण होता है, वे ही छः खूँटियां हैं। इन्हीं के द्वारा सृष्टि सृजन का कार्य आगे बढ़ता है। वे छः पदार्थ इस प्रकार हैं—

१. महाकाश मण्डल २. महादिशा मण्डल ३. महाकाल मण्डल ४. महत् सत्त्व मण्डल ५. महत् रजस् मण्डल ६. महत् तमस् मण्डल।

जिस प्रकार ताना और बाना लगाकर जाल बुना जाता है, उसी प्रकार ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति द्वारा सृष्टि रचना का जाल बुना जाता है।

इस क्रिया को नाचने की संज्ञा दी गई है।

ऋग्वेद में इसे इस रूप में कहा गया है—

अत्र वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत।

यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ॥

ऋग्वेद १०/७२/६,७

किन्तु, इन दोनों शक्तियों की क्रिया ब्रह्म के संकल्प के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए उस अविनाशी अक्षर ब्रह्म पुरुष को ही सृष्टि का जाल बुनने वाला और प्रलय करने वाला कहा गया है।

(१५) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।

तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥

अथर्ववेद १०/८/४

एक चक्र में १२ पुट्टियां (प्रधियां) हैं। ग्रीष्म, वर्षा और शीत से तीन नाभि हैं। ३६० कीलें चल-अचल रूप में लगी हैं। इसका रहस्य क्या है ?

उत्तर—वर्ष ही वह चक्र है, जिसके १२ महीने १२ पुट्टियां (प्रधियां) हैं। ग्रीष्म, वर्षा और शीत ये तीन नाभि हैं। वर्ष के ३६० दिन ही ३६० कीलों के रूप में कहे गये हैं।

(१६) इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः ।

तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥

अथर्ववेद १०/८/५

छः जोड़े हैं और एक स्वयं उत्पन्न है। उस एक में ही सब समा जाते हैं। वे कौन से छः जोड़े हैं और कौन सा एक है, बताइये ?

उत्तर—अधिदैवत पक्ष में—छः ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, तथा बसन्त) को ही यहां छः जोड़े कहा गया है, क्योंकि प्रत्येक ऋतु दो माह की होती है। ये सभी छः जोड़े एक ही सूर्य पर आश्रित रहते हैं। इसी प्रकार अध्यात्म पक्ष में छः जोड़े (आंख, कान, नासिका, जिह्वा, हाथ, पैर) स्वयंभू जीव में समाहित रहते हैं अथवा ५ ज्ञानेन्द्रिय + मन भी माने जा सकते हैं, जो स्वयं जीव में समाहित हैं।

(१७) एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव ॥

अथर्ववेद १०/८/७

हजार (अनन्त) अरों का एक चक्र है। उसके आधे में विश्व है। बाकी आधा कहां है ?

उत्तर—अनन्त ग्रह-नक्षत्रों से युक्त कालमाया (हृद) का ब्रह्माण्ड रूपी यह चक्र अक्षर ब्रह्म के मन स्वरूप अव्याकृत का स्वाप्तिक स्वरूप है। इसका मूल अव्याकृत में है।

तू कहां देखे इन खेल में, ए तो पड़्यो सब प्रतिबिम्ब ।

प्रपंच पांचों तत्व मिल, सब खेलत सुरत के संग ॥

किरंतन ७/२

इस स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि का मूल “कारण और महाकारण प्रकृति” (महामाया) में निहित है, जबकि कारण, महाकारण (महाशून्य) का मूल अव्याकृत में स्थित है। अव्याकृत में सृष्टि रचना का मूल होने के कारण इस त्रिगुणात्मक जगत को आधे विश्व की संज्ञा दी गई है। शेष इसका आधा अव्याकृत में निहित है।

(१८) तिर्यग्बलश्चमस ऊर्ध्वबुधस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥

अथर्ववेद १०/८/९

एक तिरछे मुंह का लोटा है। उसके ऊपर पेंदा है। उसमें नाना रूप यश रखा है। उसके किनारे-किनारे सात ऋषि हैं। वे उसके रखवाले हैं। इस पहेली का रहस्य क्या है ?

उत्तर—यह सिर ही वह चमस या पात्र है, जिसका मुख तिरछे खुलता है और पेंदा अर्थात् कपाल ऊपर है। उसमें यशोरूप प्राण हैं। उस पात्र के किनारे-किनारे सात प्राण या इन्द्रिय रूपी सात ऋषि हैं। दो कान (गौतम, भारद्वाज), दो चक्षु (विश्वामित्र, यमदग्नि), दो नासिका (वशिष्ठ, कश्यप) और मुख (अत्रि ऋषि)। इस प्रकार ये सात ऋषि विराजते हैं। जो इसे गोपा (पहरेदार) के समान घेरे हुए हैं।

(१९) या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः ।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा स ऋचाम् ॥

अथर्ववेद १०/८/१०

एक ऋचा है, जिसमें उस अर्चनीय शक्ति का वर्णन है, जो आगे-पीछे सब ओर से जुड़ती है। वह यज्ञ को प्रारम्भ करती है। बताइये वह कौन सी है ?

उत्तर—इसका उत्तर गोपथ ब्राह्मण (१/१/२२) में दिया गया है। ऋग्वेद की एक ऋचा में उस अर्चनीय शक्ति (ब्रह्म) का वर्णन है। वह ऋचा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्ते इमे समासते ॥

ऋग्वेद १/१६४/३९, अथर्व ९/१०/१८, निरुक्त १३/९०

यज्ञ से पूर्व तथा यज्ञ के पश्चात् जिस ऋचा को बोला जाता है, उसका आशय इस प्रकार है—

जिस अमृत स्वरूप अविनाशी ब्रह्म में सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान समाहित है और जिसकी सत्ता में सूर्यादि सभी दिव्य पदार्थ स्थित हैं, उसी ब्रह्म को जो मनुष्य नहीं जानता है, वह मात्र वेद के बौद्धिक ज्ञान से क्या कर लेगा? जो लोग समाधि द्वारा उस ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं वे ही सर्वत्र शोभायमान होते हैं।

इसी प्रकार आहुति देते समय भी प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण से पूर्व तथा बाद में ब्रह्म पद वाच्य "ओऽम्" का उच्चारण किया जाता है। ऐसा कथन गोपथ ब्राह्मण (१/१/२२) में है।

सैषैकाक्षरा ऋग् ब्रह्मणस्तपसोऽग्रे प्रादुर्बभूव ब्रह्म वेदस्याथर्वणं शुक्रमत एव मन्त्राः प्रादुर्बभूवुः स तु खलु मन्त्राणामतपसाशुश्रूषाऽनध्यायाध्ययनेन यदूनं च विरिष्टं च यातयामं च करोति तदथर्वणां तेजसा प्रत्याप्याययेन् मन्त्राश्च मामभिमुखीभवेयुर्गर्भा इव मातरमभिजिघांसुः पुरस्तादोंकारं प्रयुङ्क्त एतयैव तदृचा प्रत्याप्याययेदेषैव यज्ञस्य पुरस्ताद्युज्यत एषा पश्चात् सर्वत एतया यज्ञस्तायते।

(२०) उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥

अथर्ववेद १०/८/२८

एक देव है, जो पिता भी है तथा पुत्र भी है। वह सबसे बड़ा है तथा सबसे छोटा भी है। बताइये वह कौन है ?

उत्तर—जीव।

(२१) अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥

अथर्ववेद १०/८/३१

परम सत्य से आवृत्त एक (अवि) सर्वरक्षक शक्ति है, जिसके रोचक रूप से सभी वृक्ष और लतायें हरी-भरी रहती हैं। इसका रहस्य क्या है ?

उत्तर—परब्रह्म की आनन्द शक्ति (आह्लादिनी शक्ति) का ही इसमें आलंकारिक रूप से वर्णन किया गया है, जिनकी अनन्त शोभा, प्रेम, और आनन्द से परमधाम का एक-एक कण ब्रह्मानन्द में निमग्न है।

(२२) गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा
अधि वि क्षरन्ति ॥

अथर्ववेद ९/१०/२१

वह ब्रह्मशक्ति किस प्रकार एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी तथा असंख्य रूपों में है ?

उत्तर—अखण्ड ब्रह्मधाम में अद्वैत स्वरूप होने से ब्रह्मशक्ति को एकपदी कहा गया है, किन्तु लीला रूप में युगल स्वरूप होने से वह द्विपदी, बेहद मण्डल में चारों पदों (अव्याकृत, सबलिक, केवल और सत् स्वरूप) के रूप में वह चतुष्पदी है। स्वाप्निक रूप में वह अष्टपदी (पंच तत्व + मन + बुद्धि + अहंकार) या अपरा, तथा नवपदी (अपरा + परा) कहलाती है। उसके द्वारा ही बेहद तथा हृद में अनन्त रूपों में लीला होती है, इसलिए उसे “सहस्राक्षरा” (अनन्त शक्तिरूपा) भी कहते हैं।

(२३) दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।

यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥

अथर्ववेद ११/८/३

सृष्टि के प्रारम्भिक काल में एकसाथ उत्पन्न हुए वे कौन से १० देव हैं, जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला ही उस महान ब्रह्म का उपदेश कर सकता है ?

उत्तर—ऐतरेयोपनिषद् में इस प्रसंग के संबंध में विस्तार से वर्णन है। संक्षेप में विराट् पुरुष (हिरण्यगर्भ) की दस इन्द्रियां ही वे दस देव हैं, जिनसे अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु, तथा जल इत्यादि देवों (ब्रह्माण्ड के आधारभूत तत्वों) की उत्पत्ति हुई।

(२४) तिस्रो दिवस्तिष्ठः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।

त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्धिः ॥

अथर्ववेद १९/२७/३

तीन प्रकार के द्युलोक या तेज, तीन प्रकार की पृथ्वी, तीन प्रकार के अन्तरिक्ष, चार प्रकार के समुद्र, तीन प्रकार के स्तोम, और तीन प्रकार के जल कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—तीन द्युलोक—द्युलोक (प्रकाशमयी लोक) में एक क्रान्ति वृत्त है, जिसमें सूर्य, पृथ्वी सहित चन्द्रमा तथा ग्रह गतिशील हैं। इस क्रान्तिवृत्त को २८ नक्षत्रों में बांटा गया है।

राशियों की दृष्टि से इस क्रान्तिवृत्त के १२ भाग किये जाते हैं। द्युलोक का एक भाग है क्रान्तिवृत्त। क्रान्तिवृत्त के उत्तर में द्युलोक का उत्तरी भाग है और दक्षिण में दक्षिणी भाग। इस प्रकार द्युलोक के ये तीन भेद हुए।

तीन पृथ्वी—भू-मध्य रेखा के २२.१/२ अंश उत्तर और २२.१/२ अंश दक्षिण में जो वृत्त फैला हुआ है, वह द्युलोक के क्रान्तिवृत्त का अनुरूपी है। उस अनुरूपी वृत्त के उत्तर में जो विभाग है, वह उत्तरी विभाग तथा दक्षिणी में स्थित विभाग दक्षिणी विभाग कहलाता है।

तीन अन्तरिक्ष—पृथ्वी और द्युलोक की तरह ही अन्तरिक्ष के भी तीन भेद होते हैं।

चार समुद्र—चार दिशाओं में ये पृथ्वी समुद्र से घिरी हुई है। इसलिए इसके चार भेद होते हैं—१. पूर्व समुद्र २. पश्चिम समुद्र ३. उत्तर समुद्र ४. दक्षिण समुद्र।

त्रिवृत्त स्तोम—संगीत के तीन अंश हैं। ऋचा, स्तोम और साम। संहिताओं में ऋचायें या मन्त्र दिए गए हैं। इन ऋचाओं की पुनरावृत्तियां गाने के लिए की जाती हैं, जिससे इनका गेय रूप बनता है। इसे स्तोम कहते हैं। जिस स्वर या राग में स्तोम गाया जाता है, उसे साम कहते हैं। स्तोम कई प्रकार के होते हैं। जैसे त्रिवृत्त स्तोम, पंचदश स्तोम, त्रयस्त्रिंश स्तोम, एकविंश स्तोम। इनमें से त्रिवृत्त स्तोम गायत्री छन्द वाले तीन मन्त्रों द्वारा निर्मित होता है।

तीन प्रकार के जल—जल भी तीन प्रकार के होते हैं—१. भूमि गर्भस्थ जल, जैसे कि चश्मों तथा कूपों का जल २. नदियों और समुद्रों का जल ३. अन्तरिक्षस्थ जल।

अध्यात्म में—हृद (कालमाया का ब्रह्माण्ड), बेहृद (योगमाया का ब्रह्माण्ड) तथा परमधाम में तीन प्रकार का तेज है। हृद का तेज जड़ अग्नि तत्व का है। बेहृद का तेज चेतन, अद्वैत, शुक्रमयी (नूरमयी) है, तथा परमधाम का तेज स्वलीला अद्वैत, चेतन, अनन्य प्रेममयी है।

इसी प्रकार तीनों ब्रह्माण्डों की पृथ्वी, अन्तरिक्ष और जल की भी स्थिति है। परमधाम की पृथ्वी, अन्तरिक्ष और जल भी नूरी (आदित्य वर्ण, शुक्र वर्ण), अनन्य प्रेममयी तथा चेतन ब्रह्ममयी है। योगमाया के ब्रह्माण्ड की पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा जल भी हृद के विपरीत चेतन तथा अद्वैतमयी है। इसके विपरीत कालमाया के ब्रह्माण्ड की पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा जल त्रिगुणात्मक जड़ हैं, एवं नश्वर हैं।

परमधाम में चिद्घन शक्ति के चार समुद्र—१. तेज का सागर २. निज स्वरूप (युगल स्वरूप) की शोभा का सागर ३. ज्ञान का सागर ४. कृपा का सागर माने जाते हैं। इसी प्रकार आनन्द शक्ति के भी चार सागर माने जाते हैं—१. आत्माओं की शोभा का सागर २. एकरूपता (एकत्व) का सागर ३. अनन्य प्रेम

का सागर ४. मूल सम्बन्ध का सागर । परमधाम की प्रत्येक वस्तु चैतन्य, नूरमयी, प्रेममयी और स्वलीला अद्वैतमयी है ।

इसे भी संक्षेप में चार सागरों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं ।

(२५) त्रीन्नाकांस्त्रीन्त् समुद्रांस्त्रीन् बध्नांस्त्रीन् वैष्टपान् ।
त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान् गोप्तृन् कल्पयामि ते ॥

अथर्ववेद १९/२७/४

तीन सुखमय लोक, तीन समुद्र, तीन महान पदार्थ, तीन विशेष तापों से छूटने का सुख, तीन वायु तथा तीन सूर्य कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—तीन सुखमय लोक—

१. बैकुण्ठ, निराकार
२. बेहद
३. परमधाम

तीन समुद्र—

१. हृद का मोह सागर
२. योगमाया का अद्वैत नूर (आदित्य या शुक्र स्वरूप) सागर
३. परमधाम का स्वलीला अद्वैत एकरूपता (एकत्व) का सागर

तीन महान पदार्थ (स्वरूप)—

१. आदिनारायण (क्षर पुरुष)
२. अक्षर ब्रह्म (अक्षर पुरुष)
३. अक्षरातीत (उत्तम पुरुष)

तीन विविध वैष्टप (दुखों से मुक्ति)—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक कष्टों से रहित होना ही त्रिविध वैष्टप है ।

तीन प्रकार की वायु—

१. प्रकृति या सूक्ष्म प्राण (कारण)
२. तन्मात्रिक प्राण (सूक्ष्म)
३. भौतिक प्राण (सामान्य)

तीन प्रकार के सूर्य—

१. महत्तत्त्व (कारण)

२. मन (सूक्ष्म)

३. भौतिक सूर्य (स्थूल)

अध्यात्म पक्ष में—

१. परमधाम का सूर्य—अक्षरातीत

२. योगमाया का सूर्य—अक्षर ब्रह्म

३. कालमाया का सूर्य—आदिनारायण या भौतिक सूर्य

४. शरीर का सूर्य (जीव)

५. समस्त ब्रह्माण्ड का सूर्य—अविनाशी ब्रह्म ।

इस समुल्लास में वेद मन्त्रों पर आधारित “प्रश्नोत्तरी” के साथ ही यह “सत्यांजलि” नामक ग्रंथ भी संपूर्ण हुआ ।

। इति पूर्णम् ।